प्रकाशिका

श्र. शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था

आचार्य श्री शांतिवीर नगर

श्रीमहावीरजी

मुद्रक

सेठ हीरालाल पाटनी

निवाई वाले

आवश्यक निवेदन

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।

अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।

संसारका एक नाम दुनिया है । यह द्विनया शब्दका अपभ्रंश है । इसका अर्थ होता है कि जितना लौकिक पारमार्थिक व्यवहार अथवा कथन है वह सब दो नय—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनो नयोंकी अपेक्षा से ही चलता है । एक नयका आश्रयकर जो चलता है वह अपना अभीष्ट सिद्ध नही कर सकता ।

सर्वज्ञकी वाणी भी यही कहती है कि--जितने पदार्थ हैं वे सब एक धर्म वाले नहीं हैं उनमें अनेक-बहुतसे अन्त-धर्म रहते हैं । उनका वर्णन भी अनेक प्रकार से हो सकता है परन्तु वचनमें एक साथ सब धर्मोंके वर्णन करनेकी शक्ति न होनेसे एक धर्मका ही वर्णन एक समय में हो सकता है । वचन से जिस एक धर्मका वर्णन किया जारहा है उसके सिवा अन्य और भी बहुत से धर्म इस पदार्थ में है इस अभिप्रायको प्रगट करनेके लिये 'स्याद्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । स्याद् शब्दके अनेक अर्थ संस्कृत भाषामें होते हैं परन्तु अन्य अर्थका ग्रहण न कर यहां 'किसी अपेक्षा से' अथवा 'वर्णनीय धर्मकी मुख्यतासे अन्य धर्मोंकी गौणता रखकर यह कहना है' यह अर्थ लिया जाता है । इसी अर्थको कहनेवाली पद्धतिका नाम स्याद्वाद वाणी है । जैनाचार्योंने इसी पद्धतिका आश्रय लेकर तत्त्व विवेचन किया है । 'सर्वथा' पदार्थ नित्य ही है अथवा सर्वथा अनित्य ही है अथवा अमुक गुण से ही सहित है ऐसा मानना तत्त्वदृष्टि से वाधित है । इसका कारण यह है कि—एक पदार्थ में अपना सद्भाव रहता है और दूसरे पदार्थका असद्भाव--अभाव रहता ही है इस तरह

भाव और अभाव परस्पर विरोधी होने पर भी दोनों गुण रहते ही हैं।

इस स्याद्वाद पद्धतिका आश्रय लेकर वर्णन करनेवाले बहुत कम लोग देखे जाते हैं। जो लोग अपने को जैन समझते हैं और तत्त्व चर्चामें प्रवीण समझे जाते हैं, वे भी इसके प्रयोग करने में धोखा खा जाते हैं। इसका कारण यह है कि—लोग स्याद्वाद का 'है भी, नहीं भी है' ऐसा गलत अर्थ प्रायः समझते हैं।

पदार्थ में कौन सा गुण किस अपेक्षा से रहता है इस अपेक्षा वादको जो समझते हैं वे तो सही अर्थ में स्याद्वाद का प्रयोगकर अभीष्टार्थ पालेते है और जो इसको नहीं समझ पाते, वे विपरीत अर्थका श्रद्धान कर लेते हैं।

आज कल अनेक विवाद जो दि० जैन समाजमें फैल रहे हैं उसमें यह अपेक्षा वादका अज्ञान भी कारण है।

पं० फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री बनारस ने जैन तत्त्वमीमांसा नामकी पुस्तक कानजी मतकी पुष्टिमें लिखी है उसमें इस स्याद्वादका खूब ही दुरुपयोग किया है। इतना ही नहीं, इसमें उपचार अभूतार्थ आदि शब्दोंका अर्थ भी अन्यथा लगाकर तत्त्वमीमांसाका उपहास किया गया है। विद्वान् ब्रह्मचारी चांदमल जी चूडीवालने युक्ति और आगमके बल से पंडितजीकी मीमांसाकी समीक्षा की है इसको पढने से लोगों के ज्ञान में समीचीनता आवेगी। सोनगढका प्रचार विभाग अति उद्योगी है। आधुनिक जितने साधन उपलब्ध हैं, उन सबका उपयोग कर लेने में सिद्धहस्त है। यही कारण है कि—इन लोगोंके मतका प्रचार दिन पर दिन बढ रहा है दि० जैन समाजमें समीचीन दर्शन ज्ञान चारित्र की दिन पर दिन वृद्धि होती रहे और भ्रान्त धारणाओंका निरसन होता रहे इसलिये यह पुस्तिका प्रकाशित की गई है। इसमें कानजी मतकी आगम विरुद्ध सभी मान्यताओंका विवेचन विस्ता-

रसे किया गया है। इसके पढनेसे तत्त्वज्ञान यथार्थ रीतिसे होगा और पं० फूलचंदजी ने मीमांसा नाम रख कर भी जो वकील की तरह इक तरफा पार्ट अदा किया है उसका भी रहस्य समझ में आजायगा।

किसी भी विवाद ग्रस्त विषय का निर्णय करते समय न्यायाधीशके समान दोनों पक्षकी समस्त युक्तियोंका निष्पक्ष हो कर मनन करना चाहिये और फिर आगमके आलोकमें उसका निश्चय करना चाहिये। यही एक ऐसी निर्दोष पद्धति है जिससे यथार्थ श्रद्धान ज्ञान होकर आत्मामें विशुद्धि निष्कषायता आती है। जो लोग किसी कषायकी पुष्टि करने के लिये जैन तत्त्वोंका अन्यथा प्ररूपण करते हैं, वे अपनी चतुराई से भले ही उसके प्रचारमें सफल हो जांय और लोगों में सम्मान भी पा लें परन्तु अशुभ कर्मबंधके बंधन से वे नहीं बच सकते, परिपाक समय आने पर उसका अशुभ फल–दुख उन्हें भोगना ही पड़ेगा।

भाई कानजी ने और उनके भक्तोंने, जिन जिन ऋषि प्रणीत शास्त्रों से उनके मतका पोषण नहीं होता परन्तु वे शास्त्र दिगम्बर जैन संप्रदायमें सर्वोपरि मान्य हैं तो उन सबका हिंदी गुजराती अर्थ बदल दिया है और अपने मतकी पुष्टि करनेवाला स्वकल्पित व्याख्यान लिख दिया है। इतना ही नहीं, उसको छपाकर अल्पमूल्य अथवा विनामूल्यसे वितरण कर समस्त दिगम्बर जैन शास्त्र भंडारों में पहुँचा भी दिया है। इस तरह इन्होंने वर्तमान की तरह भविष्य में भी दि० जैन स्त्री पुरुषों के यथार्थ श्रद्धान में परिवर्तन कर देने का असत् प्रयास किया है।

पुरातन ऋषि प्रणीत ग्रंथ प्राकृत संस्कृत भाषाओं में हैं इस लिये संस्कृत प्राकृत भाषाओंके ज्ञाता निर्लोभी आत्म कल्याणेच्छु विद्वान् तो भ्रममें न पडेगें परन्तु वे हैं ही कितने? आज कल तो लोभी लालची रुपयोंके पीछे अपनी विद्वत्ताका दूसरों के अभि-

प्राय प्रचारमें खर्च कर देने वाले ही अधिक दीखते हैं। वकील लोग जैसे मेहनताना लेकर अपने मुवक्किल का पक्ष सत् असत् युक्तियोंसे पुष्ट कर दिखाते हैं वैसे ही ये लोग लिखाईका रुपया वसूलकर द्रव्य दाताके पक्ष की पुष्टि कर दिखाते हैं। परन्तु ये लोग वकील और अपने बीचके इस अंतरको भूल जाते हैं कि वकील तो एक आदमी का अहित करता है और न्यायाधीश उसके अहित को बचा भी सक्ता है। परन्तु शास्त्रोंका विपरीत अर्थ अनन्त जीवोंका अहित करता हैं। जैसा भविष्य दीख रहा है उससे संस्कृत प्राकृतज्ञ विद्वानों का सर्वथा अभाव ही होता जायगा एसा जान पड़ता है। आजकलके पंडित लोग भी जब हिंदी भाषाके ग्रंथों का ही पठन पाठन करते नजर आते हैं तब आगे तो और भी यह भाषा का स्वाध्याय जोर पकडेगा।

अतः प्रत्येक स्वपर हितैषी दि० जैनका कर्तव्य है कि-वह सावधान होकर भंडारों में शास्त्र संग्रह करे। स्वयं भी शास्त्र पढ़ते समय देखले कि—इसका अनुवाद किसने किया है और किस जगह से प्रकाशित हुआ है। आजकल जैसे खाद्य आदि पदार्थों में मिलावट अधिक होने लगी है और उस मिलावटी मालकी विक्री करने में जो जितना चतुर होता है वह उतना ही अपना स्वार्थ सिद्ध करलेता है। इसी तरह दिगम्बर जैन समाजमें भी श्वेताम्बर जैनों की शाखाएं स्थानकवासी ढूंढिया आदि के मानने वाले लोग मिलावटी शास्त्र चलाने लगे हैं। जिस पुरुष का मन प्रसिद्धि पानेका हुआ, जिसके मनमें जो बात ठीक जंच गई वही शास्त्र का नाम रखकर मनमोहक आकार में छपाकर इस भोली दिगम्बर जैन समाज में अपने मिलावटी शास्त्र का व्यापार शुरू कर देता है। दि० जैन लोग समझते हैं कि—हमारी समाज में अमुक व्यक्ति सामिल हो गया तो हमारी संख्या बढ़ गई परन्तु यह नहीं विचारते कि-यह हममें मिला है तो

हमारा अहित करने और अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये तो नहीं मिला है। यह हमारे समाज में मिल रहा है अथवा हमें अपने समाज में मिला रहा है। इस बातका विचार करना तो दूर रहा इसके विपरीत यह देखा जाता है कि इनका आदर सत्कार भी खूब किया जाता है। शास्त्रजी की गद्दी पर इनको बैठाकर इनके मुख से उपदेश सुना जाता है और इनके रचे हुए ग्रन्थों को छपाने में द्रव्य की सहायता भी दी जाती है।

इस तरह दिगम्बर जैन आम्नाय के शास्त्रों और उनके अनुयायियों के लिये यह समय बड़ा नाजुक है। समय रहते हम न चेते तो असली दिगम्बर जैन धर्म का क्या स्वरूप है यह सर्व साधारण न जान सकेंगे और तब सर्वज्ञ वीतरागोपदिष्ट वाणी से जो जगत् का हित साधन होना चाहिये, वह न हो सकेगा।

धन्यवाद

सम्यग्ज्ञान का संसार में प्रचार हो, लोग मिथ्यात्व के फेर में पड़कर अपना अहित न कर बैठें इसलिये नीचे लिखे महानुभावों ने इस "जैन तत्त्व मीमांसा की समीक्षा" नामक पुस्तक के प्रकाशन में सहायता दी है एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। अन्य लोगों को भी आपका अनुकरण कर इस सनातन दिगम्बर जैन धर्म के तत्त्वों के प्रचार में सहायक बनना चाहिये।

१०००) सेठ पारसमलजी, कासलीवाल, वालूंदावाले, कलकत्ता
२५१) ब्रह्मचारी पन्नालाल उमाभाई अहमदाबाद
१००) सेठ भंवरीलालजी बाकलीवाल, मनीपुर (आसाम)
१००) सेठ गोविंदलालजी अग्रवाल, फरमेसगंज (बिहार)
५१) गुप्त दान

आश्विन सुदी १०
श्रीवीर सं० २४८८
अक्टूबर १९६२

ब्र० श्रीलालजैन काव्यतीर्थ
महामंत्री—संस्था

श्रेयोमार्ग के ग्राहक बनिये ।

आचार्य श्री शांतिसागर जी की स्मृति में स्थापित श्री शांतिसागर जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था द्वारा यह पत्र निकलता है। इसके आदि प्रवर्तक स्व० स्याद्वाद बारिधि पं० खूबचन्दजी शास्त्री हैं। सम्पादक ब्र० श्रीलाल जी जैन काव्यतीर्थ और ब्र० सूरजमलजी शास्त्री हैं। प्रकाशक सेठ हीरालाल जी पाटनी हैं।

धार्मिक लेखों से भरपूर, शास्त्र स्वरूप यह पत्र आचार्य श्री शांतिवीर नगर पो० श्रीमहावीरजी से मुद्रित है यह पत्र कोई समाचार पत्र नहीं है। वार्षिक मूल्य ६) छह रुपया है। तथा जो साल भर के ग्राहक बनते हैं उन्हें अनेक ग्रन्थ भी उपहार में मिलते हैं। तारीफ करना व्यर्थ है। आप भी इसके ग्राहक बनके देखिये और पढकर स्व-पर कल्याण कीजिये।

यह पत्र धर्म प्रचारार्थ मन्दिर-अजैन, लाइब्रेरी पुस्तकालय शास्त्र भण्डार, आदिको अर्द्ध मूल्य यानी ३) तीन रुपया वार्षिक में भेजा जाता है इसमें उपहार ग्रंथ नहीं मिलते हैं।

निवेदक

सुरेन्द्र कुमार जैन

श्रेयोमार्ग-कार्यालय

आचार्य श्री शांति वीर नगर

श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

॥ श्रीमदनेकान्ताय नमः ॥

जैनतत्त्वमीमांसा की समीक्षा

—❀)—(❀—

मंगलाचरण

अर्हत्सिद्धाचार्यान्
सदुपाध्याय-सर्वसाधूंश्च ।
वंदित्वा संवोच्ये
फूलचन्द्रस्य जैनतत्त्वमीमांसां ॥

श्रीयुत प० फूलचन्द्र जी ने निश्चय एकान्त का समर्थन करते हुवे एक "जैनतत्त्वमीमांसा" नामकी पुस्तक प्रकाशित की है। उसकी समीक्षा यहां उचित जानकर की जाती है। इस में नीचे लिखे १२ अधिकार हैं।

(१) विषय प्रवेश (२) वस्तुस्वभाव मीमांसा (३) निमित्तकी स्वीकृति (४) उपादान निमित्त मीमांसा (५) कर्तृ कर्ममीमांसा (६) षटकारकमीमांसा (७) क्रम नियमित पर्याय मीमांसा (८) सम्यक् नियति स्वरूप मीमासा (९) निश्चय व्यवहार मीमांसा (१०) अनेकान्त स्याद्वाद मीमासा (११) केवल ज्ञान स्वभाव मीमांसा (१२) उपादान निमित्त सम्वाद।

इन बारह अधिकारों में सर्वत्र कानजी स्वामी के निश्चय एकान्तका समर्थन किया गया है।

परन्तु वस्तु स्वरूपका ज्ञान केवल निश्चय नयसे ही नहीं होता। व्यवहार नय का भी शरण लेना पड़ता है। इसका कारण यह है कि व्यवहार नय वस्तु के विचार करने में विवादग्रस्त विषयों को सुलझाने में वस्तु स्वरूप में संदेह होने पर उनका समाधान करने में समर्थ है।

व्यवहार नय सापेक्ष निश्चय नय का आलम्बन हितकर है। इस बात की पुष्टि पंचाध्यायी ग्रन्थ से हो जाती है।

"नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयालम्बितज्ञानम्॥"

अर्थात् बिना व्यवहार नयका अवलम्बन किये केवल निश्चय नयसे ज्ञानमें प्रमाणता ही नहीं आ सकती है क्यों कि पदार्थ अनेक धर्मात्मक है और एक नय एक ही धर्म का वर्णन कर सकती है।

नय प्रमाण का अंश है। वह दो भागों में बटा हुआ है। एक द्रव्यार्थिक नय जिसको निश्चय नय कहते है। दूसरा पर्यायार्थिक नय, जिसको व्यवहार नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्याश्रित है और पर्यायार्थिक नयका विषय द्रव्यकी पर्याय है।

इसलिये एक को छोड़कर एक नय निरपेक्ष नहीं रह सकती। कारण यह है कि द्रव्य है वह गुण और पर्यायवान् है इसलिये द्रव्य से गुण भी अलग नहीं रह सकते और गुणों का परिणमन रूप पर्याय भी गुणों से अलग नहीं हो सकती क्यों कि वह उसका परिणामन है। "गुणपर्ययवत् द्रव्यम्" तत्त्वार्थ सूत्रमें द्रव्यका लक्षण ऐसा ही किया है अर्थात् "च अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यया: उभयैरुपेतं द्रव्यमिति"।

"उक्तं च–गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारोहि पज्जवो भणिदो तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे दव्वं॥"

इस कथन से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही नय सापेक्षही प्रमाण-भूत हैं सत्यार्थ है निरपेक्ष दोनों ही नय मिथ्या है। यही बात न्यायदीपिका में कही है।

"अनेकान्तोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत्॥"

अर्थात् प्रमाण नयों से सिद्ध होने वाला अनेकान्त भी अनेकान्त है तथा नय है वह प्रमाण का अंश है इसलिये प्रमाण स्वरूप वस्तु स्वरूप की सिद्धि सापेक्ष दोनों नयों से ही होती है। यदि निश्चय और व्यवहार यह दोनों नय निरपेक्ष रखकर केवल एक नय द्वारा ही वस्तु स्वरूप की सिद्धि कोई करना चाहे तो उसके द्वारा वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि निरपेक्ष नय मिथ्या है उनसे वस्तु स्वरूप नहीं बनता इसका कारण यह है कि वह विवक्षित वस्तु के एक देश का ही ग्रहण करता है सर्वांश का नहीं। और वस्तु स्वरूप आंशिक रूप नहीं है सर्वांश रूप है वह निरपेक्ष नय द्वारा सिद्ध होता नहीं। इस कारण निरपेक्ष नय मिथ्या है। चाहे वह निश्चय नय हो अथवा व्यवहार नय हो अतः वस्तु स्वरूप की सिद्धि निश्चय व्यवहार सापेक्ष नय द्वारा ही

होती है। एक नय की अपेक्षा एक नय रखकर जो कथन किया जाता है उनसे वस्तु स्वरूप का शुद्धाशुद्ध रूप सर्वांश ग्रहण हो जायगा वह प्रमाण स्वरूप है अतः जीवकी शुद्धाशुद्ध रूप अवस्था दोनों नय द्वारा सिद्ध है। संसार अवस्था में जीवकी अशुद्ध अवस्था है और मुक्त जीव की शुद्ध अवस्था है। यह शुद्धाशुद्ध रूप जीव की दोनों ही पर्याय हैं वह यथार्थ है इस यथार्थता का प्रतिपादन सापेक्ष दोनों नयों द्वारा होता है। इसलिये दोनों ही नय सापेक्ष सत्यार्थ हैं सापेक्ष नय ही वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन करने में समर्थ होती है, निरपेक्ष नय नहीं होती। इस लिये आचार्य कहते हैं कि—वस्तु स्वरूप प्रतिपादन करने में एक नय को मुख्य और दूसरी नय को गौण रखकर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करोगे तो वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन हो सकेगा—

"अर्पितानर्पितसिद्धेः"

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५

अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद् यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम् प्रयोजनाभावात् सतोऽप्य विवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः। तौ च सामन्यविशेषौ कथंचित् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः॥ सर्वार्थसिद्धिः।

अर्थात् सर्व वस्तु अनन्त धर्मात्मक भेदाभेद रूप है इसलिये उसके प्रतिपादन करने मे दोनों नयों का आश्रय प्रयोजनीभूत है। अतः जहां पर अभेदरूप वस्तु का निर्विकल्प विचार किया

जायगा वहां पर निश्चय नय का आलम्बन होगा और जहां पर भेद रूप सविकल्प वस्तु का विचार किया जायगा वहां पर व्यवहार नय का आलम्बन लेना पडेगा अतः श्रेणी चढ़ने के प्रथम सातवें गुणस्थान तक मुख्यतया व्यवहार नय का ही आलम्बन है क्योंकि वहां तक निर्विकल्पध्यान नहीं होता इसलिये वहां तक व्यवहार का ही शरण लेना पडता है। जैसा कि समयसार नाटक में कहा है। देखो जीवाधिकार—

"ज्यों नर कोउ गिरे गिरसों तिहिं होइ हितू जो गहै दृढ़बांही
त्यों बुधको विवहार भलो जबलों तबलों शिवप्रापति नांहीं
यद्यपि शो परमाण तथापि सधे परमारथ चेतनमांही।
जीव अव्यापक है परसों विवहार सों तो परकी परछांई" ॥

इस कथन से जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होती तब तक विद्वानों को व्यवहार का साधन करना चाहिये यह बात प्रमाण भूत है। जैसे कोई मनुष्य पहाड से गिरता हुआ वह यदि अपनी भुजा के द्वारा किसी पदार्थ को पकड कर रहें तो वह गिरने से बच सकता है। तैसे ही यह जीव नर्क निगोदादि में पतन करता हुआ यदि वह व्यवहार धर्म का आश्रय ले तो वह नर्क निगोदादि के पतन से बच सकता है। इसलिये जब तक मोक्ष (पर के संयोग से सर्वथा मुक्त निश्चय नय का विषय भूत शुद्ध स्वरूप वाला) न हो तब तक व्यहार धर्म के आश्रय रहना योग्य है तब ही आत्मा में परमार्थ की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। संसार में कोई प्राणी दुखी रहना नहीं चाहता—सब सुखी रहना चाहते हैं। और सुख का साधन है व्यवहार धर्म।

"धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निरवाण।
धर्म पंथ साधे विना यह नर तिर्यंचसमान ॥"

अर्थात् व्यवहार धर्म से संसार के सुख मिलते हैं। और उसी व्यवहार धर्मके निमित्त से ही अनन्त सुखमय मोक्ष प्राप्त करने की इस संसारी जीव में योग्यता प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तम देश काल का पाना, उत्तम कुल का पाना, उत्तम शरीर का पाना, उत्तम धर्म का पाना, उत्तम सत्संगति का पाना उत्तम व्रतों का धारण होना इत्यादि ये सब योग्यता इस जीव को व्यवहार धर्म के आश्रय से ही प्राप्त होती है और योग्यता प्राप्त हुए बिना जीव को मोक्ष की भी प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं असंभव ही है। इसलिये जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक व्यवहार को छोडकर अधर्म का सेवन कर संसार में दुःखी रहना महान मूर्खता है। जैसाकि ग्रीष्म ऋतु की धूप में छाया में न बैठकर धूप में बैठने के समान है इसलिये जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक व्यवहार ही शरण है ऐसा उक्त छन्द का अभिप्राय है। अतः जो व्यवहार को छोडने से परमार्थ की सिद्धि होना मानते हैं, वे विषमें अमृतकी कल्पना करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जे जीव श्रद्धा के तथा ज्ञान चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंच पाये हैं साधक अवस्था में अवस्थित हैं उनके लिये व्यवहार का ही उपदेश देना योग्य है।

"सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
व्यवहार देसिदो पुण जेदु अपरमे ठिदा भावे" ।१२ समयप्रा

अर्थात् परमभावदर्शी जे शुद्ध नय तांई पहुंचि श्रद्धावान भये तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान भये तिनिकरि तो शुद्ध का है आदेश कहिये आज्ञा उपदेश जामें ऐसा शुद्ध नय जानने योग्य है। बहुरि जे पुरुष अपर भाव कहिये श्रद्धा के तथा ज्ञान चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंचे हैं—साधक अवस्था में तिष्ठे हैं। तिनिके

व्यवहार का देशपणा है अथवा ते व्यवहारकरि उपदेशने योग्य हैं।

टीका—यहां दृष्टान्त द्वारकरि कहे हैं। जे पुरुष अन्त के पाक करि उतर्या जो शुद्ध सुवरण तिहस्थानीय जो वस्तु का उत्कृष्ट असाधारण भाव तिनिकूं अनुभवै हैं, तिनिके प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाक की परंपरा करि पच्यमान जो अशुद्ध सुवर्ण तिस स्थानिय जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव तिसके अनुभव करि शुद्धपणातें शुद्ध द्रव्य का आदेशीपणा करि प्रगट किया है अचलित अखंड एक स्वभाव रूप एक भाव जाने ऐसा शुद्ध नय है। सोही उपरि ही उपरि का एक प्रतिवर्णिका स्थानीयपणातें जान्यां हुआ प्रयोजनवान है। बहुरि जे केई पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाक की परंपरा करि पच्यमान करि जो वही सुवर्ण तिसस्थानीय जो वस्तु का अनुत्कृष्ट मध्यम भाव ताकूं अनुभवै है, तिनिके अन्त के पाक करि ही उतर्या जो शुद्ध सुवर्ण तिस स्थानीय वस्तु का उत्कृष्ट भाव ताका अनुभव करि शून्य पणातें अशुद्ध द्रव्य का आदेशीपणाकरि दिखाया है न्यारा न्यारा एक भाव स्वरूप अनेक भाव जाने ऐसा व्यवहार नय है। सोही विचित्र अनेक जे वर्णमाला तिस स्थानीयपणातें जान्या हुआ तिस काल प्रयोजनवान् है। जाते तीर्थ अर तीर्थ का फल इनि दोऊनिका ऐसा ही व्यवस्थित पना है। तीर्थ जा करि तरिए ऐसा तो व्यवहार धर्म अर जो पार होना सो व्यवहार धर्म का फल, अपना स्वरूप का पावना सो तीर्थ फल है। इहां उक्तं च गाथा—

जो जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहार णिच्छये मुहय।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण उण तच्चं।

अर्थ—आचार्य कहे हैं—जो हे पुरुष हो तुम जो जिनमतकूं प्रवर्तावोहो तो व्यवहार अर निश्चय इनि दोऊ नयनिकूं मति भूलो (छोडो) जातें एक जो व्यवहार नय ताकं विना तो तीर्थ कहिये व्यवहार मार्ग ताका नाश होयगा। बहुरि अन्य नय कहिये निश्चय नय विना तत्त्व का नाश होयगा।

इससे अधिक व्यवहार नय की और व्यवहार धर्म की क्या पुष्टि होगी। आचार्य कहते हैं कि व्यवहार धर्म तो तीर्थ स्वरूप है जां करि तिरिये सो तीर्थ, तीर्थ का फल संसार से पार होना यह दोनूं ही कार्य व्यवहार धर्म से सिद्ध होते हैं अतः इस व्यवहार धर्म का नाश करके जो परमार्थ की सिद्धि चाहते हैं वे तीर्थ और तीर्थ के फलका नाश करने वाले हैं अतः तीर्थका (व्यवहार धर्मका) लोप करने वाला तीर्थ का फल जो तिरना पार होना उसको वह तीन काल में भी नहीं पा सकता है क्योंकि तीर्थ के विना तिरना नहीं होता है और तिरे विना पार होना कैसा? इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो संसार समुद्र से तिरना चाहते हो तो पोत के समान जो व्यवहार धर्म उसको मत छोडो। उक्तं च गाथाकार कहते हैं कि व्यवहार नय तो व्यवहार मोक्ष मार्ग है वह तीर्थ स्वरूप है और निश्चय नय है वह तत्त्व स्वरूप है इसलिये दोनूं नय को जैनी हो तो मति छोडो क्योंकि व्यवहार नय को छोडने से धर्म तीर्थ का नाश होयगा और निश्चय नय को छोडने से तत्त्व स्वरूप (वस्तु स्वरूप) का नाश होयगा इसी बात का स्पष्टी करण करते हुए टीकाकार कलश रूप काव्य कहते हैं:—

"उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके।
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै—
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥"

अर्थ—निश्चय व्यवहार रूप जे दोय नय तिनिके विषय के भेदतें परस्पर विरोध है, तिस विरोध दूर करनहारा स्यात्पद करि चिह्नित जो जिनभगवान का वचन तिस विषे जो पुरुष रमें हैं प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करें हैं ते स्वयं कहिये स्वयमेव आपे आप वम्या है मोह कहिये मिथ्यात्व कर्म का उदय जिनने ते पुरुष इस समयसार जो शुद्ध आत्मा अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान ताहि शीघ्र पावे हैं अवलोकन करे हैं। कैसा है समयसार? अनव कहिये नवीन उपज्या नाहीं कर्मतें आच्छादित था सो प्रगट व्यक्त रूप भया है। बहुरि कैसा है? अनय कहिये जो सर्वथा एकान्त रूप कुनय ता की अपेक्षा करि अक्षुण्ण कहिये खंड्या न जाय है निर्बाध है। भावार्थ—जिन वचन स्याद्वाद रूप है जहां दोय नय के विषय का विरोध है, जैसे सद्रूप है असद्रूप न होय, एक होय सो अनेक न होय, नित्य होय सो अनित्य न होय, भेद रूप होय सो अभेद रूप न होय, शुद्ध होय सो अशुद्ध न होय इत्यादिक नयनिके विषयनिविषें विरोध है। तहां जिन वचन कथंचित् विवक्षातें सत् असत् एक अनेक नित्य अनित्य भेद-अभेद शुद्ध-अशुद्ध जैसे विद्यमान वस्तु हैं तैसे कहि करि विरोध मैटे है। झूठी कल्पना नाहीं करे हैं तातें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोय नय में प्रयोजनके वशतें शुद्ध द्रव्यार्थिक मुख्य करि निश्चय नय कहे हैं। अर अशुद्ध द्रव्यार्थिक रूर पर्यायार्थिक कूं गौण करि व्यवहार कहे हैं। ऐसे जिनवचन विषें जे पुरुष रमें हैं ते इस शुद्ध आत्मा कूं यथार्थ पावें हैं। अन्य सर्वथा एकान्ती सांख्यादिक नाहीं पावें हैं। जातें सर्वथा एकान्त पक्षका वस्तु विषय नाहीं। एक धर्म मात्र कूं ग्रहण करि वस्तु की असत्य कल्पना करे हैं। सो असत्यार्थ ही है बाधा सहित मिथ्यादृष्टि हैं ऐसे जानना।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्याद्वाद के द्वारा ही वस्तु स्वरूप की सिद्धि होती है। एकान्त वाद से नहीं अतः जो एकान्तवादी है वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि एकान्त वाद से वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं होती और वस्तु स्वरूप समझे विना मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती अतः मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति का नहीं होना यही तो मिथ्यादृष्टिपना है। जो व्यक्ति व्यवहार धर्म का लोपकर परमार्थ की सिद्धि चाहता है वह मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति कैसे करसकता है? अर्थात् नहीं कर सकता इसका भी कारण यह है कि मोक्ष मार्ग में प्रवृत्तिका करना वह व्यवहार है और वह व्यवहार का लोप करना चाहता है इसलिये व्यवहार लोपक की प्रवृत्ति मोक्षमार्ग में नहीं हो सकती है।

ऊपर के कथन के दृष्टान्त द्वारा यह भी अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि—जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तब तक व्यवहार नय और व्यवहार धर्म दोनू ही पुरुष को मोक्ष प्राप्ति में हस्तावलम्बन की तुल्य है। अतः उस तीर्थ का लोप करने से परमार्थ का ही लोप होकर तीर्थ से प्राप्त होने वाला शुद्ध स्वरूप परमतत्त्व उसका भी नाश होगा। ऐसा आचार्यों का कहना है। किन्तु पण्डित फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री का इसके विपरीत यह कहना है कि व्यवहार का लोप करने से परमार्थ की सिद्धि होगी देखिये आपकी लिखी 'जैन तत्त्वमीमांसा' पृष्ठ १८।

"बहुत से मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहार का लोप हो जायगा ऐसे कल्पित सम्बन्धों को परमार्थभूत मानने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यही उनकी सबसे बड़ी भूल है। क्योंकि इस भूल के सुधरने से यदि उनके व्यवहार का लोप होकर परमार्थ की प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है ऐसे [illegible] का लोप भला

किसे इष्ट नहीं होगा ? इस संसारी जीव को स्वयं निश्चय स्वरूप बनने के लिये आपने में अनादि काल से चले आरहे इस अज्ञान मूलक व्यवहार का ही तो लोप करना है इसे और करना ही क्या है वास्तव में देखा जाय तो यही उसका परम पुरुषार्थ है इसलिये व्यवहार का लोप हो जायगा इस भ्रान्ति वश परमार्थ से दूर रह कर व्यवहार को ही परमार्थ रूप मानने की चेष्टा करना उचित नहीं है।"

इस वक्तव्य में पंडितजीने व्यवहार को कल्पित ठहराया है इसलिये इस कल्पित व्यवहार का लोप करने के लिये परम (उत्कृष्ट) पुरुषार्थ करने की प्रेरणा की है। तथा व्यवहार को अज्ञान मूलक कह कर उसका लोप करने से परमार्थ की सिद्धि होगी इसलिये व्यवहार का लोप करना सबके लिये इष्ट है ऐसा उनका कहना है। अब इस पर आगम और युक्तियों द्वारा विचार करना है कि पंडितजी का यह कहना आगम और युक्ति संगत है या असंगत है।

जब वस्तु भेदाभेद रूप है तब वस्तु में भेद रूप व्यवहार करना कल्पित संबंध कैसा ? और उसका लोप करने से परमार्थ की सिद्धि कैसी क्योंकि परमार्थ वस्तु में व्यवहार द्वारा भेद उसके गुणों में ही तो किया जाता है न कि उनके साथ झूठा स्वरूप सम्बन्ध जोडा जाता है ? कदापि नहीं। गुण गुणी में ही व्यवहार द्वारा भेद किया जाता है इसलिये वह भेद कल्पित-झूठा नहीं है सत्यार्थ है इसलिये गुणी के गुणों को कल्पित ठहराकर उसका लोप करने से परमार्थ स्वरूप गुणी का ही लोप हो जायगा, फिर व्यवहार के लोप से परमार्थ की सिद्धि कैसी ? क्योंकि गुणों के अभाव में गुणी का अभाव अवश्य ही होगा क्योंकि कथंचित् निश्चय से गुण [illegible] भेद स्वरूप भी है और कथंचित् वह

व्यवहार से भेद रूप भी है अतः वस्तु भेदाभेद रूप होने से एक भेद के नाश में दूसरे भेद का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता। इसलिये व्यवहार के लोप में परार्थ की सिद्धि चाहना स्वप्न मात्र है असत्य है सातवें गुण स्थान तक व्यवहार का लोप नहीं होता जहां तक सविकल्प अवस्था है जहां तक सविकल्प अवस्था है तहां तक व्यवहार है ही। जहां पर—

"निजमांहि निजके हेत निजकरि आप को आपोगह्यो।
गुणगुणी ज्ञाताज्ञान ज्ञेयमभार कुछ भेद न रह्यो"॥

ऐसी अवस्था हो जाती है तहां पर निर्विकल्पध्यान है इसके पहिले सविकल्पध्यान है सो भी व्यवहार है इसलिये इसके पहिले व्यवहार ही शरण है। देखो पंचाध्यायी—

"तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसंगत्वात्।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम्" ६३६

अर्थात् प्रसंगवश किन्ही किन्ही को (श्रेणी के पूर्व वालों को) व्यवहार नय भी आश्रयणीय (आश्रय करने योग्य) है। वह सविकल्प बोधवालों के लिये ही आश्रय करना योग्य है। वह सविकल्पक बोध-वालों के समान निर्विकल्पक बोध वालों के लिये वह व्यहार नय हितकारी नहीं है। अतः सविकल्पक बोध पूर्वक जो निर्विकल्पक बोध पा चुके हैं फिर उन्हें व्यवहार नय की शरण नहीं लेनी पड़ती है निश्चय नय की प्राप्ति के लिये ही व्यवहार नय का आश्रय लेना परमावश्यक है। तथा जहां शुद्धात्मानुभूति प्रगट हो जाती है वहां पर निश्चय नय का भी आलम्बन छूट जाता है। जब तक नयों की पक्षपातता है तब तक शुद्धात्मा की अनुभूति प्राप्त नहीं होती। जो समयसार

रूप परमार्थ है। इस लिये निश्चय नय को परमार्थ भूत मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि उस समयसारभूत परमार्थ का बोध होना वह ज्ञानगम्य है, किसी नय का विषय नहीं है। नय तो द्रव्य श्रुत का अंश है इसलिये परोक्ष भी है, कथंचित् जड़ रूप भी है और सविकल्प भी है।

"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति"

इस कथन से निश्चय नय भी सविकल्प है और परार्थ है इसलिये वह भी सविकल्पक होने से व्यवहार नय की तरह अपरमार्थभूत ही है इसकारण आचार्योंने इसको भी मिथ्या कहा है।

"उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो" ॥

अर्थात् दोय प्रकार के नय कहे गये है उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करता है। वह नयपक्ष से रहित है।

"जे न करे नय पक्षविवाद धरे न विषाद अलीक न भाखें
जे उदवेग तजे घट अन्तर सीतलभाव निरन्तर राखें।
जे न गुणीगुणभेदविचारत आकुलता मनकी सब नाखें।
ते जगमें धरि आतमध्यान अखंडित ज्ञान सुधारस चाखें"

कर्ता कर्म क्रिया द्वार

"इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च।
सर्वोपि नयो यावान्परसमयः स च नयावलंबी" ६४७ ॥

पंचाध्यायी

निश्चयावलम्बी को भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है क्योंकि निश्चय नय भी सविकल्पक है और जितना सविकल्प ज्ञान है वह सब ज्ञान अभूतार्थ है। मिथ्या है। इस कथन से निश्चय नय भी अभूतार्थ सिद्ध हो चुकी उसके द्वारा भी परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये निश्चय नय को परमार्थ भूत मानना यह भी मिथ्या है। आचार्यों ने प्रमाण को सकलादेश माना है, उसके भी स्वार्थ और परार्थ रूप दो भेद हो जाते हैं स्वार्थ प्रमाण ज्ञानात्मक है और परार्थ प्रमाण वचनात्मक द्रव्य श्रुत रूप है॥

अतः प्रमाण सकलादेशी होने पर भी द्रव्य श्रुत प्रमाण वचनात्मक है इसलिये वह परार्थ है। अतः परार्थ प्रमाण वस्तु को सकलादेश किस प्रकार ग्रहण कर सकेगा क्योंकि वस्तु स्वरूप वचनातीत है और परार्थ प्रमाण वचनात्मक है इसलिये वचन द्वारा वस्तु का सकलादेश ग्रहण हो नहीं सकता वह तो अनुभव गम्य है, इसलिये परार्थ प्रमाण भी निश्चय नय की तरह अपरमार्थ भूत ही ठहरता है।

"द्रव्यार्थिक नय परियायार्थिक नय,
दोऊ श्रुतज्ञान रूप श्रुतज्ञान तो परोक्ष है॥
शुद्ध परमात्माका अनुभौ प्रगट,
तातैं अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥
अनुभौ प्रमाण भगवान पुरुष,
पुराण ज्ञान और विज्ञानघन महासुख पोख है।
परम पवित्र यों अनन्त नाम अनुभौके।
अनुभौ विना न कहूं और [illegible] है"॥

परमार्थभूत तो एक निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही है इसके अतिरिक्त सब अभूतार्थ ही है। ऐसा मानना पड़ेगा परन्तु आचार्यों ने श्रुत प्रमाण को भी श्रुत केवली कहा है और निश्चय नय को भी भूतार्थ कहा है, तथा व्यवहार नय भी परमार्थ मार्ग सम्यग्ज्ञान रूपी है उसको भिन्न २ कर दिखाने वाला है सो भी सत्यार्थ है परमार्थ भूत है क्योंकि वस्तु का ज्ञान इन प्रमाण नयों के द्वारा ही होता है इसलिये भूतार्थ भी है। अभूतार्थ इसलिये हैं कि यह एक अखंडपिंड वस्तु में भेद करके दिखाता है वस्तु अभेद रूप है उसमें भेद करना यह ही उसका अभूतार्थपणा है परन्तु वस्तु में भेद करना यह झूठी कल्पना नहीं है। वस्तु भेदाभेद रूप है इसलिये उसका भेदाभेद रूप कथन करने वाले सर्व ही नय और प्रमाण भूतार्थ हैं क्योंकि उसके बिना भेदाभेद स्वरूप वस्तुका ज्ञान नहीं होता उसका ज्ञान कराने के लिये ही आचार्यों ने "प्रमाणनयैरधिगमः" ऐसा कहा है। अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा ही वस्तु का ज्ञान होता है, उसका लोप करने से वस्तु स्वरूप जानने रूप परमार्थ की सिद्धि कैसे होगी, कदापि नहीं होगी। यदि कहो कि शास्त्रों में व्यवहार नय को अभूतार्थ उपचरित अपरमार्थ भूत कहा है, प्रमाण और निश्चय नय को अभूतार्थ उपचरित अपरमार्थ भूत नहीं कहा सो ठीक नहीं क्योंकि आचार्यों तो निश्चय नय को भी सविकल्प मानकर मिथ्या कहा है। तथा श्रुत प्रमाण परार्थ परोक्ष वह भी वस्तु स्वरूप को परोक्ष ही जानता है प्रत्यक्ष नहीं जान सकता इसलिए अपरमार्थ भूत भी कहा है। इसलिये केवल व्यवहार नय ही अपरमार्थ भूत क्यों? यदि केवल व्यवहार नय ही अपरमार्थ भूत मिथ्या है तो "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र में वस्तु स्वरूप का बोध कराने में व्यवहार नय का ग्रहण किसलिये [illegible] इस व्यवहार नय बिना भी

वस्तु स्वरूप का बोध नहीं होता इसलिये ही आचार्यों ने उसको परमार्थ साधक बतलाया है। तथा ऐसा भी कहा है कि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है फिर भला लोप करने से परमार्थ सिद्धि कैसी?

"जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

समयप्राभृत।

टीका—यथा न शक्यः कोसौ अनार्यो म्लेच्छः किं कर्तुं अर्थ ग्रहणरूपेण संबोधयितुं कथं अनार्यभाषाम्लेच्छभाषा तां विना। दृष्टांतो गतः इदानी दार्ष्टान्तमाह—तथा व्यवहारनयं विना परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यं इति। अयमत्राभिप्रायः—यथा कश्चिद् ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यांगतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्ष्यते मेष इवतथा, यमज्ञानी जनोऽयमात्मेति भणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन् सन् भ्रांत्या निरीक्ष्यत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्व जानातीति एवं भेदा भेद रत्नत्रयव्याख्यानमुक्तरूपया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतं"।

अर्थ—जैसे अनार्य कहिये म्लेच्छ है सो म्लेच्छ भाषा विना किछू वस्तुका स्वरूप ग्रहण करावनेकूं असमर्थ हूजिये तैसे व्यवहार विना परमार्थका उपदेश करनेकू समर्थ नहीं हूजिये हैं।

टीका—जैसे प्रगटपणें कोई म्लेच्छ कूं काहू ब्राह्मण स्वस्ति होऊ ऐसा शब्द कहा से म्लेच्छ तिस शब्द का वाच्य वाचक सम्बन्ध का ज्ञानतें वाह्य है ताते ताका अर्थ किच्छूभी न पावता संता ब्राह्मण की तरफ मेंढा की ज्यों नेत्र उघाडि टिमकारे विना देखता रहा जो याने कहा कह्या, तब तिस ब्राह्मण की भाषा तथा म्लेच्छ की भाषा दोऊ का एक अर्थ जानने वाला सोही ब्राह्मण तथा अन्य कोई तिस म्लेच्छभाषाकूं लेकरि स्वस्ति शब्द का अर्थ ऐसा कह्या जो तेरा अविनाश कल्याण होऊ ऐसा याका अर्थ है तब सो म्लेच्छ तत्काल उपज्या जो बहुत आनन्द तिसमयी जो अश्रुपात तिसकरि झलकते भरि आये हैं लोचन पात्र जाके ऐसा हुआ संता तिस स्वस्तिशब्द का अर्थ समझेहो है। तैसे हो व्यवहारी है सोऊ आत्मा ऐसा शब्द कहतेसंते जैसा जैसा आत्मा शब्द का अर्थ है ताका ज्ञान के वाह्य वर्ते है तातें याका अर्थ कछु न पावता संता मींढे की ज्यों नेत्र उघाडि टिमकारे विना देखता ही रहे। अर जब व्यहार परमार्थ मार्ग विषै चलाया सम्यग्ज्ञान रूप महारथ जाने ऐसा सारथी सारिखा सोही आचार्य तथा अन्य कोई आचार्य व्यवहार मार्गमें तिष्ट करि दर्शन ज्ञान चारित्र कूं निरंतर प्राप्तहो सो आत्मा है ऐसा आत्मशब्द का अर्थ कहै तब तत्कालही उपज्यां प्रचुर आनन्द जामें पाईये ऐसा अन्तरंग विषे सुन्दर अर वन्धुर कहिये प्रवन्ध रूप ज्ञान रूप तरंग जाके ऐसा व्यवहारी जन सोतिस आत्मशब्द का अर्थ पावेहो। ऐसे जगत तो म्लेच्छस्थानीय जानना करि व्यवहारनय म्लेच्छ भाषास्था-

नीय जानना यातें व्यवहार को परमार्थ का कहनहारा मानि स्थापन योग्य है। अथवा ब्राह्मणको म्लेच्छ न होना इस वचन त व्यवहार नयकूं सर्वथा उपादेय मानकर अगीकार करना। इस कथन से व्यवहार नय उपादेय है अगीकार करने योग्य है इसके आगे व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है ऐसा निरूपण करें हैं।
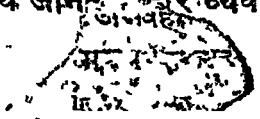
"जोहि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा,, ६
"जोसुदणाणं सव्वं जाणदि सुद केवलिं तमाहुजिणा।
णाणं अप्पासव्वं जह्मासुदकेवलीतह्मा,, १०

आत्मख्यातिः—यः श्रुतेन केवलंशुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीतिव्यवहारः। तदत्रसर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा, न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः ततोगत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यातः श्रुतज्ञानमप्यात्मैवस्यात्। एवं सति यः आत्मा न जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिश्यता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रएव प्रतिपद्यते न किंचिदप्यतिरिक्तं अथच यः श्रुतेन केवलशुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारपरमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति।

हिंदी टीका—जो श्रुतकरि केवल शुद्धआत्माकूं जाने है सो श्रुतकेवली है यह तो प्रथम परमार्थ है। वहुरि जो श्रुतज्ञान सर्वकूं जाने हैं सो श्रुतकेवली है। यह व्यवहार है सो यहां परीक्षा होय पक्षकरि कहै हैं। जो यह क[illegible] ही ज्ञान, अनात्मा

है कि आत्मा है तहां प्रथम पक्ष लीजिये जो अनात्मा है तो अनात्मा तो नहीं है। जातैं समस्त ही जे जड रूप अनात्मा आकाशादि पांच द्रव्य है तिनिके ज्ञानके तादात्म्यकी अनुपपत्ति है तत्स्वरूपपणा वने नाहीं। तातैं अन्य पक्षके अभावतैं ज्ञान है सो आत्मा है ऐसा दूजा पक्ष आया। यातैं श्रुतज्ञान भी आत्माही है। ऐसे होते जो आत्माकूं जाने है सो श्रुतकेवली है ऐसा ही आवे है सो परमार्थ ही है। ऐसे ज्ञान अर ज्ञानीकूं भेद करि कहता जो व्यवहार तिस करि भी परमार्थ मात्रही कहिये हैं, तिसतैं जुदा अधिक तो किछू भी न कहे हैं। अथवा जो श्रुतकरि केवल शुद्ध आत्माकूं जाने है सो श्रुतकेवली है ऐसे परमार्थका लक्षणके कहे विना करनेका असमर्थ पणा है तातैं जो सर्वश्रुतज्ञानकूं जाने है सो श्रुतकेवली है ऐसा व्यवहार है सो परमार्थ के प्रतिपादकपणेतैं आत्माकूं प्रतिष्ठा रूप कहे हैं प्रगटरूप स्थापे है।

भावार्थ—जो शास्त्रज्ञान करि अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माकूं जाने सो श्रुतकेवली है। यह तो परमार्थ है बहुरि जो सर्वशास्त्रज्ञानकूं जाने सो श्रुतकेवली है। यह ज्ञान है सो ही आत्मा है, सो ज्ञानकूं जान्या सो आत्माहीकूं जान्या सो ही परमार्थ है, ऐसे ज्ञान ज्ञानीके भेद करता जो व्यवहार तिसने भी परमार्थ ही कह्या अन्य तो किछू न कह्या। बहुरि ऐसा भी है जो परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर नाहीं भी है तातैं व्यवहार नय ही प्रगटरूप आत्माकूं कहे है ऐसे जानना।

इस उपरोक्त कथनसे यह अच्छी तरह सिद्ध होचुका कि व्यवहारनय परमार्थस्वरूप जो शुद्धात्मा तिसको प्रगटकर बतावे है। इसलिये व्यवहारनय परमार्थस्वरूप है उसका लोप करने से परमार्थस्वरूप आत्मा ही [illegible] होगा।

मोक्षमार्गमें चलना [illegible] है और मोक्षमार्गमें चलेविन मोक्षतक कोई पहुंच [illegible]: जिसने मोक्षमार्गका लोप

किया उसने मोक्षके पावनेका ही लोप किया । यदि व्यवहार का लोप करने से ही परमार्थकी सिद्धि होती तो आचार्य व्यवहार-साधनका उपदेश ही नहीं देते ।

पंडित फूलचन्दजी का जो यह कहना है कि "व्यवहारका लोप होजायगा इसभ्रांतिवश परमार्थसे दूर रहकर व्यवहारको ही परमार्थ रूप समझनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है" यह सर्वथा गलत है क्योंकि प्रथम तो जेनागमको समझनेवाला विद्वान कोई भी व्यवहार को परमार्थ स्वरूप समझता ही नहीं क्योंकि परमार्थ निर्विकल्प एक शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र है सो अनुभवगम्य है और वचनातीत है इसलिये व्यवहारतो क्या निश्चयनय और द्रव्य श्रुतप्रमाण भी परमार्थस्वरूप नहीं है क्योंकि ये सब सविकल्पक है और जो सविकल्पक है वह परमार्थस्वरूप नहीं है यद्यपि यह वास्तविक वात है। तथापि परमार्थका ज्ञान श्रुतप्रमाण और नयों के द्वारा ही होता है इसलिये कथंचित श्रुतप्रमाण और नय यह भी परमर्थिस्वरूप कहे है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि श्रुत को जाननेवाला भी श्रुतकेवली है तथा व्यवहारके विना परमार्थका ज्ञान होना अशक्य है ऐसा ऊपर दृष्टान्तद्वारा कहा जाचुका है इसलिये ! पंडितजी परमार्थकी सिद्धि व्यवहारका लोप करने से नहीं होगी व्यवहारके साधन से ही परमार्थकी सिद्धि होगी अतः व्यवहारका साधन करनेवालों को परमार्थसे दूर रहना आप मानते है यह आप की भ्रान्ति है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने ऐसा कहीं पर भी नहीं कहाकि व्यवहारका लोप करने से परमार्थकी सिद्धि होगी। अथ व्यवहार के द्वारा परमार्थ की सिद्धि नहीं होगी प्रत्युत उन्होंने तो यह कहा है कि परमार्थकी सिद्धि होगी तो व्यवहार के द्वारा ही होगी अन्य प्रकारसे नहीं [illegible] कि व्यवहारके विना परमार्थका विना अशक्य है [illegible] व्यवहार से परमार्थ की

सिद्धि माननेवाले परमार्थसे दूर नहीं हैं किंतु व्यवहार से परमार्थ की सिद्धि न माननेवाले ही परमार्थ से दूर रहते हैं इसमें संदेह नहीं है क्योंकि उनकी जैनागम पर श्रद्धा नहीं है। और न वे जैनागम को समझते हो है जैनागम जो में व्यवहारको अभूतार्थ कहा है यह किसअपेक्षासे कहा है इसबात को अज्ञलोग समझते नहीं किन्तु व्यवहार को सर्वथा हेय मानकर व्यवहार को छोड़ बैठते हैं और स्वच्छंद होकर परमार्थ से दूर रह जाते हैं।

यद्यपि व्यवहार नय परमार्थ का कहनहारा ही है इसलिये उपादेय है तथापि वह अभेद शुद्ध आत्म स्वरूपमें भेद कर आत्म स्वरूप को प्रगट करती है इसलिये अभूतार्थ भी है।

"एक रूप आतम दरब ज्ञान चरण दृग तीन। भेदभाव परिणाम यों व्यवहारे सुमलीन॥ यद्यपि समल व्यवहारसों पर्यय शक्ति अनेक। तदपि नियत नय देखिये शुद्ध निरंजन एक॥ एक देखिये जानिये रमरहिये इकठोर समलविमल न विचारिये, यह सिद्धि नहीं और"। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मशुद्ध एकाकार अभेद रूप नित्यद्रव्यहै। वही व्यवहार दृष्टिसे दर्शनज्ञानचारित्र-रूप है इस भेदभावसे शुद्ध एक रूप आत्माका अनुभव नहीं होता अतः यह परिणामोंकी स्वच्छतामें सविकल्पपना है सो ही परणामों की मलीनता है इसमलिनताको दूर करनेसे ही एक अखंड-पिण्ड शुद्धस्वरूप आत्माका अनुभव होता रहता है इसलिये आत्मा समल है विमल है दर्शनज्ञान चारित्र स्वरूप है यह विकल्प जब तक है तब तक उस शुद्धस्वरूप के अनुभवका आनन्द नहीं आता जिस प्रकार मोतियोंका हार पहरनेवाला मनुष्य मोतियों के विकल्प में रहे [illegible] रखे तो उसे उस हारके पहनने का आनन्द नहीं आता [illegible] यदि मोतियों का विकल्प लक्ष हटाकर उन मो[illegible]प हारका ही अनुभव करे तो

उसको उस हार के पहनने का आनन्द आता है उसी प्रकार ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक अनन्तगुणोंका शुद्ध अखंड पिण्ड एक ज्ञायक स्वभाव रूप आत्मा का भेद रहित अनुभव करने में जो आनन्द आता है वह आनन्द गुण गुणीके भेदका अनुभव करने में नहीं आता क्योंकि वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है जिस प्रकार अलग अलग मोती हार नहीं उसी प्रकार अलग अलग गुण आत्मा का स्वरूप नहीं है । इस लिये गुण गुणी का भेद करना व्यवहारनय अभूतार्थ है किन्तु व्यवहार नय झूठी कल्पना कर कुछ भी नहीं कहती व्यवहार नय जो कहती है वह वस्तु के एक देश को सत्यार्थ ही कहती है । यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो परमार्थका लोप ही हो जावेगा। जिनेन्द्र भगवानका प्रतिबिम्ब है वह साक्षात जिनेन्द्र नहीं है तो भी हम स्थापना निक्षेपसे उसको साक्षात जिनेन्द्र मानकर ही दर्शन पूजनादिके द्वारा हम सब परमार्थकी सिद्धि करते हैं यह बात असत्य नहीं है । "जिनप्रतिमा जिनसारखी कही जिनागम माहि" ऐसा जैनागमका वाक्य है । तथा जिन प्रतिमा का अवलोकन आदि सम्यक्त्व की प्राप्ति में मुख्य हेतु बतलाया है जो सारभूत परमार्थ है । किन्तु पंडित जी की दृष्टि में तो ये सब अपरमार्थ भूत ही हैं, जब कि आप गुण गुणी के भेद करने वाली सद्भूत व्यवहार नय को भी अपरमार्थभूत बता रहे हैं तब असद्भूत व्यवहार नय द्वारा पाषाणादिक में उपचार से जिनेन्द्र की कल्पना करना तो अपरमार्थभूत है ही । फिर इसके द्वारा पंडित जी की दृष्टि में परमार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती अतः इनसे परमार्थ की सिद्धि होती है ऐसा मानकर उनकी पूजादि क[illegible] अपरमार्थभूत ही है, जैसा कि कानजी का कहना [illegible]

"जिस प्रकार कुगुरु कुदेव कुशास्त्र की श्रद्धा और सुदेवादिक की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व हैं तथापि कुदेवादिक की श्रद्धा में तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिक की श्रद्धा में मन्द" आ० प० अं. ६ वर्ष ४

यद्यपि देवशास्त्र गुरु पर है, अनात्मभूत हैं तो भी इनके द्वारा आत्मानुभूति परमार्थ की सिद्धि होती है जैसा कि समय प्राभृत में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी और टीकाकार अमृतचन्द्र सूरी ने कहा है इस बात को हम ऊपर उद्घृत कर चुके हैं तो भी प्रयोजन वश उसका भावार्थ उद्धृत कर देते हैं।

"जो शास्त्र ज्ञान करि अभेद रूप ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्मा जाने सो श्रुत केवली है यह तो परमार्थ है। बहुरि जो सर्व शास्त्रज्ञानकूं जाने सो श्रुतकेवली है यह ज्ञान है सो ही आत्मा है। सो ज्ञानकूं जान्या, सो आत्मा ही को जान्या सो ही परमार्थ है, ऐसे ज्ञान ज्ञानी के भेद करता जो व्यवहार तिसने भी परमार्थ ही कहा अन्य तो किछू न कहा। बहुरि ऐसा भी है जो परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचन गोचर नहीं भी है ताते व्यवहार नय ही प्रगट रूप आत्मा कूं कहै है ऐसे जानना"

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गुणगुणी में भेद कर कथन करने वाली व्यवहार नय भी परमार्थभूत है क्योंकि उसने परमार्थ ही को कहा है इसके अतिरिक्त और कुछ भी न कहा तथा परमार्थ का विषय वचन अगोचर अनुभव गम्य है उसको वचन द्वारे व्यवहार नय ही प्रगट रूप आत्म स्वरूप को बतलाती है तथा आत्म स्वरूपकी प्राप्ति किस तरह से होसकती है उसका उपाय भी बतलाती हैं इसलिये व्यवहार नय परमार्थ भूत भी है। पाषाणादिक में [illegible] जिनराज की कल्पना करना यह असद्भुत व्यवहा[illegible] है अतः असद्भुत व्यवहार

नय-द्वारा पाषाणादिक में स्थापन किया हुआ जिनराज का प्रतिविम्ब सो भी सर्वथा अपरमार्थ भूत नहीं है क्योंकि उसके द्वारा भी जिस प्रकार शास्त्र ज्ञान द्वारा आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये शास्त्र ज्ञान परमार्थ स्वरूप है उसी प्रकार जिन स्वरूप जिन विम्ब द्वारा आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है इसलिये जिन विम्ब का आराधन भी परमार्थ स्वरूप है। मोक्षमार्ग अनादि काल से इसी के द्वारा अविच्छिन्न रूप से चलता है। "साधु ही की पूजा से हजार गुण फल जिन, जिनतें हजार गुण फल पूजा सिद्धि की। सिद्धते हजार गुण फल जिन प्रतिमा की, तिहू काल दाता आठों नवों निधिरिद्धि की। ताहि देख देख साधु अर्हन्त सिद्धभये, तातें करता है पाचों पद वृद्धि की। करे न वखान सिद्ध होने को है यही ध्यान मोक्ष फल देत कौन बात स्वर्ग ऋद्धि की" अतः कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय चैत्य अनादि कालीन हैं और वह सम्यक्त्व रूप परमार्थ की सिद्धि में निमित्त भूत हैं इसलिये जिस प्रकार शास्त्रों के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा गया है उसी प्रकार जिन विम्व से जिन स्वरूप की प्राप्ति होती है। शास्त्र भी जिन वचन लिपिवद्ध मूर्ति स्वरूप है उसके पढ़ने से आत्म वोध प्राप्त होता है उसी प्रकार पाषाणादिक में अङ्कित किया हुआ जिन स्वरूप उसके अवलोकन से आत्मोपलब्धी रूप परमार्थ की प्राप्ति होती है। कुन्दकुन्द स्वामी देव का स्वरूप निरूपण करते कहते हैं कि—

"सो देवो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थिहु अत्थो धम्मो य पवज्जा" २४

बोधप्राभृते

टीका—स देवो योऽर्थं धनं निधिरत्नादिकं ददाति। धर्मं चारित्रलक्षणं, दयालक्षणं [illegible] मात्मोपलब्धि-

इसलिये उसका कर्मों के साथ एकत्वबुद्धि हो रही है।

"जैसे गजराज नाज घास गरासकरि भक्षणस्वभाव नहीं भिन्न रस लिया है। जैसे मतवारो नहीं जानत शिखरण स्वाद गऊमें मगन कहै गऊदूधपियो है। जैसे मिथ्यामतिजीव ज्ञानरूपी है सदीव पग्यो पाप पुन्य सोसहज सुन्नहियो है! चेतन अचेतन दुहूंको मिश्रपिण्ड लखि एकमेक मानें न विवेक कछु कियो है"।

समयसार नाटक कर्ताकर्म क्रियाद्वार।

यह जो कर्मोंके साथ एकत्वबुद्धि है वह सद्भूतव्यवहारनय के द्वारा दूर हो जाती है यही तो परमार्थ है इसीके लिये ही तो हम पुरुषार्थ करते हैं। अतः व्यवहार का लोप करने से न तो वस्तु स्वरूपकी प्राप्ति ही होगी और न परमार्थकी ही सिद्धि होगी।

इसलिये केवल निश्चय नयही परमार्थभूत हैं और व्यवहारनय अपरमार्थभूत है ऐसा समझना भ्रम है। व्यवहार निरपेक्ष केवल निश्चय नय भी अपरमार्थभूत ही है। क्योंकि उससे वस्तु स्वरूप का बोध नहीं होता इसलिये व्यवहार नय की शरण लेनी पड़ती है। आचार्य इस विषयमें शंका उठा कर समाधान करते है कि जो केवल निश्चयनयसे ही विवादका परिहार और वस्तुका विचार होसकता है ऐसा जोमानते हैं सोगलत है शंका—

"ननु च समीहितसिद्धिः किलचैकस्मान्नयात्कथं न स्यात्
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ६४०

पंचाध्ययी ॥

अर्थ—अपने अभीष्टको सिद्धि एक ही निश्चय नयसे क्यों नहीं होजाती है। विवादका परिहार और वस्तुका विचार भी निश्चयनय से हो जायगा इसलिये [illegible] निश्चयनय का ही मान लेना ठीक है। आचार्य कहते हैं [illegible]।

"नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वा वद कोपि" ६४१

अर्थात् ऊपर कीगई शंका ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों नयों से भेद है निश्चय अनिर्वचनीय है। इसके द्वारा पदार्थोंका विवेचन नहीं किया जा सकता। इसलिये धर्म या दर्शन की स्थितिके लिये अर्थात् वस्तु स्वभाव को जानने के लिये कोई बोलने वाला भी नय होना चाहिये। अतः वह व्यवहार नय है और हितकारी है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार निरपेक्ष केवल निश्चय नय वस्तुस्वरूपका द्योतक नहीं है और न हितकारी ही है अर्थात् अपरमार्थभूत ही है।

व्यवहार नय परमार्थ भूत क्यों है इसका खुलासा—

"अस्तमितसर्वसंकरदोषं, क्षतसर्वशून्यदोषं वा।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ५२७

अर्थ—सद्भूत व्यहारनय से वस्तुका यथार्थ परिज्ञान होने पर वह सब प्रकार के शंकर दोषों से रहित सबसे जुदी सब प्रकार के शून्यता अभाव आदि दोषों से रहित समर तहा वस्तु परमाणु के समान अखंड प्रतीत होने लगती है। ऐसी अवस्था में वह उसका शरण वहां दीखती है। भावार्थ—इस नय द्वारा जब वस्तु उसके विशेष गुणों से भिन्न सिद्ध हो जाती है फिर उसमें शङ्कर दोष नहीं आ सकता है। तथा गुणोंका परिज्ञान होने पर उसमें शून्यता अभाव आदि दोष भी नहीं आ सकते है क्योंकि उसके गुणों की सत्ता और उसके नित्यताका परिज्ञान उक्त दोनों दोषोंका विरोधी है।

तथा जब वस्तु के सामान्य भी गुण उसमें ही दीखते हैं उसके बाहर नहीं दीखते तब वस्तु परमाणु के समान उसके गुणों से वह अखंड ही प्रतीत होती है। इतने बोध होने पर ही वस्तु अनन्य शरण प्रतीत होती है।

इस कथन से सद्भूत व्यवहार नय परमार्थभूत भी है ऐसा सिद्ध हो जाता है। क्योंकि वस्तु स्वरूप समझना तथा वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है और अपने गुणों से अभिन्न है नित्य है शंकर आदि दोषों से रहित है ऐसा समझना ही तो परमार्थ है। इसको सर्वथा अपरमार्थ भूत मानकर इसके बिना परमार्थ की सिद्धि चाहना बालूरेत के पेलने से तेल की प्राप्ति के समान असंभव ही है।

आप जो यह कहते हैं कि आचार्य देवसेन का कथन है कि— "इस द्वारा उन्होंने जबकि एक अखण्ड द्रव्यमें गुणगुणी आदि के आश्रय से होने वाले सद्भूत व्यहार को ही अपरमार्थभूत बतलाया है ऐसी अवस्था में दो द्रव्यों के आश्रय से कर्ता कर्म आदि रूप जो उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार होता है उसे परमार्थभूत कैसे माना जासकता है अर्थात् नहीं माना जा सकता।

(जैन तत्त्व मीमांसा)

'पंडितजी! देवसेन आचार्य ही क्यों सब ही आचार्यों ने सद्भूत व्यवहार नय को अपरमार्थ भूत माना इस बात को कोई भी विद्वान नय चक्रको जानने वाला अस्वीकार नहीं कर सकता किन्तु साथ में इसको (सद्भूत व्यवहार नय को) परमार्थभूत भी माना है इस बात को भी तो लिखिये। अपनी पक्षपुष्टि के लिये अन्यथा तो निरूपण मत कीजिये। परमार्थभूत भी माना है इन दोनों पक्षका सब ही आ[illegible] को शब्दों में विवेचन किया है कि इस अपेक्षा सद्भू[illegible] अपरमार्थभूत है

और इस अपेक्षा सद्भूत व्यवहारनय परमार्थभूत है जिसका खुलासा हम ऊपर कर चुके है। व्यवहारनय अपरमार्थभूत क्यों है इसका खुलासा देवसेन आचार्य भी कर चुके हैं जिसको आपने भी उद्धृत किया है। जै० त० मी० पृ० ७

"उपनयोपजनितो व्यवहारः प्रमाणनयनिक्षेपात्मा भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत्! सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात्, असद्भूतस्तु उपचारोत्पादकत्वात्। उपचरितासद्भूतस्तु उपचारादपि उपचारोत्पादकत्वात्। योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः।"

इसका अर्थ आपने इस प्रकार किया है, प्रमाण नय, और निक्षेपात्मक जितने भी व्यवहार हैं वह सब उपनयसे उपजनित हैं भेद द्वारा और उपचार द्वारा वस्तु व्यवहार पदवीको प्राप्त होती है इसलिये इसकी व्यवहार संज्ञा है।

इसका स्पष्टी करण करते हुये आपने व्यहारनय को उपनय से उपजनित बताकर अपरमार्थभूत सिद्ध किया है भेदका उत्पादक सद्भूत व्यवहारनय है। उपचारका उत्पादक असद्भूत व्यवहार नय है और उपचार से भी उपचार का उत्पादक उपचरित असद्भूत व्यवहार है। और जो यह भेद लक्षण वाला तथा उपचार लक्षण वाला अर्थ है वह भी अपरमार्थभूत है अतः व्यवहार अपरमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थभूत है

इस कथन से पं० फूलचन्दजी ने प्रमाण नय निक्षेपों को असत्यार्थ अपरमार्थभू[illegible] करके व्यवहार का लोप करना इष्ट समझा है। क्योंकि [illegible] प्रमाण नय और निक्षेपों से वस्तु मे भेदोप[illegible] की प्रवृत्ति होती है। प्रमाण

प्रमाणनयैरधिगमः, टीका—नामादि निक्षेपविधिनो-पक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधि-गम्यते। प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणविकल्पाः। तत्र प्रमाणं द्विविधं—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्म-कं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः। अत्राह नयशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति! नैष दोषः अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः, अभ्यर्हितत्वं च सर्वतोबलीयः। कुतोऽभ्यर्हितत्वम्? नयप्ररूपणप्रभवयोनि-त्वात्। एवं ह्युक्त "प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्था-वधारणं नयः इति" सकलविषयत्वाच्च प्रमाणस्य, तथा चो-क्तं सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीन इति" नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिक-नयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापना-द्रव्याणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यार्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजन-मस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेना-धिगन्तव्यम्"।

हिन्दी टीका—प्रमाण नय इनि करि जीवादिक पदार्थनिका अधिगम (ज्ञान) होहै। नाम आदि [illegible] विधि करि अंगीकार करे जे जीवादिक तिनि का यथा[illegible] ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण करि तथा द्रव्यार्थिक प[illegible] होय है। तहां

प्रमाण, नयनिका लक्षण तथा भेद तो आगे करसी तहां प्रमाण दोय प्रकार है। एक स्वार्थ तो ज्ञान स्वरूप कहिये। बहुरि परार्थ वचन रूप कहिये तामें चार ज्ञान तो स्वार्थ रूप है। बहुरि श्रुत प्रमाण ज्ञानरूपी है भी वचन रूपी भी है। तातें स्वार्थ परार्थ दोऊ प्रकार है बहुरि श्रुत ज्ञान के भेद विकल्प हैं ते नय है। इहां कोई पूछे है नय शब्द के अक्षर थोडे हैं तातें द्वंदसमास में पूर्व निपात चाहिये ताका उत्तर—प्रमाण प्रधान है। पूज्य है सर्व नय है ते प्रमाण के अंश है जातें ऐसा कह्या है वस्तु को प्रमाण तें ग्रहण करि बहुरि सत्व, असत्व नित्य, अनित्य इत्यादि परिणाम के विशेषतें अर्थ का अवधारण करना सो नय है। बहुरि प्रमाण सकल धर्म अर धर्मी कूं विषय करे है सो ही कहा है। सकलादेश तो प्रमाणाधीन है। बहुरि विकलादेश नयाधीन है तातें प्रमाण ही का पूर्व निपात युक्त है। बहुरि नय के दो भेद कहे तहां पर्यायार्थिक नय करि तो भाव तत्व ग्रहण करना। बहुरि नाम स्थापना द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिक नय करि ग्रहण करना जातें द्रव्यार्थिक है सो सामान्य कूं ग्रहण करे है। द्रव्य है विषय प्रयोजन जाका ताकूं द्रव्यार्थिक कहिये। पर्याय है विषय प्रयोजन जाका सो पर्यायार्थिक कहिये ये सर्व भेले प्रमाण करि जानें।

प्रश्न—जो जीवादिक का अधिगम (ज्ञान) तो प्रमाण नयनितें करिये बहुरि प्रमाण नयनिका अधिगम काहेंते करिये? जो प्रमाण नयनितें करिये तो अनवस्था दूषण होयगा। बहुरि आपही करिये तो सर्वही पदार्थनिका आपही ते होगा, प्रमाण नय निष्फल होहिंगे। ताका समाधान—जो प्रमाण नयनिका अधिगम अभ्यास अपेक्षा तो आप ही ते कह्या है। बिना अभ्यास अपेक्षा परतें कह्या है तातें दो[illegible] प्रश्न—जो प्रमाण तो अंशी को ग्रहण करे है, अ[illegible] ग्रहण करे है सो अंशनिते

नयं निक्षेपात्मा भेदोपचाराभ्याम् वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः ऐसा कहा है इस लिये भेदोपचार लक्षणवाला अर्थभी अपरमार्थभूत है और उसका कथन करने वाला प्रमाण, नय, निक्षेप भी अपरमार्थभूत है। "भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः अतएव व्यवहारो ऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थः इस पर आपने शंका उठाकर समाधान किया है वह भी प्रमाणादिकको अपरमार्थरूप सिद्ध करने के पक्ष में किया है।

शंका—यदि भिन्न कर्तृ, कर्म आदि रूप व्यवहार उपचरितही हैं तो शास्त्रोंमें उसका निर्देश क्यों कियागया है ? समाधान—एकतो निमित्तका ज्ञान कराना इसका मुख्य प्रयोजन है इसलिये यह कथन कियागया है (पृष्ठ ८) अब यहां पर यह देखना है कि देव सेन आदि अचार्यों ने प्रमाणादिकको अपरमार्थभूत किस दृष्टिसे कहा है। तथा शास्त्रोंमें इनका कथन केवल निमित्तका ज्ञान कराने के लिये ही किया गया है या वस्तु स्वरूपका परिज्ञान कराने के लिये किया गया है। अथवा वस्तु स्वरूप का ज्ञान इन नय प्रमाणादिक के विना भी हो सकता है क्या अथवा जिस वस्तुका ज्ञान करना है वह वस्तु (अर्थ) कैसा है। वह केवल एक रूपही है या वह अनेक रूपभी है अर्थका (द्रव्यका) आचार्यों ने ऐसा लक्षण किया है कि—

"गुणपर्ययवद् द्रव्यम्"

अर्थात् गुण और पर्याय इन करि सहित द्रव्य है। यहां गुण पर्याय जाके होय सो द्रव्य है। द्रव्यका अन्वयी सो गुण है, व्यतिरेकी पर्याय है। इन गुण पर्यायनिकरि युक्त होय सो द्रव्य है।

"गुणइदिदव्वविहाणं दव्वविकारो [illegible] पज्जवो भणिदो।
तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसि[illegible]

अर्थात् गुण ऐसा तो द्रव्यका विधान है। गुणनिका समुदाय वह द्रव्य है। तथा द्रव्यके विकार कहिये क्रमपरिणाम ते पर्याय है। अतः गुण पर्याय सहित है सो द्रव्य है। वह अयुत प्रसिद्ध है संयोगरूप नहीं है। तादात्मक स्वरूप है नित्य है अपने विशेष लक्षणकर लक्षित है।

जब द्रव्यका लक्षण गुण और पर्यायवान है तब उसका बोध (ज्ञान) विना नय प्रमाण निक्षेपों के नहीं हो सकता (क्योंकि) निश्चयनय तो अवाच्य है उसके द्वारा वस्तु स्वरूपका विवेचन नहीं किया जा सकता। विना विवेचनके वस्तु स्वरूप समझमें भी नहीं आ सकता। इसलिये धर्म अथवा दर्शनकी स्थिति के लिये अर्थात् वस्तु के स्वभावको जनानेवाला कोई बोलनेवाला भी होनाचाहिये वह बोलनेवाला व्यवहार है इस बातको हम ऊपर बतला चुके हैं। विना प्रमाणादिक के निश्चयनय का भी क्या विषय है इसका भी बोध नहीं हो सकता इसलिये व्यवहारनय द्वाराही वस्तु स्वरूपका बोध हो जाता है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। ऐसा बोध होनेपर ही उन अनन्तगुणों से युक्त एक अखंडपिण्ड वस्तु है ऐसा निश्चय हो जाता है इसलिये भिन्न भिन्न रूप से वस्तु स्वरूप समझने की भी आवश्यकता है, क्योंकि भिन्न भिन्न स्वरूप समझे विना यह वस्तु ऐसी है यह वस्तु ऐसी है ऐसा ज्ञान नहीं होता और ऐसा ज्ञान हुये विना परमार्थ की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

इसलिये प्रमाणादिकसे जीवादि वस्तु स्वरूप समझने से ही श्रद्धान दृढ होता है। जीवादि वस्तु स्वरूप समझ कर उस पर विश्वास करनाही सम्यक्त्व है और वही परमार्थ स्वरूप है। अतः वस्तु स्वरू[illegible] लिये ही आचार्योंने प्रमाणादिक का कथन किया [illegible]

प्रमाणनयैरधिगमः, टीका–नामादि निक्षेपविधिनो-पक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधि-गम्यते। प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणविकल्पाः। तत्र प्रमाणं द्विविधं–स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः। अत्राह नयशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति? नैष दोषः अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः, अभ्यर्हितत्वं च सर्वतोबलीयः। कुतोऽभ्यर्हितत्वम्? नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। एवं ह्युक्तं "प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः इति" सकलविषयत्वाच्च प्रमाणस्य, तथा चोक्तं सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति" नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापना-द्रव्याणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यार्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्"।

हिन्दी टीका—प्रमाण नय इनि करि जीवादिक पदार्थनिका अधिगम (ज्ञान) होहै। नाम आदि निक्षेप विधि करि अंगीकार करे जे जीवादिक तिनि का यथ[illegible] ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण करि तथा द्रव्यार्थिक प[illegible] होय है। तहां

प्रमाण, नयनिका लक्षण तथा भेद तो आगे करसी तहां प्रमाण दोय प्रकार है। एक स्वार्थ तो ज्ञान स्वरूप कहिये। बहुरि परार्थ वचन रूप कहिये तामें चार ज्ञान तो स्वार्थ रूप है। बहुरि श्रुत प्रमाण ज्ञानरूपी है भी वचन रूपी भी है। तातें स्वार्थ परार्थ दोऊ प्रकार है बहुरि श्रुत ज्ञान के भेद विकल्प हैं ते नय है। इहां कोई पूछे हैं नय शब्द के अक्षर थोडे हैं ताते द्वंदसमास में पूर्व निपात चाहिये ताका उत्तर–प्रमाण प्रधान हैं। पूज्य है सर्व नय हैं ते प्रमाण के अंश है जातें ऐसा कह्या है वस्तु को प्रमाण तैं ग्रहण करि बहुरि सत्व, असत्व नित्य, अनित्य इत्यादि परिणाम के विशेषतें अर्थ का अवधारण करना सो नय है। बहुरि प्रमाण सकल धर्म अर धर्मी कूं विषय करें है सो ही कहा है। सकलादेश तो प्रमाणाधीन है। बहुरि विकलादेश नयाधीन हैं तातै प्रमाण ही का पूर्व निपात युक्त है। बहुरि नय के दो भेद कहे तहां पर्यायार्थिक नय करि तो भाव तत्व ग्रहण करना। बहुरि नाम स्थापना द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिक नय करि ग्रहण करना जातें द्रव्यार्थिक है सो सामान्य कूं ग्रहण करे है। द्रव्य है विषय प्रयोजन जाका ताकूं द्रव्यार्थिक कहिये। पर्याय है विषय प्रयोजन जाका सो पर्यायार्थिक कहिये ये सर्व भेले प्रमाण करि जानें।

प्रश्न—जो जीवादिक का अधिगम (ज्ञान) तो प्रमाण नयनिते करिये बहुरि प्रमाण नयनिका अधिगम काहेंते करिये? जो प्रमाण नयनितें करिये तो अनवस्था दूषण होयगा। बहुरि आपही करिये तो सर्वही पदार्थनिका आपही ते होगा, प्रमाण नय निष्फल होहिगे। ताका समाधान—जो प्रमाण नयनिका अधिगम अभ्यास अपेक्षा ते आप ही ते कह्या है। बिना अभ्यास अपेक्षा परते कह्या है तातें दो[illegible] प्रश्न—जो प्रामण तो अंशी को ग्रहण करे है अ[illegible] ग्रहण करे है सो अंशनिते

जुदा पदार्थ तो अंशी भासता नहीं अंशानके समुदाय विषे अंशी की कल्पना ही यह कल्पना है सो असत्यार्थ है। ताका उत्तर— प्रथम तो प्रत्यक्ष बुद्धि विषे अंशी स्थूल स्थिर एक साक्षात् प्रतिभासै है ताको कल्पित कैसे कहिये बहुरि जो कल्पित होय तो एक कल्पनाते द्वितीय कल्पना होते ताका सद्भाव इन्द्रिय गोचर कैसे रहै? बहुरि कल्पित के अर्थक्रिया शक्ति कहांते होय ? बहुरि कल्पित प्रत्यक्ष ज्ञानमें स्पष्ट कैसे भासे? तातें अंशनिका समुदाय रूप अंशी सत्यार्थ है। कल्पित नाहीं। अंश अंशी विषे कथंचित भेद है कथंचित् अभेद है। जे सर्वथा भेद ही तथा अभेद ही माने हैं तिनिकी मानिवेमें दूषण आवे है स्याद्वादीनिके दूषण नाहीं। इहा उदाहरण—जैसे एक मनुष्य जीव नाम वस्तु है ताके देहविषे मस्तक ललाट-कान-नाक-नेत्र-मुख-होठ-गला-कांधा भुजा हस्त-अंगुली-छाती-उदर-नाभी नितंव-लिंग जांघ—गोडे पींडी टकुण्या-पग-पगथली अंगुली आदि अङ्ग है उपांग है। तिनिकूं अवयव भी कहिये। अंश भी कहिये। धर्म कहिये। बहुरि गोरा सावला आदि वर्ण है तिनिकूं गुण कहिये। बाल कुमार जुवान बूढा आदि अवस्थाकूं पर्याय कहिये। सो सर्वका समुदाय कथंचित भेदाभेद रूप वस्तु है। ताकूं अपयवी कहिये, अंगा कहिये अंशी कहिये धर्मी कहिये। ऐसे अशीको कल्पित कैसे कहिये कल्पित होयतो प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट कैसे भासे ? बहुरि अनेक कार्य करने की शक्ति रूप जो अर्थ क्रियाकी शक्ति कैसे होगी ? सर्वथा भेदरूप अंशानिहो में पुरुष के करने योग्य कार्य की शक्ति नांही। बहुरि इस मनुष्य नाम की अंशीका कल्पना छूटि अन्य वस्तुकी कल्पना होते वह मनुष्य वस्तु [illegible] कालमें जैसा का तैसा काहेकूं रहता ? तातें अंशी सत्य [illegible] की ही प्रमाण गोचर भेदाभेदरूप भासे है। बहुरि नय [illegible] ग्रहण करै है। तहां-

मनुष्य गोणरूप होय है। जब केवल एक अभेदमात्र अंशकूं अंशो नामा ग्रहण करे तब तो द्रव्यार्थिक नय है। तहा अभेदपक्ष मुख्य है, भेद पक्ष गौण है। बहुरि जब भेदरूप अंशनिकूं जुदे जुदे ग्रहण करे। तहां पर्यायार्थिक नय है यहां अभेदरूप गोण है। भेद पक्ष मुख्य है। तहां भी किसी एक अंशकू मुख्य करें तब दूसरा अश गोण रहै। ऐसे सर्व ही जीवादिक पदार्थ प्रमाण नय करि सत्यार्थ प्रतिभासे हैं। जो सर्वथा एकान्तकी पक्ष सो कल्पना मिथ्या है। जातें कल्पनामात्र ही है। मिथ्यात्व कर्मके उदयतें यह निपजा हैं। वस्तु स्वरूप तो कल्पित है नाहीं।

इस उपरोक्त कथन से प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा वस्तु में व्यवहार प्रवृत्ति किस प्रकार होती हैं उसका स्पष्टीकरण मनुष्य के दृष्टान्त से हो जाता है। पदार्थ गुण और पर्याय संयुक्त होने से उसका कथन भी भेदाभेद रूप वस्तु से किया जा सकता हैं। अत: भेदाभेद रूप वस्तु का ग्रहण करने वाला प्रमाण है। तथा नय है वह वस्तु के अंश का ग्रहण करने वाला है वहां पर मनुष्य रूप वस्तु गौण है। निश्चय नय केवल अभेद मात्र अंशी नामा मनुष्य अंश का ग्रहण करने वाला है। यहां पर अभेद पक्ष मुख्य है और भेद पक्ष गौण है। व्यवहार नय वस्तु के भेद रूप अंशों को अलग अलग ग्रहण करता है, वहा पर भेद दृष्टि मुख्य है अभेद पक्ष गोण है इस तरह सर्व ही जीवादि पदार्थ प्रमाण, नय निक्षेपो से सत्यार्थ ही प्रतिभासे हैं सारांश यह है कि जब पदार्थ का प्रतिपादन मुख्य और गौण से किया जाता है तब ही पदार्थ का स्वरूप बनता है।

"अर्पितानर्पितसिद्धेः"। तत्त्वार्थ सूत्र

टीका—अनेक[illegible]कस्य वस्तुनः प्रयोजनवशा-द्यस्य कस्यचिद्ध[illegible] प्रापितं प्रधानमर्पितमुप-

नीतमिति यावत् । तद्विपरीतमनर्पितम्, प्रयोजनाभावात् । सतोऽप्यविवक्षाभवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः । तौ च सामान्यविशेषौ कथञ्चित् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः ।

हिन्दी टीका—अर्पित कहिये जो मुख्य करिये सो तथा अनर्पित कहिये जो गौण करिये सो । इन दोऊ नय करि अनेक धर्म रूप वस्तु का कहना सिद्ध होय है तहां अनेक धर्म रूप जो वस्तु ताकूं प्रयोजन वशतें जिस कोई एक धर्म की विवक्षा करि पाया है प्रधानपणा जाने सो अर्पित कहिये । ताकूं उपनीत अभ्युपगत ऐसा भी कहिये । भावार्थ—जिस धर्म कूं वक्ता प्रयोजनके वशतें प्रधान करि कहै सो अर्पित है । याके विपरीत जाकी विवक्षा न करै सो अनर्पित है । जातें जाका प्रयोजन नाही । बहुरि ऐसा नाहीं जो वस्तु में धर्म नाही ताकों गौण करि विवक्षाते कहे हैं जाते विवक्षा तथा अविवक्षा दोऊ ही सत की होय है । तातें सत् रूप होय ताकू प्रयोजनके वशते अविवक्षा करिये सो गौण है । ताते दोऊ में वस्तुकी सिद्धि है । यामें विरोध नाही । इहां उदाहरण—जैसे पुरुषके पिता, पुत्र, भ्राता भाणजा इत्यादि संबन्ध हैं ते जनकपणां आदिकी अपेक्षाते विरोधरूप नाहीं । ताते अर्पणाका भेदते पुत्रकी अपेक्षा तो पिता कहिये । बहुरि तिसही पुरुषकों पिताकी अपेक्षा पुत्र कहिये । भाईकी अपेक्षा भाई कहिये मामाकी अपेक्षा भाणजा कहिये इत्यादि । तैसेही वस्तुकी सामान्य अर्पणाते नित्य कहिये विशेष अर्पणाते अनित्य कहिये । यामें विरोध नाही बहुरि सामान्य विशेष [illegible] कथञ्चित् भेद अभेद करि व्यवहारके कारण होय हैं [illegible] एकानेक नित्या—

नित्य भेदाभेद इत्यादि अनेक धर्मात्मक वस्तुके कहनेमें अन्यमति
विरोध आदि दूषण बतावें हैं ताकूं कहिये जो ये दूषण जे
सर्वथा एकान्तपक्ष गहैं और अनेक धर्म वस्तुके हैं तिनके आवे है
बहुरि अनेक धर्म विरुद्धरूप एक वस्तुमें संभवे है तिनकूं द्रव्या-
र्थिक पर्यायार्थिक नयकी अर्पणाका विधान करि प्रयोजनके वशतें
मुख्य गोणकरि कहिये तामें दूषण नाहीं । स्याद्वाद बडा बलवान
है । जो ऐसे भी विरोध रूपको अविरोधरूप करि कहै है । सर्वथा
एकान्तकी यह सामर्थ्य नाहीं जो वस्तूकूं साधे। जैसा कहेगा
तैसे ही दूषण आवेगा । ताते स्याद्वादका शरणा ले वस्तुका यथार्थ
ज्ञानकरि श्रद्धान करि हेयोपादेय जानि हेयतें छूट उपादेयरूप
होय वीतराग होना योग्य है यही श्रीगुरुका उपदेश है”

इस कथनसे भेदाभेद वस्तुकी सिद्धि स्याद्वाद नय द्वारा ही
होसकती है । अन्यथा वस्तुमें विरोधी धर्मोंकी सिद्धि नहीं
हो सकती एकान्तवादमें वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती
उसमें अनेक दूषण आते हैं। आप जो व्यवहार नय को
देवसेन आचार्य के वचनों से सर्वथा अपरमार्थभूत सिद्ध
करते हैं सो सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि देवसेन आचार्य कथञ्चित्
अपरमार्थभूत कहते है सर्वथा नहीं । यही तो आपमें और उन
(आ० देवसेन के कथन में) में अंतर है । अर्थात् पदार्थ
सामान्य दृष्टिसे अभेदरूप है उसमें भेद करना अपरमार्थभूत है ।
किन्तु पदार्थको सर्वथा अभेदरूप मानना यह भी तो अपरमार्थभूत
है । क्योंकि वस्तु भेदाभेदरूप है । वह प्रमाण गोचर है प्रमाण है
वह सम्यग्ज्ञान रूप है । “सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं” उसको अप्रमाण
अपरमार्थरूप कैसे कहाजाय । नय है सो प्रमाणका अंग है और
प्रमाण है वह न[illegible]ंशी है । अतः प्रमाणका विषय जो पदार्थ
को भेदाभेदरूप [illegible]ना है । वह यदि सत्यार्थ है परमार्थ
भूत है तो प्रमा[illegible]हुई नयका भेदअभेदरूप कहना स॒त्य-

चित् असत्यार्थ कैसा ? वह भी एकदेश सत्यार्थ है। उन नयों का कहना यदि निरपेक्ष है तो वह प्रमाण व। अङ्ग भी नहीं है और उनका कहना भी अभूतार्थ है–मिथ्या है ! क्योंकि उससे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। वस्तु न तो भेदरूप ही है और न अभेदरूप ह है ! वस्तु भेदाभेद रूप है, सामान्य विशेषात्मक है। अतः उसका कथन मुख्य और गौणसे किया जाय तो वस्तुस्वरूपकी सिद्धि होती है अन्यथा नहीं मुख्य गौणसे वस्तुकी सिद्धि तवही हो सकती है जब दोनों नय सापेक्ष हों, निरपेक्ष नयों मे मुख्य गौण की व्यवस्था ही नहीं बनती इसलिये निरपेक्ष नयों से कहा हुआ पदार्थ अपरमार्थभूत ही है और उसका प्रतिपादन करनेवाला नय भी अपरमार्थभूत है। परन्तु मुख्यगौण की अपेक्षा वस्तु का भेदाभेद रूप कथन अपरमार्थभूत नहीं है क्योंकि वस्तु में यह गुण है इन गुणवाली वस्तु है यह ज्ञान भेदाभेद कथनके विना नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्यके हस्तपादादि अवयव अंग उपांग हैं, और श्यामादि रूप है बाल युवादि अवस्था उसकी पर्याय है इस प्रकार भेदको जाने विना मनुष्य ऐसा होता है ऐसा ज्ञान विना भेदके कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है उसीप्रकार वस्तु गुण और पर्याययुक्त है अतः वस्तुके गुणोंका और उनकी पर्यायोंका भेदरूप ज्ञान हुये विना यह वस्तु इन गुणों वाली तथा पर्यायवाली है ऐसा ज्ञान कैसे होगा ? कदापि नहीं होगा। इसलिये व्यवहार नय द्वारा वस्तुमें अभेदको गौण कर किया गया भेद वस्तुस्वरूपका ही प्रतिपादक है। इसलिये व्यवहार नय भी परमार्थभूत है। किन्तु उसे वस्तुका कथन सामान्य धर्म का लक्ष्य छोड़कर निरपेक्ष भेदरूप करे तो वह पदार्थ भी मिथ्या है और उसका कथन करनेवाला नय भी [illegible] पदार्थको भेदरूप समझनेवाला भी मिथ्या [illegible] भेद निरपेक्ष केवल सामान्यधर्मका प्रतिपादन क[illegible] यनय भी मिथ्या

है तथा विशेषरहित वह पदार्थ भी मिथ्या है एवं उसका श्रद्धान करनेवाला जीवभी मिथ्यादृष्टि है। इसलिये प्रमाण नय करि जो वस्तुका जानपना होना है वह दो प्रकारसे होता है ज्ञान द्वारा तथा शब्द द्वारा। ज्ञान तो पंच प्रकार का मतिश्रुतादि। तथा शब्दात्मक विधि निषेधरूप है। कोई शब्द तो प्रश्नके करने पर विधिरूप है जैसे सर्ववस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव करि अस्तित्वरूप है तथा कोई शब्द निषेधरूप है। जैसे समस्त वस्तु परचतुष्टयकर नास्तित्वरूप ही है तथा कोई शब्द विधिनिषेधरूप है जैसे समस्त वस्तु अपने तथा परके द्रव्यक्षेत्रकाल भाव करि अनुक्रम करि अस्तिनास्तिरूप है। तथा कोई शब्द विधि निषेध दोनोंको अवक्तव्य कहै है। जैसे समस्तवस्तु अपने वा परके चतुष्टयसे एक काल अस्तित्वनास्तित्वस्वरूप है। अतः एक काल (समय) कहे जाते नहीं इसलिये अवक्तव्यस्वरूप है। तथा कोई शब्द विधि-निषेधको क्रमंकरि कहै है एक समयमें नहीं कह्या जाय है इसलिये विधि अवक्तव्य निषेध अवक्तव्य अथवा विधिनिषेधअवक्तव्य ऐसे विधिनिषेधके शब्द सप्त भंग रूप वस्तुको साधे है। इसलिये वस्तु का स्वरूप सर्वथा वचन अगोचर ही है सो बात नहीं है क्योंकि सर्व ही पदार्थ समान परिणाम असमानपरिणाम रूप है। इस लिये समानपरिणाम है वह तो वचनगोचर है। तथा सर्वथा असमानपरिणाम शुद्धद्रव्यके शुद्ध पर्यायके अगुरुलघु गुणके अवि-भाग परिच्छेद रूप पर्याय है वह किसी द्रव्यके समान नहीं है। इसलिये वह वचन अगोचर है। क्योंकि वचनके परिणाम तो संख्यात ही हैं। और यह असमान परिणाम अनन्तानन्त है इस लिये इनकी संज्ञा वचनमे बन्धती नहीं तातें ये अवक्तव्य ही हैं। ऐसे वक्तव्यावक्तव्यरूप [illegible] स्वरूप है। अतः वक्तव्यावक्तव्य स्वरूप वस्तुको साधने [illegible]त् शब्दका भी प्रयोग करना चाहिये क्योंकि कथं[illegible] एकान्तवादका परिहार और

वस्तु स्वरूपकी सिद्धि होती है।

उदाहरण—स्यादस्त्येव जीवादिः स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावात् स्यान्नास्त्येव जीवादिः पर द्रव्य क्षेत्र काल भावात्। स्यादस्तिनास्त्येव जीवादिः क्रमेण स्वपर द्रव्य क्षेत्र कालभावात्। स्यादवक्तव्य एव जीवादिः युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावात्। स्यादस्त्येव-क्तव्य एव जीवादिः स्वचतुष्टयाद्युगपत्स्वपरचतुष्टयाच्च स्यान्नास्त्य वक्तव्य एव जीवादिः परचतुष्टयात् युगपत् स्वपरचतुष्टयाच्च स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव जीवादिः क्रमेण स्वपरचतुष्टयात् स्वपरचतुष्टय च्च, इत्यादि सर्वपदार्थोंके साथ स्यात् शब्द जोड देनेसेही वस्तु स्वरूपकी सिद्धि होती है और एकान्तका निराकरण हो जाता है।

ऊपरमें जो यह कहा गया था कि प्रमाणवाक्य तो सकलादेशी है और नयवाक्य विकलादेशी है अतः सकलादेश तो प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन है इसका स्पष्टीकरण-सकलादेश है सो अशेष धर्मात्मक जो वस्तु है उसको युगपत कालादिकरि अभेद वृत्तिकरि अथवा अभेद उपचार करि कहना सो तो प्रमाणाधीन है। विकलादेश है सो अनुक्रमकरि भेदोपचारकरि अथवा भेद प्रधान करि कहना सो नयाधीन है। तहा अस्तित्वादि धर्मनिकों कालादि करि भेद विवक्षा करे तब एकही शब्दके अनेक अर्थकी प्रतीति उपजावने का अभाव है। इसलिये क्रमकरि कहे हैं। अथवा जो अस्तित्वादि धर्म कालादिकर अभेदवृत्ति करि कहना तब एक ही शब्द करि अनेक धर्मकी प्रतीति उपजावनेकी मुख्यता करि कहै तहां यौगपद्य है। ते कालादि कौन, काल-आत्मस्वरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार गुण देश, संसर्ग, शब्द, ऐसे [illegible] इनकरि वस्तु साधिये हैं। स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव है [illegible] अर्थ कथंचित् जीवादि वस्तु है सो अस्तिरूप ही है। [illegible] जो अस्तित्वका है सोही

काल अवशेष अनन्त धर्मका एक वस्तु में है। ऐसे तो कालकरि अभेदवृत्ति है। तथा जो वस्तुका अस्तित्वके तद्‌गुणपणा है आत्मरूप है सो ही अनन्तगुणनिका भी है। ऐसे आत्मस्वरूपकी अभेद वृत्ति है। तथा जो द्रव्यनामा आधार अस्तित्वका है सो ही अन्य पर्याय-निका है ऐसे अर्थकरि अभेदवृत्ति है तथा जो कथंचित् तादात्मक स्वरूप अभेदभाव संवन्ध अस्तित्वका है सोही समस्त विशेषनिका है। ऐसे सम्बन्धकरि अभेदवृत्ति है। तथा आपमें अनुरक्त करना उपकार अस्तित्वका है सोही अन्यगुणनिका है ऐसे उपकार करि अभेदवृत्ति है तथा जो गुणीका देश अस्तित्वका है सो ही अन्य गुणनिका है ऐसे गुण देशकरि अभेदवृत्ति है। तथा जो एक वस्तुत्व स्वरूपकरि अस्तित्वका संसर्ग है सो ही अन्य समस्त धर्म-निका है। ऐसे संसर्ग करि अभेदवृत्ति है। तथा जो अस्तित्व ऐसा शब्द अस्तित्व धर्म स्वरूप वस्तुका वाचक है सो ही वाकीके अशेष धर्म स्वरूप वस्तुका वाचक है। ऐसे शब्दकरि अभेदवृत्ति है। ऐसे पर्यायार्थिकको गौणकरि द्रव्यार्थिक पणाके प्रधानपणाते प्राप्त होय है किन्तु—

द्रव्यार्थिकको गौणकरि पर्यायार्थिक को प्रधान करि गुणनिकी कालादिक अष्ट प्रकार की अभेदवृत्ति नहीं होती क्योंकि क्षण २ प्रति और और पणाकी प्राप्ति होनेसे सर्व का काल भिन्न भिन्न है नाना गुण एक वस्तुविषे एककाल नहीं पाया जाता यदि पाया जावे तो गुणों का आधाररूप वस्तु के भी उतनेही भेद होजावेंगे इसलिये कालकरि भेदवृत्ति है। तथा तिनि गुणनिका आत्मस्वरूप भी भिन्न है। क्योंकि अभिन्न होय तो भेद कैसे होय। तातें आत्मस्वरूपकरि भेद वृत्ति है। तथा तिनिका आश्रयभी जुदा जुदाही है जो जुदा न होय तो नाना गुणका आश्रय वस्तु न ठहरे ऐसे आश्रयकरि भेदवृ[illegible] है। तथा सम्बन्धीके भेद करि भेद देखिये है। जातें अनेक [illegible]करि एक वस्तु विषे सम्बन्ध वणता

नहीं इसलियें सम्बन्धकरि भेद वृत्ति है। तथा गुणनिकरि किया उपकार प्रतिनियत जुदा जुदा ही है तातें अनेक है इसलिये उपकारकरि भेद वृत्ति है। तथा गुणीका देश है सो गुण गुणी प्रति भेदरूप है। अभेदरूप कहिये तो भिन्न पदार्थ के गुणनिं भी अभेदका प्रसंग आवें इसलिये गुण देशसे भी भेद वृत्ति है। तथा शब्द के विषय प्रति नानापणा है सर्व गुणनिका एक ही शब्द वाचक होय तो सर्वपदार्थनिका एक शब्द वाचक ठहरे तब अन्य शब्द के निरर्थकपणा आवे ऐसे शब्द करि भेद वृत्ति है। ऐसे परमार्थतें अस्तित्वादि गुणनिका वस्तुविषे अभेदका असंभव होते कालादिक करि अभेदोपचार कीजिए है। ऐसें अभेद वृत्ति अभेदोपचार भेद वृत्ति भेदोपचार इनि दोऊनितैं एक शब्द अनन्तधर्मात्मक जीवादि वस्तुको यह स्यात् शब्द है सो द्योतक है।

उपरोक्त कथन दृष्टान्तकरि स्पष्ट करिये है—जैसे कोई एक मनुष्यनामा वस्तु है सो गुण पर्यायनिकरि समुदायरूप तो द्रव्य है। और याका देहप्रमाण संकोच विस्ताररूप क्षेत्र है। तथा गर्भ तैं लेकरि मरणपर्यंत याकाकाल है तथा जितनी गुणपर्यायनिकी अवस्था है वह याके भाव है ऐसे द्रव्यादि चतुष्टय यामे गर्भित है कालादिकरि अभेदवृत्तिकरि कहिये तब जेते काल आयु बल पर्यंत मनुष्यपणा नामा गुण है तेते ही काल अन्य याके सर्व धर्म हैं। ऐसे कालकरि अभेदवृत्ति है तथा जो ही मनुष्यपणाके मनुष्यरूपकरणा आत्मरूप है सोही अनेक अन्यगुणनिके है। ऐसे आत्मरूपकरि अभेदवृत्ति है तथा जोही आधारद्रव्यनामा अर्थ मनुष्यका है सोही अन्य याके पर्यायनिका है। ऐसे अर्थकरि अभेदवृत्ति है तथा जोही अभिन्नभावरूप तादात्म्यलक्षणसम्बन्ध मनुष्यपणाके है सोही अन्य सर्वगुणनिके है ऐसे सम्बन्धकरि अभेदवृत्ति है। तथा जोही उपकार मनुष्यपणाकरि [illegible] करणा है सो ह

अन्य अवशेष गुणनिकरि करिये ऐसे उपकारकरि अभेदवृत्ति है तथा जोही गुणीका देश मनुष्यपणाका है सो ही अन्य सर्वगुणनिका है। ऐसे गुणदेशकरि अभेदवृत्ति है। तथा जोही एकवस्तुस्वरूपकरि मनुष्यपर्यायका संसर्ग है सोही अन्य अवशेष धर्मनिका है ऐसे संसर्गकरि अभेदवृत्ति है। तथा जोही मनुष्य ऐसा शब्द मनुष्यस्वरूपवस्तुका बाचक है सोही अन्य अवशेषअनेकधर्मोका है ऐसे शब्द करि अभेद वृत्ति है ऐसे पर्यायार्थिकनयके गौण होते द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतातें अभेदवृत्ति वर्णी है।

ऐसे ही द्रव्यार्थिक नय गौण होते पर्यायार्थिक प्रधान करनेसे कालादिककी अभेदवृत्ति अष्ट प्रकार नहीं वर्णी है क्योंकि क्षण क्षण प्रति मनुष्यपणा और और गुण पर्याय रूप है। इसलिये सर्वगुणपर्यायनिका भिन्न भिन्न काल है एक काल एक मनुष्य पणा विषे अनेक गुण असंभव है। यदि संभव मानिये तो गुणनिका आश्रयरूप जो मनुष्यनामा वस्तु सो जेते गुण पर्याय हैं उतने ठहरे इसलिये कालकरि भेदवृत्ति है। तथा अनेक गुणपर्यायनिकरि किया गया उपकार भी जुदा जुदा है यदि एकही मानिये तो एक मनुष्यपणा ही उपकार ठहरे ऐसे उपकारकरि भेदवृत्ति है। तथा गुणनिका देश है सो गुणगुणप्रति भेदरूपही करिहै अन्यथा-मनुष्यपणाका ही देश ठहरे अन्यका न ठहरे इसलिये गुणदेशकरि भी भेदवृत्ति है। तथा संसर्गकरिभी भेदवृत्ति है। तथा शब्द भी सर्वगुणपर्यायनिका जुदा जुदा वाचक है। एक मनुष्यपणा ऐसा ही वचन होय तो सर्वके एक शब्द वाच्यपणाकी प्राप्ति ठहरे ऐसे मनुष्यपणांने आदिकरि सर्वही गुणपर्यायनिके एक मनुष्य नाम वस्तुविषे अभेदवृत्तिका असंभवपणाते भिन्न भिन्न स्वरूपनिकरि भेदवृत्ति भेदका उपचार करिये है। ऐसे इनि दोऊ भेदवृत्ति भेदोपचार अभेदवृत्ति अभेदोपचारतें एकशब्दकरि एक मनुष्यादि वस्तु में अनेकधर्मात्मक [illegible]त्मात्मकार है वह प्रगट करने

वाला है अतः इनके सप्त भंग होते हैं। जैसे एक घटनाम वस्तु है सो कथंचित् घट है। कथंचित् अघट है। कथंचित् अवक्तव्य है कथंचित् घट अवक्तव्य है। कथंचित् अघट अवक्तव्य है। कथंचित् घट अघट अवक्तव्य है। ऐसे विधिनिषेध का मुख्य गौण विवक्षा करि निरूपण करना। तहां अपने स्वरूपकरि कथंचित् घट है। परस्वरूपकरि कथंचित् अघट है। तहां घटका ज्ञान तथा घटका अभिधान (संज्ञा) की प्रवृत्तिका कारण जो घटाकार चिन्ह सो तो घटका स्वात्मा कहिये स्वरूप है। जहां घटका ज्ञान तथा घटका नामकी प्रवृत्तिका कारण नहीं ऐसा पटादिक सो परात्मा कहिये परका स्वरूप है। सो अपने स्वरूपका ग्रहण और पर स्वरूपका त्यागकी व्यवस्था रूप ही वस्तुका वस्तुपणा है। जो आप विषें परते जुदा रहनेका परिणाम न होय तो सर्व पर घट रूप हो जायगा अथवा परते जुदा होते भी अपने स्वरूपका ग्रहण का परिणाम न होय तो गधाके सींगवत् अवस्तु ठहरे ऐसे ये विधि निषेध रूप दोय भंग होते है इसी प्रकार सब पर घटा लेने चाहियें तथा नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों पर भी घटित करलेना चाहिये। जाकी विवक्षा करिये सो तो घटका स्वात्मा है जाकी विवक्षा न करिये सो परात्मा है अतः विवक्षित स्वरूप करि तो घट है। तथा अविवक्षित स्वरूप करि अघट है जो अन्य स्वरूप भी घट हो जाय और विवक्षित स्वरूप करि न होय तो नामादिकका व्यवहार का लोप हो जाय। ऐसे ये च्यारिनिके दोय दोय भंग होते हैं अथवा विवक्षित घट शब्दवाच्य समानाकार जे घट तिनिका सामान्यकर, जे विशेषाकार घट तिनि विषें कोई एक विशेष ग्रहण करिये ता विषे जो न्यारा आकार है सो तो घट का स्वात्मा है अन्य सर्व परात्मा है। तहां अपना [illegible] है अन्य रूप करि अघट है जो अन्य रूप करि

भी घट होय तो सर्व घट एक घट मात्र होय तो सामान्याश्रय व्यवहारका लोप हो जाय। ऐसे ये दोय भंग होते हैं इहां जितना विशेष घटाकार होय उतने ही विधि निषेधके भंग होय जाय है। अथवा तिस ही घट विशेष कालान्तर स्थाई होते पूर्व उत्तर कपालादि कुशूलान्त अवस्थाका समूह सा घटका परात्मा तथा ताके मध्यवर्ती घट सो स्वात्मा सो तिस स्वात्मा करि घट है। इसलिये ताविषै ताकै कर्म वा गुण दीखते हैं।

अत: अन्य स्वरूप करि अघट है। जो कपालादि कुसूलांत स्वरूप करि भी घट होय तो घट अवस्था विषे भी तिनि की प्राप्ति होनी चाहिये। फिर तो उपजावने निमित्त तथा विनाशके निमित्त पुरुषका उद्यम निष्फल हो जायगा। तथा अंतरालवर्ती पर्याय घट स्वरूप करि भी घट न होगा इस हालतमें घट करि करने योग्य फल भी न होयगा। ऐसे ये दोय भंग होते है अथवा क्षण क्षण प्रति द्रव्यके परिणामके उपचय अपचय भेदते अर्थान्तरपना होय है याते ऋजु सूत्र नयकी अपेक्षा ते वर्तमान स्वभाव करि घट है। अतीत अनागत स्वभाव करि अघट है। ऐसे न होय तो वर्तमान की ज्यों अतीत अनागत स्वभाव करि भी घट होय तो एक समय मात्र सर्व स्वभाव होय तथा अतीत अनागतकी ज्यों वर्तमान स्वभाव भी होय तो वर्तमान घट स्वभावका अभाव होनेसे घटका आश्रय रूप व्यवहारका भी अभाव होगा जैसे विनस्या तथा नहीं उपज्या घटके घटका व्यवहार का अभाव है तैसे यह भी ठहरे ऐसे दोयभंग होय है अथवा तिस वर्तमान घट विषे रूपादिक का समुदाय परस्पर उपकार करने वाला है उन विषे पृथु बुध्नोदरादि आकार है सो घटका स्वात्मा है। अन्य सर्व परात्मा है। तिस आकारते घट है। अन्य आकार करि अघट है। घटका व्यवहार तिस ही आकारते हैं तिस विना अभाव है। अत: पृथु बुध्नोदराद्याकार करि भी घट न होय तो

घट काहेका ? यदि इतर आकारकरि घट होय तो आकारशून्य-विषे भी घटव्यवहारकी प्राप्ति आवे। ऐसे ये दोय भंग हैं। अथवा रूपादिका संनिवेश जो रचनाविशेष आकार तहां नेत्रकरि घट-ग्रहण होय है। तहां व्यवहारविषे रूपको प्रधानकरि घटग्रहण कीजि-ये तहां रूप घटका स्वात्मा है और उसमें रसादिक हैं वह परात्मा है सो घटरूपकरि तो घट है। रसादिककरि अघट है। जातें ते रसादिक न्यारे इंद्रियनिकरि ग्राह्य हैं। जे नेत्र करि घटग्रहण कीजिये हैं तैसे रसादिक भी ग्रहण करे तो सर्वके रूपपणाका प्रसंग आवे इस हालतमें अन्य इन्द्रियनिकी कल्पना निरर्थक होय क्योंकि रसादिककी ज्यों रूप भी घट ऐसा नेत्र नाहीं ग्रहण करे तो नेत्रगोचरता या घटमें न होय। ऐसे ये दोय भंग होय हैं। अथवा शब्दके भेदतें अर्थका भेद अवश्य है। इस न्यायकरि घट कुट शब्दनिके अर्थभेद है। तातें घटनेते तो घट नाम है और कुटिलताते कुटिल नाम है अतः तिसक्रियारूप परिणतिके समयही तिस शब्दकी प्रवृत्ति होय है इस न्यायसे घटनक्रियाविषे कर्तापणा है सो ही घटका स्वात्मा है। कुटिलतादिक परात्मा हैं तहां घटक्रियापरिणति क्षणही में घट है। अन्य क्रियामें अघट है जो घटन क्रियापरिणतिमुख्यताकरि भी घट न होय तो घटव्यव-हारकी निवृत्ति होय अथवा जो अन्यक्रिया अपेक्षा भी घट होय तो तिस क्रियाकरि रहित जे पटादिक तिनिविषे भी घटशब्दकी प्रवृत्ति होय। ऐसे ये दोय भंग भये। अथवा घटशब्द उच्चारणते उपजा जो घटके आकार उपयोग ज्ञान सो तो घटका स्वात्मा है तथा बाह्य घटाकार है सो परात्मा है बाह्यघटके अभाव होते भी घटका व्यवहार है सो घट उपयोगाकार करि तो घट है तथा बाह्याकारकरि अघट है। जो उपयोगाकार घटस्वरूपकरि भी अघट होय तो वक्ता श्रोताके हेतुफलभूत जो उपयोगाकार घटके अभावतें तिस आधीन व्यवहारका भी अभाव होय अथवा जो उपयोगसे दूरवर्ती जो बाह्य घट भी घट होय तो पटादिकके भी

घट का प्रसंग आवे ऐसे दोय भंग ये भये अथवा चैतन्यशक्ति दो आकार है। एक ज्ञानाकार है एक ज्ञेयाकार है। तहां ज्ञेयते जुड्या नाही ऐसा आरसाका, विना प्रतिविम्ब आकारवत् तो ज्ञानाकार है तथा ज्ञेयते जुड्या प्रतिबिम्बसहित आरसाका आकारवत् ज्ञेयाकार है।

तहां घटज्ञेयाकाररूप ज्ञान तो घटका स्वात्मा है। घटका व्यवहार याही ते चले है तथा विना घटाकार ज्ञान है सो परात्मा है याते सर्व ज्ञेय ते साधारण हैं। अतः घट ज्ञेयाकारकरि तो घट है विना घटाकार ज्ञानकरि अघट है। जो ज्ञेयाकार भी घट न होय तो तिसके आश्रय जो करने योग्य कार्य है ताका अभाव होय। अतः ज्ञानाकारकरि भी घट होय तो पटादिकका आकार भी ज्ञानका आकार है सो भी घट ठहरे। ऐसे ये भी दोय भंग भए इन दोय दोय भंगों के अतिरिक्त इनके पांच पांच भंग और करने से सबके सात सात भंग हो जाते हैं।

एक घट एक अघट ऐसे दोय भेद कहे ते परस्पर भिन्न नहीं हैं जो जुदे होय तो एक आधारपणा करि दोऊके नामकी तथा दोऊ के ज्ञानकी एक घट वस्तुविषै वृत्ति न होय घट पट वत् तो परस्पर अविनाभावहोने दोऊ में एक का अभावही से दोऊका अभाव हो जाय तब इसके आश्रय जो व्यवहार ताका लोप होय इसलिये यह घट है सो घट अघट दोऊ स्वरूप है सो अनुक्रमकरि तो वचन गोचर है। परन्तु जो घट अघट दोऊ स्वरूप को घट ही कहिये तो अघटका ग्रहण न होय अथवा अघटही कहिये तो घटका ग्रहण न होय इसलिये एकही शब्द करि एक काल दोऊ कहने में न आवे ताते अवक्तव्य है तथा घट स्वरूप की मुख्यताकरि कह्या जो वक्तव्य सो युगपत् न कहा जाय ताकी मुख्यता करि घट अवक्तव्य है तथा इसी प्रकार अघट भी अवक्तव्य है तथा क्रम-करि दोऊ कहे जायें युगपत् न कहे जाय इसलिये घट अघट दोऊ

कारण यही है कि वस्तु केवल अंशमात्र ही नहीं है अंशोंका समुदायरूप वस्तु है इसलिये अंशरूपवस्तु सत्यार्थ नहीं होनेसे अंशरूप वस्तु भी अपरमार्थभूत ही है और अंशरूप वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला व्यवहारनय भी अपरमार्थभूत ही है। क्यों कि एकान्तवादसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये आचार्योंने एकान्तवादका परिहार करनेके लिये ही स्याद्वादशैलीको अपनाया है इसके विना वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि वस्तुस्वरूपही ऐसा है वह एकान्तवादसे सिद्ध नही होता इसलिये वस्तु एकरूप है अनेक रूप है, भेदरूप है अभेदरूप है, अस्तिरूप है, नास्तिरूप है, इत्यादिक अनन्तधर्मात्मकस्वरूप वस्तु है उसका कथन एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके किया जाय तो वह कथन सत्यार्थ ही है। क्योंकि वचनमें यह ताकत नहीं है कि वह अनन्तधर्मोंको एक साथ कह सके इसलिये वही वचन सत्यार्थ है जो दूसरे धर्मोंके सापेक्ष वस्तुके एक धर्मका प्रतिपादन करे। सारांश यह है—वचनके कहे विना तो वस्तुस्वरूपका बोध होता नहीं और वचन है सो संख्यात ही है इसलिये वह वस्तुके अनन्तधर्मोंका प्रतिपादन एकसाथ कर नहीं सकता, वह क्रमक्रमसे ही कर सकता है। अतः क्रम क्रमसे कथन करना तबही सत्यार्थ होसकता है जब कि वह एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके कथन करे यदि वह दूसरे धर्मको गौण न करे एक धर्मको कहे तो वह वचन मिथ्या है इसलिये आचार्य कहते हैं कि—

अनेकान्तोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षाः वस्तुतेऽर्थकृत्। न्यायदीपिका

अर्थात् प्रमाणनयोंसे सिद्ध होनेवाला अनेकांत भी अनेकांत है यदि प्रमाणके एक देशको निश्चयात्मक केवल स्वभाव पर्यायको या केवल व्यवहारात्मक विभावपर्यायको ग्रहण करनेवाला निश्चय

और व्यवहारनयोंको परस्परसापेक्ष न माना जाय एवं केवल नि-
श्चयनयको या केवल व्यवहारनयको ही एकान्तरूपसे पकड़ कर
प्रतिपादन कियाजाय तो वह कथन मिथ्या एवं वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध
ठहरेगा। क्योंकि वस्तुके एकदेशकोही एक नय एक समय में
जानता है। इसलिये निरपेक्ष नय मिथ्या है। तथा परस्पर सापेक्ष
नय निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा रखकर वस्तुको ग्रहण करेगा तो
समस्त वस्तुस्वरूपका ग्रहण हो जायगा इसीका नाम-प्रमाण है।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्रीप्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम्" ।

अर्थात्—विधि पूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि
होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनूंकी जो मैत्री है वही
प्रमाण कहलाता है। अथवा स्व पर को जाननेवाला जो ज्ञान है
वही प्रमाण कहलाता है। स्पष्टीकरण—

अयमर्थोर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयः स्यादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः॥

अर्थात्—अर्थाकार पदार्थाकार परिणमन करनेका नामही अर्थ
विकल्प है। यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प
होता है, एक अंश को विषय करता है तब वह नयाधीन नया-
त्मक ज्ञान कहलाता है। और वही ज्ञान उभय विकल्प होता है,
पदार्थ के दोनों अंशोंको विषय करता है तो वह प्रमाणरूप ज्ञान
कहलाता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानं।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं वलादृद्धयामर्शि॥

अर्थात्—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यह है कि.
जीवादि पदार्थोंमे व्यवहार और निश्चयके विचार पूर्वक ज्ञान है
वही प्रमाण ज्ञान है अथवा पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण

अवक्तव्य हैं। ऐसे यह सप्तभंगी सम्यग्दर्शनादिक तथा जीवादिक पदार्थनिविषै द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयका मुख्य गौण भेद करि लगानेसे अनन्तवस्तु अनन्तधर्मके परस्पर विधिनिषेधते अनन्त सप्त भंगीहोय हैं। इनिका सर्वथा एकान्त अभिप्राय होय तो मिथ्या वाद है इसी प्रकार सप्तभंगी प्रमाण और नयोंमेंभी होती है वहां प्रमाण का विषय तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु है तहां एक ही वस्तु का वचन के सर्व धर्मनिकी अभेदवृत्ति करि तथा अन्य वस्तु के अभेदके उपचार करि प्रमाण सप्तभंगी होय है। तथा नय का विषय एक धर्म है ताते तिस धर्म की भेदवृत्ति करि तथा अन्य नय का विषय जो अन्य धर्म ताके भेदके उपचारकरि नय सप्त भंगी होय है (शंका) अनेकान्त हो है ऐसे भी एकान्त आवे है व अनेकान्त कैसे रहा? ताका समाधान—यह सत्य है जो अनेकान्त है सो भी अनेकान्त ही है जाते प्रमाण वचन करि तो अनेकान्त ही है। तथा नय वचन करि एकान्त ही है। ऐसे एकान्त ही सम्यक है जहां प्रमाणकी सापेक्षा है। और जहां निरपेक्ष एकान्त है सो मिथ्या है। इहां फेर शंका—अनेकान्त तो छलमात्र है पैलेकी युक्ति वाधने का छलका अवलम्बन है। समाधान-छलका लक्षण तो अर्थ का विकल्प उपजाय पैलेका वचन खण्डन करना है। सो अनेकान्त ऐसा नहीं है। क्योंकि वह तो धर्म को प्रधान गौण की अपेक्षाकरि वस्तु जैसी है वैसी कहे है इसमें छल काहेका है।

फेर यदि कोई यह शंका करे कि दोय पक्षका साधन तो संशयका कारण है उत्तर-दोपक्ष साधना संशयका कारण नहीं है संशय मिटाने का कारण है संशयतो तब होय जबकि दोऊ पक्षका निश्चय न होय। परन्तु यहा तो अनेकान्तविषै दोऊपक्षके विषय प्रत्यक्ष निश्चित हैं इसलिये संशयका कारण नहीं है और विरोध भी नहीं है क्योंकि नय करि ग्रहें जे विरुद्ध धर्म तिनिका मुख्यगौणके कथनके भेदते सर्वथा भेद नहीं है। जैसे एक ही पुरुषविषै पितापणा पुत्र

पणा इत्यादिक विरुद्ध धर्म है तिनिके कहनेका मुख्य गौणविवक्षाकरि विरोध नहीं है तेसे इहां भी जानलेना । इस उपरोक्त श्लोकवार्तिक के कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि नय प्रमाण परस्पर सापेक्ष रहते जो भी वस्तुस्वरूपका कथन किया जाता है वह सब सत्यार्थ है क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है उन अनन्त धर्मोंकी सिद्धि भेदरूप कथनसे ही होगी । भेदरूप कथन करना व्यवहार नय का विषय है । तथा पदार्थ गुण गुणी अभेदरूप भी है अतः उसका अभेदरूप ग्रहण करना निश्चयनयका विषय है । तथा पदार्थ गुण गुणी भेदाभेदरूप भी है इस लिये पदार्थका भेदाभेदरूपसे ग्रहण करना प्रमाणका विषय है अर्थात् वस्तुके भेद और अंशका ग्रहण करने वाला व्यवहार और निश्चय नय है । तथा वस्तुके भेदाभेद अशोंको एक साथ समकालीन ग्रहण करना प्रमाण का विषय है इसलिये वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन जिस दृष्टिसे किया जाता है उस दृष्टिसे वह कथन सत्यार्थ होने से परमार्थ भूत है क्योंकि वस्तुस्वरूपको छोडकर कोई भी प्रमाण नय निक्षेप कथन नही करता । कोई भेदरूप कथनकरि वस्तुका स्वरूप सिद्ध करता है । कोई अभेदरूप कथन करि वस्तुस्वरूपको सिद्ध करता है । कोई भेदाभेदरूप कथन करि वस्तुस्वरूपको सिद्ध करता है इसप्रकार प्रयोजनवश वस्तुका भेदरूप अभेदरूप भेदाभेदरूप कथन किया जाता है । वह वस्तुसे भेद भी भिन्न नहीं, अभेद भी भिन्न नहीं है, भेदाभेद भी भिन्न नहीं है । अतः सब तरहसे वस्तुस्वरूप की ही सिद्धि होती है और वस्तुस्वरूपमें संदेह संकरादिदोषोंका निराकरण होता है भेदरूप वस्तुका प्रतिपादन करने से वस्तु इन गुणोंवाली है ऐसा दृढ श्रद्धान होजाता है अतः वस्तु स्वरूपका दृढश्रद्धान होना ही तो सम्यक्त्व है । आचार्योंने जो भेदरूपवस्तुको अपरमार्थभूत कहा है तथा भेदरूपवस्तुका प्रतिपादन करनेवाला व्यवहारनयको भी अपरमार्थभूत कहा है सो इसका

कारण यही है कि वस्तु केवल अंशमात्र ही नहीं है अंशोंका समुदायरूप वस्तु है इसलिये अंशरूपवस्तु सत्यार्थ नहीं होनेसे अंशरूप वस्तु भी अपरमार्थभूत ही है और अंशरूप वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला व्यवहारनय भी अपरमार्थभूत ही है। क्यों कि एकान्तवादसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये आचार्योंने एकान्तवादका परिहार करनेके लिये ही स्याद्वादशैलीको अपनाया है इसके विना वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि वस्तुस्वरूपही ऐसा है वह एकान्तवादसे सिद्ध नहीं होता इसलिये वस्तु एकरूप है अनेक रूप है, भेदरूप है अभेदरूप है, अस्तिरूप है, नास्तिरूप है, इत्यादिक अनन्तधर्मात्मकस्वरूप वस्तु है उसका कथन एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके किया जाय तो वह कथन सत्यार्थ ही है। क्योंकि वचनमें यह ताकत नहीं है कि वह अनन्तधर्मोंको एक साथ कह सके इसलिये वही वचन सत्यार्थ है जो दूसरे धर्मोंके सापेक्ष वस्तुके एक धर्मका प्रतिपादन करे। सारांश यह है—वचनके कहे विना तो वस्तुस्वरूपका बोध होता नही और वचन है सो संख्यात ही है इसलिये वह वस्तुके अनन्तधर्मोंका प्रतिपादन एकसाथ कर नहीं सकता, वह क्रमक्रमसे ही कर सकता है। अतः क्रम क्रमसे कथन करना तवही सत्यार्थ होसकता है जब कि वह एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके कथन करे यदि वह दूसरे धर्मको गौण न करे एक धर्मको कहे तो वह वचन मिथ्या है इसलिये आचार्य कहते है कि—

अनेकान्तोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षाः वस्तुतेऽर्थकृत्। न्यायदीपिका

अर्थात् प्रमाणनयोंसे सिद्ध होनेवाला अनेकांत भी अनेकांत है यदि प्रमाणके एक देशको निश्चयात्मक केवल स्वभाव पर्यायको या केवल व्यवहारात्मक विभावपर्यायको ग्रहण करनेवाला निश्चय

और व्यवहारनयोंको परस्परसापेक्ष न माना जाय एवं केवल नि-श्चयनयको या केवल व्यवहारनयको ही एकान्तरूपसे पकड़ कर प्रतिपादन कियाजाय तो वह कथन मिथ्या एवं वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध ठहरेगा। क्योंकि वस्तुके एकदेशकोही एक नय एक समय में जानता है। इसलिये निरपेक्ष नय मिथ्या है। तथा परस्पर सापेक्ष नय निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा रखकर वस्तुको ग्रहण करेगा तो समस्त वस्तुस्वरूपका ग्रहण हो जायगा इसीका नाम प्रमाण है।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्रीप्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम्" ।

अर्थात्—विधि पूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनूं की जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है। अथवा स्व पर को जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है। स्पष्टीकरण—

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयः स्यादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः॥

अर्थात्—अर्थाकार पदार्थाकार परिणमन करनेका नामही अर्थ विकल्प है। यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है, एक अंश को विषय करता है तब वह नयाधीन नया-त्मक ज्ञान कहलाता है। और वही ज्ञान उभय विकल्प होता है, पदार्थ के दोनों अंशोंको विषय करता है तो वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानं।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलाद्द्वयामर्शि॥

अर्थात्—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यह है कि जीवादि पदार्थोंमें व्यवहार और निश्चयके विचार पूर्वक ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है अथवा पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण

ज्ञान है जैसे—यह वही है इस प्रकारका ज्ञान एक वस्तुकी सामान्य विशेष दोनों अवस्थाओंको एक समयमें ग्रहण करता है । प्रमाण का फल:—

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आद्यप्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥

अर्थ—सम्पूर्ण वस्तु मात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना ही प्रमाणका फल है । प्रमाण नाम प्रमाण है इसमें अप्रमाणकी कोई बात नहीं रहती क्योंकि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' सम्यग्ज्ञान है वही प्रमाण है जिसके द्वारा पदार्थ प्रत्यक्षके समान भासता है फिर उसमें अप्रमाणता की बात ही क्या है । अतः प्रमाण वस्तुके सर्व-धर्मोंको विषय करता है और नय वस्तुके एक देशको ग्रहण करता है । इसलिये प्रमाण और नयमें विषय विशेषकी अपेक्षा से भेद है तथापि दोनों ही ज्ञान ज्ञानात्मक होनेसे इनमें कुछभी भेद नहीं है इसलिये इनमेंसे किसी एकका लोप करनेसे सर्वके लोपके प्रसंगका हेतु है । क्योंकि नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सकती और प्रमाण के अभावमें नयकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती दोनोंकी व्यवस्था के विना वस्तुरूप का भी बोध हो नहीं सकता इसलिये इनमें से किसी एकको अपरमार्थभूत समझ कर उसका लोप करना वस्तु स्वरूपका ही लोप करना है । यह बात उपरोक्त कथनसे अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी । इसलिये प्रमाण नय निक्षेप इनमें से किसीका भी कथन वस्तु स्वरूपको छोडकर नहीं है ये सब ही वस्तु स्वरूपकी ही सिद्धि करते हैं । जिस प्रकार वस्तु स्वरूपसें वस्तुके गुण धर्म अभिन्न है उसी प्रकार प्रमाणसे नय निक्षेप भी अभिन्न है प्रमाण स्वाधीन है दीपवत् स्व पर प्रकाशक है । तथा नाम स्थापना द्रव्य ये तीन निक्षेप तौ द्रव्यार्थिक नयाधीन है । नय प्रमाणाधीन है और निक्षेप नयाधीन है ।

तथा भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय है। तथा निक्षेप विषय विषयीके भेदसे जुदे भी है।

सत्यं गुणसापेक्षो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः।

य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः।

७४० पंचाध्यायी

अर्थात् नय तो गौण और मुख्य की अपेक्षा रखता है। इसलिये वह विपक्ष सहित है नय सदा आपने विवक्षित पक्षका स्वामी है। अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ रहता है और दूसरे प्रति पक्षकी अपेक्षा भी रखता है। किन्तु निक्षेपमें यह बात नहीं है। यहां तो गौण पदार्थमें मुख्यका आक्षेप किया जाता है इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है। निक्षेप और नयमें सबसे बडा भेद तो यह है कि नय तो ज्ञान विकल्प रूप है और निक्षेप पदार्थोंमें व्यवहारके लिये हुये संकेतोंका नाम है। अतः संकेत करि कहीं तो तद्गुण होता है और कहीं पर अतद्गुण होता है नय और निक्षेपमें विषय विषयी सम्बन्ध है। नय विषय करने वाला ज्ञान है और निक्षेप उसका विषयभूत पदार्थ है। इसलिये नयोंके कहनेसे ही निक्षेपोंका विवेचन स्वयं हो जाता है। अतः इनका स्वतंत्र उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह शंका हो सकती है कि जब निक्षेप नयका ही विषय है तो फिर चार निक्षेपोंका स्वतंत्र विवेचन सूत्रों द्वारा ग्रंथकारोंने किसलिये किया है? इसके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि केवल समझाने के लिये निक्षेपों का निरूपण किया गया है। अन्यथा विषयभूत पदार्थों में ही वे गर्भित हो जाते हैं। दूसरे भिन्न भिन्न व्यवहार चलाना ही निक्षेपोंका प्रयोजन है। इसलिये उस प्रयोजनको स्पष्ट करनेके लिये ग्रंथकारोंने उनका निरूपण

किया है। श्लोक में "गुणाक्षेप:" पद आया है उसका अर्थ चारों निक्षेपोंमें इस प्रकार घटित कर लेना चाहिये।

नाम गौण पदार्थमें अर्थात् अतद्गुण पदार्थमें केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप, स्थापना में अतद्गुण पदार्थमें किया हुआ गुणोंका आक्षेप, द्रव्यमें भावि अथवा भूत तद्गुण में वर्तमान वत् किया हुआ गुणोंका आक्षेप, भावमें वर्तमान तद्गुणमें किया हुआ वर्तमान गुणोंका आक्षेप, इस प्रकार गौणमें आक्षेप अथवा गुणोंका आक्षेप ही निक्षेप है। नाम स्थापना द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयका विषय है। भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है। अन्तर नयोंकी अपेक्षा नाम निक्षेप तो समभिरूढ नय का विषय है। स्थापना और द्रव्य निक्षेप नैगम नयका विषय है। भाव निक्षेप ऋजु सूत्र तथा एवं भूत नयका विषय है।

नय प्रमाणका विषय और भी आचार्य स्पष्ट करते हैं—

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥७४७॥

अर्थात्—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् वचनके अगोचर है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है। तथा तत्त्व द्रव्य गुण पर्याय वाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है अर्थात् तत्त्वमें अभेद बुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय है और उसमें भेद बुद्धि होना पर्यायार्थिक नय है?

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्यायवत्तदेव नास्त्यन्यत्।
गुणपर्यायवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अर्थात्—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है अन्य नहीं है। तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है वही तत्त्व है यही प्रमाणका विषय है। भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है वस्तुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकका विषय है उसका विशेषांश

पर्यायार्थिक का विषय है। तथा सामान्य विशेषात्मक उभयात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है। प्रमाण एक ही समय में अविरुद्ध रीतिसे दोनों धर्मोंको विषय करता है।

भेदअभेदपक्ष—यद्द्रव्यंत न्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात्। पर्यायोपि यथा स्याद् ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥७५०॥

अर्थात्—जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नहीं है। यह ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिकका पक्ष है क्योंकि भेद पक्षही पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय का पक्ष है तथा जो द्रव्य है वही गुण है जो गुण है वही द्रव्य है क्योंकि गुण द्रव्य दोनोंका एक ही अर्थ है यह अभेद पक्ष द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय का पक्ष है। तथा भेद और अभेद इन दोनों पक्षोंमें समर्थ विवक्षित प्रमाण पक्ष है। अतः—

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेषश्च यस्मात्।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे॥

७५१ पंचाध्यायी

अर्थात्—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोंका स्वतंत्र निरूपण करने की आवश्यक्ता नहीं है क्योंकि निक्षेपोंका उदाहरण नयों के विवेचन में नियमसे किया गया है॥

एकअनेकपक्ष—अस्ति द्रव्यं गुणोथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकं व्यवहारविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थात्—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय यह तीनोंही अनेक हैं व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक संज्ञक कहलाता है। क्योंकि

व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक, अनेक पर्याय-र्थिक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायोऽथवा नाम्ना ,

इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः । ७५३ । पं०

अर्थात्—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय यह तीनों ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं। अतः यह तीनों ही अभिन्न एक सत् रूप हैं, एक के कहनेसे बाकीके दोनोंका बिना कहे ही ग्रहण हो जाता है। यही एक नयका पक्ष है। सो पर्यायार्थिक नय है।

न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात् ।

व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥

७५४ पंचाध्यायी

अर्थात् न द्रव्य है न गुण है न पर्याय है और न विकल्प द्वारा प्रगट है किन्तु निरंश देशात्मक तत्त्व है। यह शुद्ध द्रव्या-र्थिकनयका पक्ष है।

"द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।

तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥

७५५ पंचाध्यायी

अर्थात् कारणवश जो सतद्रव्य गुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है। वही सत् अंश रहित होने से अभिन्न एक है। यह एक अनेकात्मक उभय रूप प्रमाण पक्ष है।

अस्तिनास्तिपक्ष—

"अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।

अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः" ॥

७५६ पंचाध्यायी

अर्थात् वस्तु सामान्य मात्र से है अथवा विशेष मात्र से है जबतक विपक्ष नय अविवक्षित गौण रहता है तबतक अन्य रूप से यह अस्ति नय ही प्रधान रहता है।

"नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यविवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः॥

पंचाध्यायी ७५७

अर्थ—वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषसे नहीं है। अथवा विशेषकी अविवक्षामें सामान्य रूपसे नहीं है यहां पर नास्ति नय ही प्रधान रहता है।

"द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु

७५८ पंचाध्यायी

अर्थात् द्रव्यार्थिक नय (निश्चय) की अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तिरूप नहीं है। क्योंकि सर्व विकल्पोंसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है इस अपेक्षा निश्चय नयसे भी वस्तु स्वरूप अतीत है।

"यदिदं नास्तिस्वरूपाभावादस्तिस्वरूपसद्भावात्।
तदिदं वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वप्रमाणपक्षस्य"॥

७५९ पंचाध्यायी

अर्थात् जो वस्तु स्वरूपाभाव से नास्ति रूप है। और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत अवक्तव्य है। यह सर्व प्रमाणपक्ष है अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तिरूप और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

नित्य अनित्यपक्ष—

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत्।

व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयप्रसिद्धः स्यात् ॥

७६० पंचाध्यायी

अर्थात् सत्पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है यह प्रसिद्ध व्यवहार विशिष्ट अनित्यनय अर्थात् व्यवहार नय है।

"नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः।
व्यवहारान्तरभूतो नयः स नित्योप्यनन्यशरणः स्यात्।

पंचाध्यायी ७६१

अर्थात् सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। किन्तु अन्यथा भाव न होनेसे वह नित्य है। यह अनन्य शरण स्वपक्ष नियत नित्यव्यवहार नय है।

"न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात्।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षस्य" ॥

७६२ पंचाध्यायी

अर्थात् जिस प्रकार वस्तु नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नहीं होता है तथा वह ध्रुव भी नहीं है। यह केवल निश्चय नयका पक्ष है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही एक समयमें होने वाली सत् की पर्याय है। इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है। किन्तु निश्चय नय सर्वविकल्पोंसे रहित वस्तुको विषय करता है।

"यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम्।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥

७६३ पंचाध्यायी

अर्थात् जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषोंसे नहीं है, वहीं वस्तु सामान्यकी विवक्षासे है। यही सामान्य रीति से प्रमाण पक्ष है।

अर्थात् विशेष नाम पर्यायका है पर्यायें अनित्य होती हैं। इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है। सामान्यकी अपेक्षा से वह नित्य भी है। प्रमाण की अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है।

भाव अभाव पक्ष

"अभिनवभावपरिणतेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः।।

७६४ पंचाध्यायी

अर्थात् नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होता है ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयोंमें अभाव नय है।

परिणममानेपि तथाभूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि।
नायं पूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ७६५ पंचा०

अर्थ—वस्तुके परिणमन करने पर भी तथा उनके पूर्वभावों के विनिष्ट होने पर भी वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसा का तैसा ही रहता है यह पर्यायार्थिक भाव नय है।

"शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा॥

७६६ पंचाध्यायी

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है। तथा प्राचीन भाव भी नहीं रहता है। क्योंकि वस्तु न तो अभूत पूर्व है और न भूतपूर्व है अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थि-

क नय की दृष्टिसे वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत्।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत्॥

७६७ पंचाध्यायी

अर्थात् जो सत् प्रतिक्षण नवीन नवीन भावोंसे परिणमन करता है वह न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यही प्रमाण का पक्ष है।

इत्यादियथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम्।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावसंयुक्तम् ७६८ पंचा०

अर्थात् इत्यादि अनेक धर्मों को धारण करने वाला और भी अनेक नय समूह जो यहां पर नहीं कहा गया है उसे भी कहे हुये के समान समझना चाहिये। तथा हर एक नय को आगमके अनुसार यथा योग्य अपेक्षा से घटा लेना चाहिये।

अन्यथा वस्तु स्वरूप समझ में नहीं आता।

उपरोक्त प्रमाण नय निक्षेपों के कथन से व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ है यह बात खण्डित हो चुकी। क्योंकि व्यवहार नय भी वस्तु स्वरूप के भेदांश का ही प्रतिपादक है अतः यह नय वस्तु के भेद रूप अंश का ज्ञान कराता है। उसी प्रकार निश्चय नय वस्तु के अभेद रूप अंश का बोध कराता है दोनों नय अपने अपने पक्ष के कथन करने में स्वतन्त्र हैं तो भी अपर नय की अपेक्षा अवश्य रखता है तभी उनका कहना सार्थक समझा जाता है अन्यथा नहीं। यह बात ऊपर अच्छी तरह सिद्ध को जा चुकी है दोनों ही नय वस्तु के सर्वांश के प्रतिपादक नहीं हैं। क्योंकि "विकलादेशो नयाः" नय का लक्षण ही ऐसा है अतः निश्चय

नय भी वस्तु के द्रव्यांश का ग्राही है। और व्यवहार नय पर्यायांश का ग्राही है। अतः दोनों ही नय वस्तु का आंशिक रूप का ग्राही है। इसलिये जिस प्रकार पर्यायांश का ग्राही व्यवहार नय मिथ्या है उसी प्रकार द्रव्यांश का ग्राही निश्चय नय भी मिथ्या क्यों नहीं? तथा जिस प्रकार व्यवहार नय विकल्पात्मक है, उसी प्रकार निश्चय नय भी सविकल्पक है। व्यवहार नय का विधि रूप विकल्प है। और निश्चय नय का निषेध रूप विकल्प है। इसलिये दोनों ही सविकल्पक है अतः विकल्प की अपेक्षा एक को मिथ्या एक को सत्य कहना यह भी उचित नहीं है। अथवा वस्तु स्वरूप निरंश है, वचन अगोचर है इसलिये वह वचन द्वारा कहने में न आवे है। इस कारण वह नय का विषय भी नहीं है वह अनुभव गम्य है।

"सत्यं किन्तु विशेपो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात्"॥

अर्थात्—ठीक है परन्तु निश्चय नय से भी विशेष कोई है वह सूक्ष्म है इसलिये वह गुरु के ही उपदेश योग्य है सिवाय महनीयगुरु के उसका स्वरूप कोई नहीं बतला सकता वह विशेष स्वात्मानुभूति की महिमा है इसलिये वह निश्चय नय से भी अति सूक्ष्म है और भिन्न है। अतः वह वस्तु स्वरूप निश्चय नय के भी गम्य नहीं है इस कारण निश्चय-नय का जानपणा भी अधूरा ही है इसलिये वह भी अपरमार्थभूत है।

"तस्माद् द्रव्य व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतु स्यात्
अयं मेऽहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात्"॥

६५३ पंचाध्यायी

अर्थात् इसलिये व्यवहार नय के समान निश्चय नय भी स्वानुभूति कारण नहीं है क्योंकि उसमे भी यह आत्मा है

मैं इस का स्वामी हूं ऐसा मत पदार्थ में अवश्यंभावी विकल्प उठता है। और विकल्पमें स्वानुभूति नहीं होती।

अथवा निश्चयावलम्बी को भी आचार्योंने मिथ्यादृष्टि बतलाया है।

"उभयं णयं विभणियं जाणइ णवरंतु समयपडिबद्धो।
ण हु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो"

अर्थात्—जो दोय प्रकार का नय कहा गया है उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु वह किसी भी नय का पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह नय पक्ष से रहित है। अतः उपरोक्त गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि निश्चय नय का भी अवलम्बन नहीं करता है। दूसरी बात यह भी है कि निश्चय नयको भी आचार्यों ने सविकल्पक बतलाया है। और जितना सविकल्पक ज्ञान है उसे अभूतार्थ बतलाया है। जैसा कि कहा गया है

"यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थः"

इसलिये सविकल्प ज्ञानात्मक होने से भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध हो जाता है। तथा अनुभव में भी यही बात आती है—जितने भी नय हैं सभी परसमय मिथ्या है। और उनका अवलम्बन करने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। इसलिये सम्यग्दृष्टि नय पक्ष नहीं करता।

जे न करें नयपक्ष विवाद धरे न विषाद अलीक न भाखें
जे उदवेग तजे घट अंतर सीतलभाव निरंतर राखें।
जे न गुणीगुण भेद विचारत आकुलता मनकी सब नाखें

ते जगमें धरि आतमध्यान अखंडित ज्ञान सुधारस चाखें।

सम्यग्दृष्टिकेलिये दोनूही नय अभूतार्थ हैं। वह किसी नयकी पक्ष ग्रहण नहीं करता वह केवल नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूप समझ लेता है। अतः नयकी पक्ष करना मिथ्यात्व है।

जो हिय अंध विकल मिथ्यात धर मृषा सकल विकलप उपजावत। गहि एकान्तपक्ष आतमको करता मानि अधो-मुख धावत। त्यों जिनमति द्रव्यचारित्रकर करनी करि करतार कहावत। वांछित मुक्ति तथापि मूढ़मति विन समकित भवपार न पावत॥ कोई मूढ विकल एकान्त पक्ष गहे कहै आतमा अकरतार पूरण परम है। तिनसों जु कोउ कहै जीव करता है तासे फेर कहै कर्मको करता करम है। ऐसे मिथ्यामगन मिथ्याति ब्रह्मघाती जीव जिनके हिये अनादि मोहको भरम है। तिनके मिथ्यात्व दूर करवेकूं कहै गुरु स्याद्वाद-परमाण आतम धरम है।

अर्थात्—एकान्तपक्षको ग्रहण करनेवाले जीवको आचार्योंने मिथ्याती ब्रह्मघाती बतलाया है इसलिये आचार्य कहते है कि व्यवहारनिश्चय दोनों नयों से वस्तुस्वरूप समझनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

निहचैं अभेद अंग उदे गुणकी तरंग उद्यमकी रीति लिये उद्धता शकति है। परयायरूप प्रमाण सूक्षमस्वभाव कालकी नी ढाल परिणाम चक्रगति है। याहि भांति आतमदरवके अनेक अंग एक मानै एकको न मानै सो कुमति है। एक

डारि एक में अनेक खोजै सो सुबुद्धि खोजि जीवै वादि मरै साँची कहावति है। एक में अनेक है अनेक ही में एक है सो एक न अनेक कछु कह्यो न परत है। करता अकरता है भोगता अभोगता है उपजे न उपजत मरे न मरत है। बोलत विचारत न बोले न विचारे कछू भेखको न भाजन पै भेख सो धरत है। ऐसे प्रभु चेतन अचेतनकी संगतीसों उलट पलट नटबाजी सी करत है॥

इसलिये आचार्य कहते हैं कि—

केई कहे जीव क्षणभंगुर केई कहे कर्मकरतार।
केई कर्मरहित नित जंपहि नय अनन्त नाना परकार॥
जे एकान्त गहे ते मूरख पंडित अनेकान्त पखधार।
जैसे—भिन्न मुकतागण गुणसों, गहत कहावै हार॥

सर्वविशुद्धिअधिकार

इस उपरोक्त कथनसे यह भलीभांति समझमें आजाता है कि स्याद्वादसे ही वस्तुस्वरूपकी सिद्धि होती है। एकान्तवादसे नहीं क्योंकि पदार्थ अनन्तगुणात्मक है उन अनन्तगुणोंका बोध करानेवाली नयभी अनंत हैं वह मूल दोभेदोंमें बंटी हुई है। एक द्रव्यार्थिक और दूसरी पर्यायार्थिक, इन्हीका नाम निश्चय और व्यवहार भी है अर्थात् द्रव्यार्थिक कहो या निश्चय कहो। पर्यायार्थिक कहो या व्यवहार कहो। एकही बात है। निश्चयनय तो एक ही है वह अनेक नहीं है। इसका कारण यह है कि वह द्रव्यको अखंड अभेदरूपसे ग्रहण करता है। वह पदार्थमें भेदका उत्पादक नहीं है भेदके बिना अनेकता आ नहीं सकती इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि—

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥

अर्थात्–शंकाकारकी यह शंका थी कि जिस प्रकार अनेक अंश सहित होनेसे व्यवहार नय अनेक है। उसी प्रकार व्यवहार नयके समान निश्चय नय भी अनेक होना चाहिये क्योंकि व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित द्रव्यके अंशोंका यह निषेध करता है

अर्थात्–आत्मा सत् रूप है, चैतन्य रूप है, दर्शन ज्ञान चारित्र रूप है इत्यादि अनन्त गुणोंका अखंडपिण्ड एक आत्मा उसमें व्यवहार नय द्वारा भेद किया जाता है उसका निश्चय नय निषेध करता है कि आत्मा सत् रूप भी नहीं है, चैतन्य रूप भी नहीं है दर्शन ज्ञान चारित्र रूप भी नहीं है। इत्यादि व्यवहारनयके अनेक विकल्पोंका निषेध करने वाला निश्चय नय भी व्यवहार नयकी तरह अनेक होना चाहिये अर्थात् व्यवहार नय द्वारा गुण गुणीमें जितना भेदरूप विकल्प होता है उतना उन विकल्पोंका निषेध निश्चय नय द्वारा किया जाता है इसलिये व्यवहार नयके अनेक विकल्पोंका निषेध करनेसे निश्चय नय भी अनेक है ऐसा मानना चाहिये। किन्तु आचार्य कहते है कि व्यवहार नय तो वस्तु में रहनेवाले अनन्त धर्मोका विधिरूपसे प्रतिपादन करनेसे वह तो अनेक ही है एक नही है। परन्तु निश्चय नय एक ही है क्योंकि उसका लक्षण 'न तथा' है। अर्थात् व्यवहार द्वारा जो कुछ कहा जाता है उसका निषेध करने मात्र ही निश्चय नयका एक कार्य है। निश्चय नय क्यों एक है इस विषय में दृष्टान्त द्वारा आचार्य स्पष्ट करते हैं।

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक्।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ६५८ पंचा०

अर्थात्–निश्चय नय एक क्यों है इस विषयमें सोनेका दृष्टान्त उपयुक्त है। सोना तांबेकी खाद निवृत्ति से जैसा है वैसा ही चान्दी की उपाधिकी निवृत्तिसे भी है। अथवा और और अनेक उपाधियोंकी निवृत्तिसे वैसा ही सोना है। सारांश सोनेमें तांबा पीतल चान्दी आदिकी कालिमा आदिकी उपाधियां हैं वह अनेक हैं परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहीं हैं। किसी उपाधिका अभाव क्यों न हो वह एक अभाव ही रहेगा तथा हर एक उपाधिकी निवृत्तिमें सोना सदा सोना ही रहेगा इसलिये निश्चय नय खादरहित सोनेकी तरह पदार्थका परिज्ञान करनेसे एक ही है अनेक नहीं अतः जो निश्चय नयको अनेक रूप मानते हैं वह मिथ्यादृष्टि हैं।

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ६६०
इत्यादिकाश्च वहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
स हि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञानमानितो नियमात्

अर्थात् निश्चयनयके शुद्ध अशुद्ध आदि भेद कुछ भी नहीं है ऐसा जैन सिद्धांत है वह केवल निषेधात्मक एक है अतः उसके जो भेद करते हैं वे सर्वज्ञ की आज्ञाका उलघन करते है इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं।

अपिनिश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु।
फलमपि सिद्धिःस्यात् कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा। ६६३ पं०

अर्थात् निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है फल उस का आत्मसिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु वोध करने पर कर्मकलंक रहित ज्ञान वाला आत्मा वन जाता है। सारांश निश्चय नयका विषय वस्तुका सामान्य अवलोकन है। सामान्य अवलोकनमें वस्तु भेद प्रभेद रूप दिखाई नहीं पडती अतः भेद

रहित अनन्त धर्मात्मक एक अखंड पिण्ड वस्तु सामान्य रूप से प्रतिभासती है इसलिये निश्चय नय परमार्थ भूत है। यदि वह निश्चय नय व्यवहार नय निरपेक्ष हो तो वह भी अपरमार्थभूत है। इसका कारण यह है कि पदार्थ सामान्य विशेषात्म है अतः सामान्य को छोडकर कोई विशेष अलग नहीं तथा विशेष को छोडकर कोई सामान्य अलग नहीं इसलिये सामान्य विशेष रूप वस्तुमें ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान दोनूं नयों के द्वारा ही हो सकता है एक के द्वारा नहीं क्योंकि वस्तुमें सामान्यका ज्ञान निश्चय नय द्वारा होता है और विशेषका ज्ञान व्यवहार नय द्वारा होता है इसलिए वस्तुमें सामान्य का ज्ञान होता है वहा विशेष को छोडकर सामान्य नहीं होता अथवा जहां परवस्तु मे विशेष का ज्ञान होता है वहां पर सामान्य को छोड कर विशेष का ज्ञान नही होता। अतः निश्चय व्यवहार दोनूं नय सापेक्ष ही परमार्थ भूत हैं निरपेक्ष दोनूं ही नय मिथ्या है अपरमार्थभूत हैं। इस बात को हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके है। तथा आगे भी स्पष्ट कर देते हैं।

"इदमत्र तु तात्पर्यमधिगंतव्यं चिदादि यद्वस्तु।
व्यवहार निश्चयाभ्यामविरूद्धं यथात्मशुद्धयर्थम्" ६६२ पं

अर्थात्—यहां पर तात्पर्य इतना ही है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे सब आत्म शुद्धिके लिये तब ही उपयुक्त हो सकते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं। अन्यथा नहीं।

अनेक प्रमाणोंके द्वारा ऊपर में यह सिद्ध किया जाचुका है कि वस्तु उभयात्म है अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है सामान्यसे भिन्न विशेष नहीं और विशेषसे भिन्न सामान्य नही अतः दोनोंका तादात्मक सम्बन्ध है इसलिये पदार्थ कथंचित् अभेदरूप भी है कथं-

चित भेदरूप भी हैं। कथंचित् भेदाभेद रूप भी है। अतः वस्तुका भेदरूप कथन करने वाला व्यवहार नय है तथा वस्तुका अभेदरूप कथन करने वाला निश्चय नय है। और वस्तुका भेदाभेदरूप कथन करने वाला प्रमाण हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों ही नय प्रमाण वस्तुके सामान्य विशेष का ही प्रतिपादक है वस्तुके सामान्य विशेष को छोडकर भिन्न पदार्थका प्रतिपादक नहीं है इसलिये वे सब नय प्रमाण सम्यक रूप हैं इनको मिथ्या समझना ही मिथ्या है।

जो नय और प्रमाण परस्पर की सापेक्षाको छोडकर वस्तु स्वरूपका कथन करता है तो वह वस्तुस्वरूप भी मिथ्या है और उसका प्रतिपादन करने वाला नय और प्रमाण भी मिथ्या है यद्यपि निरपेक्ष नय भी वस्तु के स्वरूप का आंशिक रूपमें वर्णन करता है तथापि वह मिथ्या इसलिये है कि अपर नय निरपेक्ष आंशिक कथनकरनेसे आंशिकरूप ही वस्तु स्वरूप समझा जाने लगेगा। क्योंकि अपर नय निरपेक्षतासे यह बात नही रहती कि अपर नय क्या कहता है किन्तु सापेक्ष नयके कथन में अपर नय की अपेक्षा रहती है जिससे यह बात स्पष्टरूपसे समझमें आजाती है कि वस्तु स्वरूप इतना ही नहीं है और भी कुछ है इसलिए सापेक्ष नयका जितना कहना है उतना सत्य है तथा जो नय एक के गुणों को दूसरे के गुण बताया करता है वह नय ही नहीं है वह नयाभास है इसलिये वह नय अपरमार्थभूतही है, मिथ्या है। उस में नयका लक्षण ही घटित नहीं होता क्योंकि नयका लक्षण ही होता है कि वह लक्ष्यभूत वस्तुके सामान्य और विशेष धर्मोंका ही विवेचन करता है। वह अन्य अलक्ष्य वस्तुके गुणधर्मका विवेचन नहीं करता वस्तुमें सामान्य और विशेष यह दो धर्म रहते है उन दोय धर्मोंका प्रतिपादन करने वाली भी दोय नय हैं। वस्तुके सामान्य धर्मका कहने वाला द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय है। और

वस्तुके विशेष धर्मोंका प्रतिपादन करने वाला पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय है।

"एको द्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात्।
सर्वेषां च नयानां मूलमिदं नयद्वयं यावत् ५१७ पंचा०।

अर्थात् एक द्रव्यार्थिक नय है दूसरा पर्यायार्थिक नय है। संपूर्ण नयों के मूल भूत यही दोय नय है।

द्रव्यार्थिक नय—

"द्रव्यसन्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजन यस्य।
प्रभवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थ संज्ञकश्चैकः" ५१८

अर्थात् केवल द्रव्यही मुख्यतासे जिस नयका प्रयोजन विषय है वह नय द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है। और वही अपनी धातु के अर्थ के अनुसार यथार्थ नाम धारक है और वह एक है अर्थात् जिस नयसे द्रव्य पर्यायको गौण रखकर मुख्यतासे द्रव्य कहा जाता है अथवा उसका ज्ञान किया जाता है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और वह एक है उसमें भेद विवक्षा नहीं है।

पर्यायार्थिक नय—

"अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः।
अर्थो यस्येति स पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च" ५१९ पं०

अर्थात्—अंशोंका नाम ही पर्याय है। उन अंशोंमें से जो विवक्षित अंश है वह अंश जिस नयका विषय है वही पर्यायार्थिक नय कहलाता है। ऐसे पर्यायार्थिक नय अनेक है। वस्तुकी प्रतिक्षण नई नई पर्यायें होती रहती हैं वे सब वस्तुके ही अंश है। जिस समय किसी अवस्था रूपमे वस्तु कही जाती है उस समय वह कथन अथवा वह ज्ञान पर्यायार्थिक नय कहाजाता है।

पर्यायें अनेक हैं इसलिये उनको विषय करनेवाले ज्ञान भी अनेक है। तथा उसको प्रतिपादन करने वाले वाक्य भी अनेक है।

पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ५२१ पंचा०

अर्थ—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनों का एक ही अर्थ है। सभी उपचार मात्र है। व्यवहार नय उपचरित इसलिये है कि वह वस्तु स्वरूपको यथार्थ रूप को नहीं कहता। वह व्यवहारार्थ पदार्थमें भेद करता है। वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहीं है। इसलिये व्यवहार नय को उपचरित कहा गया है। यही बात भी देवसेन आचार्य ने कही है।

कथमुपनयस्तस्य जनक इतिचेत्? सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तु उपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तु उपचारादपि उपचारोत्पादकत्वात्। योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थ अतएव व्यवहारोऽपरमार्थ प्रतिपादकत्वादपरमार्थः।

अर्थात्—जिस वस्तुका विशेष गुण उसी वस्तुमें विवक्षित करना इतना अंश तो सद्भूत का स्वरूप है। तथा गुणीसे गुण का भेद करना इतना अंश व्यवहारका स्वरूप है। तथा वह गुण उस वस्तुमें परसे उपचरित करना इतना अंश उपचरितका है। जीव को ज्ञानवाला कहना यह सद्भूत उपचरित व्यवहार नय कहलाता है। यह ज्ञानकी विकल्पात्मक अवस्था है। यहां पर ज्ञानका रूप उसके विषयभूत पदार्थों के उपचारसे सिद्ध किया जाता है। तथापि विकल्प रूप ज्ञानको जीवका ही गुण बतलाना इसलिये यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है। अर्थात् ज्ञान-यपि निर्विकल्प होनेसे सन्मात्र है इसलिये उपर्युक्त विकल्प

स्वरूप लक्षण उसमें नहीं आता है, तथापि वह विना अवलम्बनके निर्विषय नहीं कहा जाता। इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है अतः वह अनन्य शरण उसका वही आवलम्बन है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होत है। ऐसा क्यों होता है इसका हेतु यह है कि स्वरूप सिद्धिके विना परसे सिद्धि असिद्ध है। अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है यह वात प्रमाणसे सिद्ध है। "अर्थ विकल्पो ज्ञानं प्रमाण अर्थात् स्वपर पदाथका वोध होना ही प्रमाण है ऐसा कहा गया है। इस कथनसे ज्ञानमें प्रमाणता परसे लाई गई है। परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमें तभी आ सकती है जव कि वह अपने स्वरूप से सिद्ध है क्योंकि वह जीव द्रव्यका विशेष गुण है। इस कथनसे यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञानकी परसे सिद्धि करना यह उपचरित है ५४०।४१।४२।४३।४४। पंचाध्यायी के श्लोकों का संक्षेप में भावार्थ है। इसका फल क्या है सो दिखाते है—

अर्थो ज्ञेयं ज्ञायक शङ्करदोष भ्रम क्षयो यदि वा।
अविनाभावात्साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात्। ५४५

अर्थात्—उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायक में शंकर दोप उत्पन्न न हो और किसी प्रकार का भ्रम भी इनमें उत्पन्न न हो पहिले ज्ञेय और ज्ञायकमें शंकर दोष अथवा दोनोंमें भ्रम हुआ हो तो इस नयके जानने से वह दोष तथा भ्रम दूर हो जाता है। यहां पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है विशेष उसका साधक है। अर्थात् ज्ञान साध्य है और घट ज्ञान पट ज्ञानादि उसका साधक है। इन दोनोंका ही अविनाभाव है। कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है। और ज्ञान भी ज्ञेयका

अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नहीं होता। सारांश यह है कि कोई पदार्थके स्वरूपको नहीं समझने वाले ज्ञानको घट पटादि पदार्थोंका धर्म बतलाते है। कोई कोई ज्ञेयके धर्मको ज्ञायकमें बतलाते है। अथवा विषय विषयीके सम्बन्धसे किन्हीं किन्हींको भ्रम होजाता है उन सबका अज्ञान दूर करना ही इस नयका फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता ज्ञानका साधक है। अर्थात् घट ज्ञान पट ज्ञान इत्यादि ज्ञानके विशेषण साधक है। सामान्य ज्ञान साध्य है। उपर्युक्त विशेषणोंसे सामान्य ज्ञान की ही सिद्धि होती है, ज्ञानमें घटादिक धर्मकी सिद्धि नहीं होती। ऐसा यथार्थ परिज्ञान होनेसे ज्ञेय ज्ञायक मे शंकरताका बोध कभी नहीं हो सकता। यह सद्भूत उपचरित व्यवहार नयका फल है।

इसको अपरमार्थ भूत कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

यहां पर कोई यह कहे कि सद्भूत व्यवहार नय तथा सद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय एवं सद्भूत उपचरित व्यवहार नयका विषय तो स्व वस्तुके अंशोंमें ही है कथंचित् परमार्थभूत भी समझा जा सकता है। किन्तु असद्भूत व्यवहार नय तथा असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय और असद्भूत उपचरित व्यवहार नयका विषय तो दूसरे द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यमें विवक्षित किये जाय यह है इसीका नाम असद्भूत व्यवहार नय है इसलिये असद्भूत व्यवहार नयका कहना तो असद्भूत ही है अर्थात् अपरमार्थभूत ही है। जब असद्भूत व्यवहार नय अपरमार्थ भूत है तब सद्भूत व्यवहार नय परमार्थ भूत कैसी? क्योंकि इन दोनों नयों का आधार भूत एक व्यवहार नय ही तो है। उसी के यह दो भेद है इसलिये उसका एक अंश सत्य और दूसरा अंश

मिथ्या ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? जबकि अंश अंशी अभेद रूप है इसलिये यदि असद्भूत व्यवहार नय अभूतार्थ है तो इसके समान सद्भूत व्यवहार नय भी अभूतार्थ है ऐसा मानना पड़ेगा। जब व्यवहार नयके दोनों अंश मिथ्या सिद्ध होते है तब व्यवहार नय स्वतः मिथ्या सिद्ध हो जाता है । क्योंकि अंश मिथ्या सिद्ध होने पर अंशी सम्यक् नहीं रह सकता।

शंकाकार की शंका ठीक नहीं है वह प्रमाण बाधित है । क्योंकि प्रत्यक्ष ऐसा देखने मे आता है कि उपादान शुद्ध है। उसकी पर्याय अशुद्ध है तथा जिसका द्रव्य अशुद्ध है उसकी पर्याय शुद्ध है यह वस्तुका परिणमन है यह किसी के वशकी बात नहीं है। गाय का द्रव्य अशुद्ध है उसके दूध, गौरोचन गोबर पूंछके वालोंकी पर्याय शुद्ध है। दूध गौरोचन खानेके काममें आता है गोबर पाकादिकके काममे आता हैं पूंछके वालोंका चमर बनता हैं। तथा हाथोका द्रव्य शुद्ध है उनकी मोती तथा दांतकी पर्याय शुद्ध है। मोतीयोंकी प्रतिमा तक बनती है और पूजी जाती है तथा दांतोंकी अनेक प्रकारकी चीजें बनती है वह सब व्यवहार मे लाई जाती है तथा सीप और शखका द्रव्य अशुद्ध है उसकी मोती शुक्ति शंख पर्याय शुद्ध है। सांप का द्रव्य अशुद्ध है उसकी मणी पर्याय शुद्ध है गेंडे का द्रव्य अशुद्ध है उसकी सींग पर्याय शुद्ध है। इत्यादि तथा अन्न घी दुग्ध मेवा मिष्टान्न आदि पदार्थ शुद्ध उसकी मल मूत्रादि पर्याय अशुद्ध है। तथा एक वृक्षके अंगनाना रूप है। कोई अंग विप रूप है तो कोई अंग अमृत रूप है। अर्थात् जिस वृक्षका पत्ता अमृत रूप है तो उसका फल विष रूप है उदाहरण--अफीम के वृक्षके पत्तोंकी भाजी वनती है वह स्वादिष्ट और गुणकारी है तथा उसके फल उसका अफीम बनता है वह विप तुल्य है और उस फलका बीज

पोस्ता पुष्टिकारक है तथा गर्मीके दिनोंमें इसको ठंडाईमें घोंट कर पीते हैं इत्यादिक वस्तुका नाना रूप परिणमन है उसको कोई मिटा नहीं सकता। अतः ऊपर के उदारहणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध पदार्थ की पर्यायें शुद्ध भी होती हैं और शुद्ध पदार्थ की पर्यायें अशुद्ध भी होती हैं उसी प्रकार जीवकी भी शुद्धाशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह जीव और पुद्‌गलमें रहने वाली जिस प्रकार एक वैभाविकी शक्तिका परिणमन है संसार अवस्थामें उस शक्तिका अशुद्ध रूप परिणमन है और मुक्त अवस्थामें उस शक्तिका शुद्ध रूप परिणमन है। अतः सद्‌भूत व्यवहार नय तो वस्तुके शुद्ध विशेषांश का प्रतिपादन करता है। जैसे

एकरूप आतम दरव ज्ञान चरण दग तीन।
भेद भाव परिणामयो विवहारे सुमलीन"

यह सद्भूत व्यवहार नयका कथन है। तथा निश्चय नयका कथन निम्न प्रकार है यद्यपि

समलव्यवहारसों पर्याय शक्ति अनेक।
तदपि निश्चयनय देखिये शुद्ध निरंजन एक"

अर्थात्—गुणगुणीमें भेद कर कथन करना यह व्यवहार नयका लक्षण है। और जो गुण गुणीमें अभेदरूपसे कथन करना यह निश्चय नयका लक्षण है। खुलासा—

दरशन ज्ञान चरण त्रिगुणातम समलरूप कहिये व्यवहार। निहचै दृष्टि एकरसचेतन भेदरहित अविचल-अविकार॥ सम्यक्‌दशाप्रमाण उभयनय निर्मल समल एकही बार। यों समकाल जीवकी परणति कहे जिनेन्द्र गहे गणधार॥ समयसार प्रथमद्वार।

अत: वस्तु सामान्यविशेषात्मक है इसलिये उसका कथन भी सामान्यविशेषात्मक ही होता है। वस्तुके सामान्य अंशका कथन करनेवाला निश्चयनय है और वस्तुके विशेषांशका कथन करने वाला व्यवहार नय है। आचार्य कहते हैं कि "सम्यक्दृशा प्रमाण उभय नय" अर्थात् सम्यक्रूप वस्तु स्वरूपकी सिद्धि उभय नय से सिद्ध होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है।

वस्तु एक रूप भी है तथा अनेकरूप भी है इस एकता अनेकता के समझने के लिये ही उभय नय अविरोध रूपसे वस्तुमें एकता अनेकता को सिद्ध करता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि—

निहचेमें एकरूप व्यवहारमें अनेक याही नयविरोधमें जगत भरमायो है। जगतके विवाद नाशवेकूं जिनआगम है ज्यामें स्याद्वाद नाम लक्षण सुहायो है॥ दरशनमोहजाको गयो है सहजरूप आगमप्रमाण ताको हिरदे में आयो है अनयसो अखंडित अनूतन अनंत तेज एसो पद पूरण तुरत तिन पायो है।

अर्थात्—वस्तुस्वरूप समझनेके लिये स्याद्वादका शरण लेना पडता है। अत: सापेक्ष निश्चय और व्यवहार नय है वही स्याद्वाद है। इसके अतिरिक्त स्याद्वाद दूसरी कोई वस्तु नहीं है कथंचित् निश्चयनय की अपेक्षा वस्तु एकरूप है। कथंचित व्यवहारनयकी अपेक्षा वस्तु अनेक रूप है यही तो स्याद्वाद है।

व्यवहारनयके द्वारा वस्तुस्वरूप समझने से वस्तु में आस्तिक्य-बुद्धि होती है। व्यवहारनयसे यह बात जानी जाती है कि वस्तु अनन्तगुणोंका एक पुंज है क्योंकि गुणोंकी विवक्षामें गुणोंका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोंके सद्भावमें गुणीका सद्भाव स्व

सिद्ध होजाता है। सारांश यह है कि व्यवहारनयके विना पदार्थ का ज्ञान होता ही नहीं। दृष्टान्तके लिये जीवको ही लेलिजीये व्यवहारनयसे जीवका कभी ज्ञानगुण विवक्षित किया जाता है। कभी दर्शनगुण, कभी चारित्रगुण, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व कभी द्रव्यत्व इत्यादि सबगुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें सहजरूपसे आजाती है कि जीवद्रव्य अनन्तगुणोंका पुंज है। साथ ही इस बातका भी परिज्ञान व्यवहारनयसे होजाता है कि ज्ञान दर्शन चारित्र सुख सम्यक्त्व, आदि यह जीवके विशेषगुण हैं। क्योंकि ये गुण जीवके सिवाय अन्य किसी द्रव्यमें नही पाये जाते हैं। तथा अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व आदि ये सामान्यगुण हैं ये गुण जीवके सिवाय अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। तथा रूप रस गंध स्पर्श ये पुद्गलके सिवाअन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं इसलिये ये पुद्गलके विशेष गुण है। इस प्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंका परिज्ञान होनेके साथ साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणोंका भी परिज्ञान होजाता है। अतः गुणगुणी और सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान होनेपर ही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है। इसलिये व्यवहारनयके विना पदार्थमें आस्तिक्य बुद्धि नहीं हो पाती। पदार्थमे आस्तिक्यबुद्धिका होना ही सम्यक्त्व है। सारांश यह है कि पदार्थका स्वरूप विना समझाये समझमें आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह अंश अंश रूपसे कहा जायगा अतः इसी को पदार्थ में भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखंड पदार्थ में भेदबुद्धिको ही उपचरित नामसे कहा गया है। अतः---

उपचरितके नामसे अज्ञ लोग यह समझ लेते हैं कि एक द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यमें आरोपित करना उसीका नाम उपचरित है परन्तु ऊपरके कथन से स्पष्ट होजाता है कि गुणगुणी में भेद

बुद्धिका होना उपचरित है। एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करना उसका नाम उपचरित नही हैं। वह उपचरिताभास है। अतः जो व्यवहारनयको उपचरित समझकर अपरमार्थभूत मानते हैं वे परमार्थसे जोजनों दूर हैं। क्योंकि पदार्थमे जबतक आस्तिक्य बुद्धि नही होती तबतक उसके सम्यक्त्व भी नहीं होता। सम्यक्त्व के विना परमार्थकी सिद्धि भी नहीं होती यह अटल सिद्धांत है। इसलिये पदार्थ में आस्तिक्य बुद्धि पदार्थके स्वरूपको समझे विना नहीं हो सकती और पदार्थका स्वरूप विना व्यवहार नय के समझमें नही आसकता। इसलिये व्यवहारनयको उपचरित कहनेपर उसको अपरमार्थभूत नहीं समझना चाहिये। क्योंकि व्यवहारनय के द्वारा ही भेदविज्ञान होता है। अर्थात् व्यवहारनय वस्तुके विशेषगुणों का प्रतिपादन करता है इसलिये वह वस्तु अपने विशेषगुणोंके द्वारा दूसरी वस्तुसे जुदा ही प्रतीत होने लगती है जैसे जीवका ज्ञानगुण इस नय द्वारा विवक्षित होने पर इतर पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न सिद्ध कर देता है इसलिये जीवमें आस्तिक्य बुद्धि होजाती है। यही सम्यक्त्व है यही परमार्थ स्वरूप है यही भेद ज्ञान है। इस भेदज्ञानकी प्रशंसा करते हुये पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि—

'भेदविज्ञान जगो जिनके घट सीतलचित्त भयो जिम चन्दन
केलि करे शिवमारगमें जगमांहि जिनेश्वरके लघुनन्दन॥
सत्यस्वरूप सदा जिनके उर प्रगटयो अवदात मिथ्यातनिकंदन
शांत दशा जिनकी पहिचान करहिं करजोर बनारसि वन्दन"

अर्थात्—भेदविज्ञान जिसके व्यवहारनय द्वारा होगया है, वह मोक्षमार्गमे केलि करता है इसलिये उसको जिनेन्द्रदेवका लघु भैया समझकर बनारसिदासजी ने उनको नमस्कार किया

है। अतः व्यवहारनय के द्वारा स्वपरका भेदविज्ञान होनेसे वह परमार्थभूत है। और स्ववस्तुमें गुण गुणीका भेद करनेसे अपर मार्थभूत है। क्योंकि गुणगुणी अभेदस्वरूप वस्तु स्वरूप है उसमें भेद करने से वस्तु स्वरूप नहीं बनता इस कारण व्यवहार नय अपरमार्थ भूत है। यह बात हम ऊपर कह आये हैं तो भी शङ्का समाधान में पुनः उसका उल्लेख कि । गया है। असद्भूत व्यवहार नय के सम्बन्ध मे भी हम ऊपर बता चुके है देखलेवें—श्लोक ५२६। ३०। ३१। ३२ नक है। तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का तथा उपचरित असद्भूत का स्वरूप एवं उसका फल क्या है इसका स्पष्टी करण और कर देते हैं जिसमें असद्भूत व्यवहार नय को भी कोई सर्वथा अपरमार्थभूत न समझे। वह भी कथंचित परमार्थ भूत है क्योंकि पर निमित्त से होने वाले आत्मा में क्रोधादि भाव वैभाविक भाव हैं ऐसा ज्ञान हो जाने से क्रोधादि भावोंकी निवृत्ति की जा सकती है यही परमार्थभूत कार्य इस नय के द्वारा होता है। इसलिये कथंचित् असद्भूत व्यवहार नय भी परमार्थभूत है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि द्रव्यानुयोग और द्रव्यार्थिक नय ही परमार्थभूत है और सब अनुयोग तथा नय प्रमाण निक्षेपादि सब अपरमार्थभूत है आचार्योंने जो भी नय प्रमाण निक्षेपादिक का कथन किया है वह सब परमार्थ सिद्धि के लिये ही किया है, उन सबका विषय समझे बिना वस्तु स्वरूप भी समझमें नहीं आता और वस्तु स्वरूप समझे बिना परमार्थ की भी सिद्धि नहीं होती इसलिये जिस अपेक्षा से नय प्रमाण, निक्षेपादिक के द्वारा कथन किया है उस अपेक्षा से वह कथन सत्यार्थ है।

अनुपचरित व्यवहार नय का दृष्टान्त।

"अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभावः" ५४६ पंचा०

अर्थात्—अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक भावों में जीवके भावों की विवक्षा करना यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। भावार्थ—दूसरे द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में विवक्षित किये जांय इसी को असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। क्रोधादि भाव यद्यपि जीव के ही वैभाविक भाव हैं तथापि वह भाव कर्मों के सम्बन्ध से होते हैं इसलिये यह भाव जीव के नहीं है परनिमित्त से उत्पन्न हुये है अतः उनको जीव के भाव कहना जानना असद्भूत नय है। क्रोधादि भाव दो तरह के होते हैं—एक बुद्धि पूर्वक, एक अबुद्धि पूर्वक। बुद्धि पूर्वक भाव स्थूल रूप से उदय में आरहे हों जिससे हम क्रोध कर रहे हैं वह बुद्धि पूर्वक क्रोधादि भाव हैं। तथा क्रोधादि भाव सूक्ष्मता से उदय में आरहे हों जिसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि क्रोधादि भाव हैं ऐसे सूक्ष्म अप्रगट रूप क्रोधादि भावों को अबुद्धि पूर्वक क्रोधादि भाव कहते हैं उनको जीवके विवक्षित करना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। यहां पर वैभाविक भावों को—पर भावों को जीव का कहना इतना अंश तो असद्भूत का है। गुणगुणी का विकल्प व्यवहार का अंश है अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिको कहना इतना अंश अनुपचरित का है। इस नय की प्रवृत्ति का कारण—

"कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावमयी।
उपयोगदशाविशिष्टा सा शक्तिः तदाप्यनन्यमयी" ५४७ पं०

अर्थ—जिस पदार्थ की जो शक्ति वैभाविक भावमय हो रही है और उपयोग दशा यानी कार्य कारणी विशिष्ट है। तो भी वह

शक्ति अन्य की नहीं कही जा सकती। यही अनुपचरित असद्-भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण है। अर्थात् यदि एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप परिणत हो जाय तब तो एक पदार्थ के गुण दूसरे पदार्थ में चले जाने से शंकर और अभाव दोष उत्पन्न होते हैं। तथा ऐसा ज्ञान और कथन भी मिथ्या नय है, जीवके क्रोधादि भाव उसके चारित्र गुण के ही पर-निमित्त से होने वाले विकार हैं। चारित्र गुण कितना ही विकार मय अवस्था में परि-णत क्यों न हो जांय परन्तु वह सदा जीव का ही रहेगा। इस-लिये यहां असद्भूत व्यवहार नय प्रवृत्त होता है। सारांश—किसी वस्तु के गुण का अन्य रूप परिणत नहीं होना इसी नय का हेतु है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चेद्बुद्धिजा विवक्षाः स्युः ५४६। पंचा०

अर्थ—औदयिकक्रोधादि भाव यदि बुद्धि पूर्वक हों फिर उन्हें जीवका समझना या कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है अर्थात् प्रगट रूप क्रोधादि भावों को जानता है कि मैं क्रोधादि कर रहा हूं फिर भी उनको अपना निज का भाव समझना या कहना ऐसा कहना समझना उपचरित असद्भूत व्यव-हार नय है। क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं उन्हें जीवका कहना इतना अंश तो असद्भूत का है। क्रोधादिकोंको क्रोधादिक समझ करकेभी उन्हें जीवके बताना इतना अंश उपचरित का है। गुणगुणी में भेद करना इतना अंश व्यवहार का है। अतः बुद्धि पूर्वक क्रोधादि भाव छठे गुण स्थान तक होते हैं इसके ऊपर नहीं होते।

इसलिये छट्ठे गुण स्थान के ऊपर उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति नहीं होती, छठे गुण स्थान तक ही होती है। इससे आगे नहीं।

बीजं विभावभावाःस्वपरोभयरेहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः॥

५५० पंचाध्यायी

अर्थ—जितने भी वैभाविक भाव है वे नियम से अपने और परके निमित्त से होते है यद्यपि वैभाविक रूप परिणमन करना यह निज गुण है तथापि वैभाविक परिणमन पर के निमित्त बिना नहीं होते है। अतः आत्मा के गुणों का पुद्गल कर्मों के निमित्त से वैभाविक रूप होना ही उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का कारण है। इस नय का फल—

तत्फलमविनाभावात्साध्यं त्वबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रंप्रति साधनमिहबुद्धिपूर्वका भावा॥

५५१ पंचाध्यायी

अर्थ—बिना अबुद्धि पूर्वक भावों के बुद्धि पूर्वक भाव हो ही नहीं सकता। इसलिये बुद्धि पूर्वक भावो का अबुद्धि पूर्वक भावों के साथ अविनाभाव है अविनाभाव होने से अबुद्धि पूर्व-भाव साध्य है। और उनकी सत्ता सिद्ध करने के लिये साधन बुद्धि पूर्वक भाव है, यही इसका फल है। भावार्थ–बुद्धि पूर्वक भावों से अबुद्धि पूर्वक भावो का परिज्ञान करना ही अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का फल है। शङ्का–

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत्॥

५५२ पंचाध्यायी

अर्थ—असद्भूत व्यवहार नय वहां पर प्रवृत्त होता है जहां कि एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित किये जाते हैं। दृष्टान्त जैसे जीव को वर्णादि वाला कहना। ऐसा मानने में क्या हानि है? भावार्थ—ग्रन्थकारने ऊपर अनुपचरित और उपचरित दोनों प्रकार का ही असद्भूत व्यवहार नय तद्गुणारोपी बतलाया है अर्थात् उसी वस्तु के गुण उसी में आरोपित करने की विवक्षा को असद्भूत नय कहा है क्योंकि क्रोधादि भाव भी तो जीव के ही हैं और वे जीव में ही विवक्षित किये गये हैं। जैसा कि समयसार में कहा है कर्ता कर्म क्रिया द्वार में।

"शुद्ध भाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन।
दुहूँ को करतार जीव और नहिं मानिये॥
कर्मपिण्डको विलास वर्ण रस गन्ध फास।
करतार दुहूँ को पुद्गल परमानिये॥
तातें वर्णादि गुण ज्ञानावरणादि कर्म।
नाना परकार पुद्गल रूप मानिये॥
समल विमल परिणाम जे जे चेतन के।
ते ते सब अलख पुरुष यों बखानिये"॥

इस कथन से भी यही बात सिद्ध होती है कि क्रोधादि भाव जीव के ही वैभाविक अशुद्ध भाव हैं। ऐसा जो अलख सर्वज्ञ वीतराग देव ने कहा है। किन्तु शंकाकारका कहना है कि सद्भूत व्यवहार नय को तद्गुणारोपी कहना चाहिये और असद्भूत नय को अतद्गुणारोपी कहना चाहिये। इस विषय में शंकाकार कहता है कि वरणादि पुद्गल के गुण हैं उनको जीव के कहना यही असद्भूत व्यवहार नय का विषय है, आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है।

"तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराऽविशेषतो न्यायात्" ॥
५५३ पंचाध्यायी

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो तद्गुणारोपी नहीं है किन्तु एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित करते है वे नय नहीं हैं किन्तु नयाभास हैं अतः वे व्यवहार के योग्य नहीं है।

शंकाकार फिर कहता है कि—

"ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च" ५५६ पंचा०

अर्थ—वस्तु के विचार समय में गुण हो अथवा दोष हो जो वस्तु जिस-रूप मे है उसी रूप में वह सिद्ध होगी चाहे उसकी यथार्थ सिद्धि मे दोष आवे या गुण। नयों का प्रवाह न्याय बल से प्राप्त हुआ है, इसलिये वह दूर नहीं किया जा सकता अतः जीव को वर्णादिमान् कहना यह भी एक नय है। इस नयकी सिद्धि मे जीव और वर्णादि में एकता भले ही प्रतीत हो परन्तु उसकी सिद्धि आवश्यक है।

उत्तर—

सत्य दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यङ् मिथ्येति नयविशेषोपि ॥
५५७ पंचाध्यायी

अर्थ—यह बात ठीक है कि नय प्रवाह अनिवार्य है परन्तु साथ मे यह भी अनिवार्य है कि वह प्रमाणाधीन हो। अन्यथा वह मिथ्या है कुनय है क्योंकि कोई नय यथार्थ होता है तो कोई

नय मिथ्या होता है। यह नयों की विशेषता भी अनिवार्य है जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान इस प्रकार ज्ञान दोय रूप है उसी प्रकार नय भी सम्यक् नय और मिथ्या नय ऐसे नय भी दो प्रकार की है इसी बात को प्रगट करते हुये आचार्य कहते हैं कि—

अर्थविकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥

५५८ पंचाध्यायी

अर्थ—ज्ञान अर्थ विकल्पात्म होता है। अर्थात् ज्ञान स्व पर पदार्थ को विषय करता है इसलिये ज्ञान सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान एक ही है। क्योंकि अर्थ विकल्पता सबही ज्ञानों में है। परन्तु विशेष २ विषयों की अपेक्षा से उसी ज्ञान के दो भेद हो जाते हैं। सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। दोनों का स्वरूप आचार्य प्रतिपादन करते हैं।

"तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतु स्यात् ।
अथ चेदं यथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥

५५९ पंचाध्यायी

अर्थ—इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में सम्यग्ज्ञान का कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान है। तथा मिथ्या ज्ञान का कारण वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है। अर्थात् जो वस्तु ज्ञान में विषय पडती है। उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी की वह है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं जैसे किसी के ज्ञान में चांदी विषय पडी हो तो चांदीको चांदी ही समझे तब तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि वह चांदी को सीप समझे तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है। क्योंकि जिस ज्ञानमें वस्तु तो कुछ और ही पडी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो तो

उसे मिथ्याज्ञान कहते है। इस प्रकार विषय के भेद से ज्ञान के भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते है। अतः ज्ञान के समान नय के भी दो भेद सम्यक् और मिथ्या रूप होते हैं।

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वां विकल्पमात्रत्वात्।

तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ५६० पं०

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है। अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नयभी विकल्पमात्र होनेसे (विकल्पात्मक ज्ञान को ही नय कहते हैं) सामान्य रूप से एक है। और विशेष की अपेक्षा से ज्ञान के समान नय भी सम्यक् नय और मिथ्या नय ऐसे दोय भेद वाले हैं। जो सम्यक् नय हैं उन्हें नय कहते है। जो मिथ्या नय है उन्है नयाभास कहते हैं।

दोनों नयो का स्वरूप

"तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान्।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥
५६१ पंचाध्यायी

अर्थ—जो तद्गुण संविज्ञान हो अर्थात् गुणगुणी के भेद पूर्वक किसी वस्तु के विशेष गुणो को उसी में बतलाने वाला हो उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, और फल सहित, हो वह नय कहलाता है। उपर्युक्त बातोंसे विपरीत हो वह नय नयाभास है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धियत्।
स्यादनयविप्रमाणं स्युस्तदंशत्वात् ॥ ५६२ पंचाध्यायी

अर्थ-जिस प्रकार प्रमाण का फल सहित होना परम आवश्यक है। कारण, फलवही प्रमाण कहलाता है उसी प्रकार नय

कहलाता है। नय प्रमाण के ही अंश स्वरूप है। इस प्रकार अंश अंशी रूप होने से प्रमाण के समान नय भी फल सहित होता है। सारांश—

"तस्मादनुपादेयोऽव्यवहारो तद्गुणे तदारोपः।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथाजीवः"॥

५६३ पंचाध्यायी

अर्थ—जिस वस्तु में जो गुण नहीं है दूसरी वस्तु के गुण उसमें आरोपित–विवक्षित किये जाते हैं। जहां पर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ऐसे व्यवहार से इष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीवको वर्णादि वाला कहना यह नय नहीं है किन्तु नयाभास है। क्योंकि जीव के वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीव के कहने से जीव और पुद्गल में एकत्व बुद्धि होने लगती है। यही इष्ट फल की हानि है। इसलिये चाहे सद्भूत व्यवहार नय हो, चाहे असद्भूत व्यवहार नय हो तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है। क्रोधादि भाव पुद्गल कर्म के निमित्त से आत्मा के चारित्र गुण का विकार हैं, इसलिये आत्मा ही के वैभाविक भाव हैं अतः जीव में उसको आरोपित करना यह अतद्गुणारोप नहीं कहा जा सकता किन्तु तद्गुणारोप ही है। क्रोधादि भाव शुद्ध आत्मा में नहीं है किन्तु पर के निमित्त से होते हैं। इसलिये उन्हें असद्भूत व्यवहार नय का विषय कहा जाता है।

इस विषय में पंडित फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री जी का यह कहना है कि "जो अन्य द्रव्य के गुणों को अन्य द्रव्य के कहता है वह असद्भूत व्यवहार नय है" इनके प्रमाण में खण्ड रूप नय चक्र की गाथा उद्धृत की है वह इस प्रकार है। "अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद ... ..." २२३ इस विषय में स्व०

पं० टोडरमल जी के वाक्य भी मोक्ष मार्ग प्रकाश के उद्धृत किये हैं वे निम्न प्रकार है। "तहां जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहार रूप वर्णन है तिनविषै यथार्थ का नाम निश्चय है। उपचार का नाम व्यवहार है"। अधि ७ पृष्ठ २८७ "व्यवहार अभूतार्थ है सत्य स्वरूपको न निरूपै है। किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपै हैं। बहुरि शुद्ध नय जो निश्चय है सो भूतार्थ है जैसा वस्तु का रूप है तैसा निरूपै हैं" अधि० ७ पृ० ३६९

"एक ही द्रव्य के भाव को तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चय नय है। उपचार करि तिस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है" अधि० ७। पृष्ठ। ३६९

उपचरित कथन के उदाहरण—पं० फूलचन्द जी ने दिये है वे इस प्रकार है—

१—"एक द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय द्वारा दूसरे द्रव्य का कर्ता है और दूसरे द्रव्य की वह पर्याय उसका कर्म है।

२—"अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य को परिणमाता है या उसमे अतिशय उत्पन्न करता है।"

३—"अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्य की विवक्षित पर्याय के होने में हेतु है। उसके विना वह कार्य नहीं होता।"

४—"शरीर मेरा है तथा देश धन और स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं आदि" पृष्ठ। २। ३। ४ जैन तत्त्व मी०

पं० फूलचन्द जी के उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि उनका विचार व्यवहार नयको चाहै सद्भूत हो चाहै असद्भूत हो दोनोंही नय वस्तु स्वरूपको अन्यथा प्ररूपै हैं ऐसा सिद्ध करने

का है। व्यवहार नय को आचार्यों ने उपचरित क्यों कहा है इस बातको पंडितजी भी जानते है फिरभी आपने कतिपय नयाभासों का उदाहरण देकर व्यवहार नय को सर्वथा अतद्‌गुणारोपी ठहरानेका प्रयत्न किया है यह आश्चर्य की बात है। क्योंकि निश्चय और व्यवहार नय दोनों ही नय प्रमाण के अंश हैं इसलिये प्रमाणाधीन हैं। अतः जिस प्रकार प्रमाण फलसहित है उसी प्रकार नय भी तद्‌गुण संविज्ञान उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो और फलसहित हो वही नय नय कहलाने के योग्य है किन्तु जिस नय द्वारा जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उस वस्तु में दूसरी वस्तु के गुण आरोपित किये जाते हैं वह व्यवहार नय ग्राह्य नहीं, वह नय नहीं, नयाभास है क्योंकि ऐसी नयों द्वारा इष्ट फल की सिद्धि नहीं होती इसका खास कारण यह है कि पर में एकत्व बुद्धि होने लगती है। यही इष्ट फल का विघात है इस बात को ऊपर में अच्छी तरह सिद्ध किया जा चुका है। अतः अतद्‌गुणारोपी नयों का उदाहरण देकर आपने "जैन तत्त्व मीमांसा" की है वह जैन तत्त्वमीमासा नहीं न जाकर जैन तत्त्व की अवहेलना कही जा सकती है।

पंडितजी ने जो उपचरित कथन के चार उदाहरण पेश किये वे नयाभासों के क्यों उदाहरण हैं इस बात को हम यहां पर आगम प्रमाण से सिद्ध करके दिखलावेंगे।

"अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम्" ॥

५६६ पंचाध्यायी

अर्थ—उपचार नाम वाले उपचार पूर्वक हेतु दृष्टान्तों को ही नयाभास कहते हैं। यहां पर कुछ नयाभासों का उल्लेख किया जाता है इसलिये कि नयाभासों को समझलेने पर उन्हें छोड दिया

जाय। और उन नयाभासों को देखने से शुद्ध नयों का परिज्ञान हो जाय तो नयाभासों के भ्रम में न पड़े।

"अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात्।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्तथ्यतोनन्यत्वात्॥

५६७ पंचाध्यायी

अर्थ—बुद्धि का अभाव होने से लोकों का यह मनुष्यादि शरीर है वह जीव है क्योंकि वह जीव से अभिन्न है।

"सोयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात्।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात्" ॥

५६८ पंचाध्यायी

अर्थ—शरीर में जीव का व्यवहार जो लोक में होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है। कारण वह सिद्धान्त से बाधित है। सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहार में असिद्ध नहीं है। किन्तु शरीर और जीव को भिन्न भिन्न धर्मी होने से प्रसिद्ध ही है अर्थात् शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है, और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है फिर भी जो लोग शरीर में जीव व्यवहार करते है वह अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध है।

"नाशंक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत्।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद् भवेदतिव्याप्तिः॥

५६९ पंचाध्यायी

अर्थ—शरीर और जीव दोनों का एक क्षेत्रमें अवगाहन-स्थिति है इस कारण लोक में वैसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि एक क्षेत्र में तो सम्पूर्ण द्रव्यों का अवगाहन हो रहा है। यदि एक क्षेत्रमें अवगाहन होना ही एकता

का कारण हो तो सभी पदार्थों में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश-काल, जीव पुद्गल ये छहों ही द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं। परन्तु छहोंके लक्षण जुदे जुदे हैं। यदि एक क्षेत्र अवगाह ही एकता का कारण हो तो छहों में अति व्याप्ति दोष आवेगा और उनमें अनेकता भी नहीं रहेगी।

"अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शंक्यमिति।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात्" ॥ ५७०पं०

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीर में परस्पर बन्ध्यबन्धक भाव है इसलिये वैसा व्यवहार होता है। ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि बन्ध नियम से अनेक पदार्थों में होता है। एक पदार्थ में अपने आप ही बन्ध का होना असिद्ध ही है। अर्थात् पुद्गल को बान्धनेवाला आत्मा है। आत्मा से बन्धने वाला पुद्गल है इसलिये पुद्गल शरीर बन्ध्य है। आत्मा उसका बन्धक है। ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होने से शरीर में जीव व्यवहार किया जाता है ऐसा आशंका भी निर्मूल है। क्योंकि बन्ध तब ही हो सकता है जब कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हों बन्ध्यबन्धक में द्वैत ही प्रतीत होता है।

"अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किंनिमित्ततया"
५७१ पंचाध्यायी

अर्थ—कदाचित् मनुष्यादि शरीर में जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर और जीवका निमित्त नैमित्तिक-सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो अपने आप परिणमन शील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन है। अर्थात् जीव स्वरूप में निमित्त कारण कुछ नहीं कर सकता। जीव और शरीर में

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध शरीर में निमित्तता और जीव में नैमित्तिकता का ही सूचक होगा। वह सम्बन्ध दोनों में एकत्व बुद्धि का जनक नहीं है क्योंकि जीव अपने स्वरूप से ही परिणमन करता है निमित्त कारण के निमित्त से उसमें पर स्वरूपता नहीं आती इसलिये मनुष्यादि शरीर में जीव व्यवहार करना नयाभास है।

दूसरा नयाभास

"अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्म कर्मकृते" ५७२ पं०

अर्थ—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मा से सम्बन्धित होती हैं तब वे नो कर्म के नाम से कही जाती है। और कार्माण वर्गणा जब आत्मा से सम्बन्धित होकर कर्मरूप (ज्ञानावरणादिरूप) परिणत होती है तब वह कर्म के नाम से कही जाती हैं। ये कर्म और नोकर्म पुद्गल की पर्याय है इसलिये ये मूर्त हैं। उन मूर्त कर्मोंका नो कर्मों का जीव कर्ता भोक्ता है ऐसा कहना यह दूसरा नयाभास है। अर्थात् जीव अमूर्त स्वरूप वाला है इसलिये वह अपने ज्ञानादि भावोंका कर्ता भोक्ता है। उसको ज्ञानादि भावों का कर्ता भोक्ता कहना यह भी व्यवहार ही है किन्तु यह व्यवहार असद्भूत नहीं है। क्योंकि जीव के ही ज्ञानादि गुण जीव ही मे आरोपित किये गये है। परन्तु जो जीव को मूर्त पदार्थों का कर्ता भोक्ता व्यवहारनय से बतलाते हैं इस विषय में आचार्य कहते हैं कि वह नय नय नहीं किन्तु नयाभास है।

"नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्तो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रांतिः कुतः प्रमाणाद्वा"
५७३ पंचाध्यायी

"गुणसंक्रातिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा ।
सर्वस्य सर्वशंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च" । ५७४ पं०

अर्थ—मूर्त कर्मोंका जीव को कर्ता भोक्ता बतलाने वाला व्यवहार नय नयाभास है यह बात असिद्ध नहीं है । कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्त विरुद्ध है । सिद्धान्त विरुद्धता का भी कारण यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, तब उनमें गुण संक्रमण किस प्रकार से होगा ? अर्थात् नहीं होता । तथा विना गुणों के परिवर्तन हुये जीव कर्म का कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता । यदि विना गुणों की संक्राति के ही जीव कर्म का कर्ता भोक्ता हो जाय तो सब पदार्थों में सर्व शंकर दोष उत्पन्न होगा तथा सर्व शून्य दोष भी उत्पन्न होगा । इसलिये जीवके गुण पुद्गल में नहीं चले जाने से जीव पुद्गल कर्म का कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता है ।

भ्रमका कारण

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणति प्राप्य ।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिः मद्यतो द्रव्यम् ॥
५७५ पंचाध्यायी०

अर्थ—जीव कर्मों का कर्ता है इस भ्रम का कारण भी यह है कि जीव की अशुद्ध परणति के निमित्तसे पुद्गल द्रव्य कार्माण वर्गणा स्वय उपादान कर्म रूप परिणत हो जाती है । अर्थात् जीव के राग द्वेष भावोंके निमित्त से कार्माण वर्गणा कर्म पर्याय को धारण करती हैं । इसलिये उसमें जीव कर्तृता का भ्रम होता है ।

"इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोपि स स्वभावस्य ।
परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि"
५७६ पंचाध्यायी

अर्थ—उस भ्रम का समाधान यह है कि जो कोई कर्ता होगा वह अपने स्वभाव का ही कर्ता होगा उसका निमित्त कारण मात्र होने पर भी कोई परभाव का कर्ता अथवा भोक्ता नहीं हो सकता है।

दृष्टान्त

"भवति स यथा कुलालः कर्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्ता भोक्ता कदापि कलशस्य।

५७७ पंचाध्यायी

अर्थ—कुम्हार सदा अपने स्वभाव का ही कर्त्ता भोक्ता होता है वह परभाव कलश का कर्ता भोक्ता नहीं होता। अर्थात् कलश के बनाने में वह केवल निमित्त कारण है। निमित्त होने से वह उसका कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता।

"तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः"

५७८ पंचाध्यायी

अर्थ—कुम्हार कलश । कर्ता क्यों नहीं है ? इस विषय में यह दृष्टांत प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टी के स्वभाव वाला कुम्हार स्वरूप नहीं होता अर्थात् जब घट के भीतर कुम्हार का एक भी गुण नहीं पाया जाता है तब कुम्हार ने घट का क्या किया ? कुछ भी नहीं किया वह केवल उसका निमित्त मात्र है। अतः लोक व्यवहार मिथ्या है।

"अथ चेद्घटकर्तासौ घटकारो जनतोक्तिलेशोयम्।
दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदानयाभासः" ॥

५७९ पंचाध्यायी।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि लोक में यह व्यवहार होता है कि घटकार—कुम्हार घट का बनाने वाला है सो क्यों? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहार को होने दो उससे हमारी कुछ भी हानि नहीं है किन्तु उसे नयाभास समझो अर्थात् उसे नयाभास समझकर बराबर व्यवहारो। इससे हमारे कथन में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है परन्तु उसे नय समझने वाला लोक व्यवहार है तो वह मिथ्या है।

तीसरा नयाभास

"अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः।
यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोपि भवति यथा"॥

५८० पंचाध्यायी

अर्थ—और भी खोटी बुद्धि के धारण करने वाले मिथ्या-दृष्टि पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं जैसे जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है जीव के साथ बन्धा हुआ भी नहीं है उसका भी जीव कर्ता भोक्ता होता है ऐसा वे कहते है।

"सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यकलत्रपुत्रांश्च।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च"॥

५८१ पंचाध्यायी

अर्थ—साता वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले घर, धन धान्य, स्त्री, पुत्र, सजीव निर्जीव पदार्थ स्थावर जंगम सम्पत्ति है उनका जीव ही कर्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है।

शङ्का—

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात्।
असति च तत्र न तदिदं तत्कर्ता स एव तद्भोक्ता॥

५८२ पंचाध्यायी

अर्थ—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर स्त्री आदि होने पर ही जीवों को सुख होता है उनके अभाव में उन्हें सुख भी नहीं होता। इसलिये जीव ही उनका कर्ता है और स्वयं ही उसका भोक्ता है। अर्थात् अपनी सुख सामग्री को यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वयं भोक्ता है।

उत्तर—

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात्॥

५८३ पंचाध्यायी

अर्थ—यह बात ठीक है कि घर वनितादि के संयोग से यह संसारी जीव सुख समझने लगता है। परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक विषय जन्य है वास्तविक नहीं है सो भी घर स्त्री आदि पदार्थों की अपेक्षा नहीं रखता है कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थों के होने पर भी किन्हीं किन्हीं पुरुषों को सुख के बदले दुख भी होता है। उनके लिये वही सामग्री दुःख का कारण बनजाती है। इसलिये—

"इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्ताथवा च मा भवतु।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथा कथञ्चिच्चिदात्मको जीवः

५८४ पंचाध्यायी

अर्थ—यहां पर सारांश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथाकथंचित् कर्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु यह चिदात्मक चैतन्य स्वरूप है। अर्थात् जीव सदा अपने भावोंका ही कर्ता और भोक्ता होता है, परका नहीं।

चौथा नयाभास—

"अयमपि च नयाभासो भवति मिथोबोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ५८५ पंचा०

अर्थ—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्य बोधक रूप सम्बन्ध है उसके कारण ज्ञानको ज्ञेयगत ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेय को ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है। अर्थात् ज्ञानका स्वभाव है वह हर एक पदार्थ को जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमें स्थिर रहता है वह पदार्थमें नहीं चलाजाता है। और न वह उसका धर्म हा हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमें आजाता है। जो कोई इसके विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास मिथ्या ज्ञान से ग्रसित हैं।

"सकलवस्तु जगमें अस होई वस्तु वस्तुसों मिले न कोई।
जीव वस्तु जाने जग जेती सोऊ भिन्न रहै सबसेती" ॥

सर्वविशुद्धिद्वार।

दृष्टान्त

जैसे चन्द्र किरण प्रगट भूमि स्वेत करे भूमिसी न होत सदा ज्योतिसी रहत है। तैसे ज्ञानशकति प्रकाशे है उपादेय ज्ञेयाकार दीसै पै न ज्ञेयको गहत है। शुद्ध वस्तु शुद्धपर्यायरूप परिणमें सत्तापरमाणमाहि ढाहे न ढहत है। सो तो और रूप कबहू न होत सर्वथा निश्चय अनादि जिनवाणी यों कहत है।

"चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानं" ५८६

अर्थ—जिसप्रकार चक्षु रूपको देखता है परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता अथवा रूपका वह धर्म नहीं होजाता है।

"इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणनयाभासाः । तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासाः ५८७

अर्थ—कुछ नयाभासों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके सिवाय और भी बहुतसे नयाभास है जोकि वैसेही लक्षणों वाले हैं। उन सब नयाभासोंका यह उद्देश्य आशय नयसे सर्वथा विरुद्ध हैं इसलिये वे नयाभास कहे जाते है। अर्थात् नयोंका जो स्वरूप कहागया है उससे नयाभासोंका स्वरूप विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है, उसे नय कहते हैं और मिथ्यानयको नयाभास कहते हैं।

पं० फूलचन्दजीने उपरोक्त नयाभासोंका उदाहरण देकर समीचीन व्यवहार नयोंके मिथ्या सिद्ध करनेकी चेष्टा की है किन्तु विद्वानोंके सामने वह बात टिक नहीं सकती नयचक्रका प्रमाण असद्भूतव्यवहारनयका पंचाध्यायीके अनुरूप ही है किन्तु

"अण्णोंसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद,,

इसगाथाका अर्थ आपने कर्म नोकर्म तथा घट पटादिका कर्ता मानना असद्भूतव्यवहारनय का विषय वतलाया है सो ठीक नही है क्योंकि अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता माननेवाला नय नहीं है वह नयाभास है यह वात ऊपरमें वतलाई जाचुकी है। इसलिये "अण्णोंसि अण्णगुणो भणई,, इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्यद्रव्यमें अन्यद्रव्यके गुण आरोप करना असद्भूत व्यवहारनय हैं। किन्तु अन्यद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने में वैभाविक परिणामोंको अपना कहना अर्थात् क्रोधादिक कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले आत्माके क्रोधादि वैभाविक भावोंको आत्माका कहना यह असद्भूतव्यवहारनयका विषय है। यह क्रोधादिभाव आत्मामें होते हैं, जडमें नहीं इसलिये ये तद्गुणारोपही है

[illegible]

अतद्गुणारोप नहीं जैसा कि ऊपर खुलासा किया जाचुका है।

आपने जो असद्भूतव्यवहार नयकी व्याख्यामें वृहद्द्रव्य-संग्रहकी गाथाकी टीकाका प्रमाण दिया है वह नयाभासोंकी मान्यताका है। इसका कारण यह है कि उसकी टीकामें टीकाकार स्पष्टरूपसे कहते हैं कि "मनोवचनकायव्यापार क्रियारहित शुद्ध निजआत्मतत्त्वभावनासे शून्य ऐसा जो आत्मा वह ऐसा मानता है कि कर्मनोकर्म और घट पटादिका कर्ता जीव है।

"मनोवचनकायव्यापाररहित निजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्नुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां आदिशब्देनौदारिकवैक्रयिकाहारकशरीरत्रयाहारादि षट्-पर्याप्ति योग्यपुद्गल पिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरिता-सद्भूतव्यवहारेण वहिर्विषयघटपटादीनां च कर्ता भवति"

इसटीकामें ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका और औदारिकादि शरीररूपी नोकर्मोंका एवं आहारादि षट्पर्याप्ति रूप नोकर्मोंका कर्ता मानना यह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय कहागया है तथा घर मकान स्त्रीपुत्रादिकोंका कर्ता मानना यह असद्भूत उपचरित व्यवहारनयका विषय कहा गया है इससे यह नहीं समझनाचाहिये कि यह सुनय असद्भूत अनुपचरित

और उपचरित व्यवहारनयका लक्षण है क्योंकि समीचीन नयका लक्षण तद्गुणारोपही कहागया है जो अतद्गुणारोप नय हैं वह कुनय हैं ऐसा ऊपर अच्छीतरह सिद्ध किया जा चुका है। इस-लिये यहां पर जो असद्भूत अनुपचरित तथा असद्भूत उप-चरितनयकी मान्यताका उल्लेख किया गया है उसको प्रमाणांश नय नहीं समझना चाहिये। क्योंकि जो प्रमाणांश नय होगा वह वस्तुस्वरूपके अंशको ही ग्रहण करेगा। वह अपर वस्तु को स्ववस्तु

समझ कर ग्रहण नहीं करेगा। किन्तु जो नय प्रमाणाधीन नहीं है वही नय पर पदार्थोंमें स्वपदार्थकी कल्पना करता है इसलिये वह कुनय है। सारांश यह है कि जो मिथ्यादृष्टि वहिरआत्मा है वही पर जा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका अथवा औदारिकादि शरीररूपी नो कर्मोंका तथा घटपटादिका कर्ता होता है। इसका कारण यह है कि उसका ज्ञान मिथ्याज्ञानहै इसलिये उसके ज्ञानमें पदार्थ विपरीत ही झलकता है अतः जैसा उसके ज्ञानमें झलकता है वैसा ही वह मानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वानुभूतिसे शून्य मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा नोकर्मवाह्यकर्म धनधान्यादिक पदार्थोंमें अहंवुद्धि रखता है यह कुज्ञानका विषय है। और कुज्ञान के अंश का नाम ही कुनय तथा सुज्ञानके अंशका नाम ही सुनय है। यह वात असिद्ध नहीं है इसवातको स्वीकार करते हुये भी पंडित फूलचन्दजी ने आचार्योंके अभिप्रायोंको छिपाकर कुनयोंके उदाहरणोंद्वारा सुनयोंको कुनय सिद्ध करनेकी चेष्टा की है।

एक तरफ तो आप यह कहते हैं कि "तीर्थंकरोंका जो उपदेश चारों अनुयोगमें संकलित है उसे वचनव्यवहारकी दृष्टिसे कितने ही भागोंमें विभक्त किया जा सकता है? विविधप्रमाणोंसे प्रकाशमें विचार करने पर विदित होता है कि उसे हम मुख्यरूपसे दोभागोंमे विभक्त कर सकते हैं उपचरित कथन और अनुपचरित कथन। जिस कथनका प्रतिपाद्य अर्थ (वस्तुस्वरूप) तो असत्यार्थ है (जो कहागया है वैसा नहीं है) परन्तु उससे परमार्थभूतअर्थ (वस्तुस्वरूप [illegible] ज्ञान हो जाता है, उसे उपचरित कथन कहते हैं। और जिसकथनसे जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूपमें ज्ञान होता है उसे अनुपचरित कथन कहते हैं"।

इस वक्तव्यका तात्पर्य यह है कि अनुपचरित कथन है वह निश्चयस्वरूप है और उपचरित कथन है वह व्यवहारस्वरूप है

अर्थात् गुणगुणीके भेदरूप कथन है इसलिये वह वस्तुस्वरूप तो नहीं है क्योंकि वस्तुस्वरूप गुणगुणी अभेदरूप है तो भी उस भेदरूप कथन से परमार्थ स्वरूप वस्तुस्वरूपका बोध होजाता है। यह कथन तद्गुणारोप सुनयका कथन है। क्योंकि सुनयके विना परमार्थभूतवस्तुका बोध नहीं होता। अतः यहां पर तो आप उपचरितनयके द्वारा परमार्थभूत अर्थका ज्ञान हो जाता है ऐसा कह आये हैं। इसके आगे आपने जो उपचरित कथनके चार उदाहरण दिये हैं वे ऊपर में उद्धृत किये जाचुके, उनमें "शरीर मेरा है और देश धन तथा स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं" आदि इस उपचरितकथनसे परमार्थरूप अर्थका बोध कैसे होगा? नहीं होगा! यदि शरीर धन धान्य स्त्री पुत्रादि मेरे हैं इस मान्यतासे परमार्थ स्वरूप आत्मार्थका बोध होजाता है तो यह मान्यता तो अनादिकालको है और इसी मान्यतासे यह जीव अनादि कालसे संसार परिभ्रमण कररहा है आजतक इस मान्यतासे किसीने भी आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं की इसलिये यह उपचरित कथन परमार्थस्वरूप अर्थका विघातक है अतः यह उपचार मिथ्या है इस मिथ्या उपचारका उदाहरण देकर वास्तविक उपचार नयको मिथ्यानय वतलाना सर्वथा अनुचित है।

आप यहभी कहते जारहे हैं कि "शास्त्रों में लौकिक व्यवहार को स्वीकार करनेवाले ज्ञान नयकी अपेक्षा (श्रद्धा मूलक ज्ञान नयकी अपेक्षा नहीं) असद्भूतव्यवहारनयका लक्षण करते हुये लिखा है कि जो अन्य द्रव्यके गुणों को अन्य द्रव्यके कहता है वह असद्भूतव्यवहार नय है। इस वक्तव्यमें आप खुद इस वात को मंजूर करते हैं कि शास्त्रोंमें लौकिक व्यवहारको स्वीकार करने वाले ज्ञान नयकी अपेक्षा जो कथन है वह कथन श्रद्धामूलक ज्ञान नयकी अपेक्षा कथन नहीं है अर्थात् कुज्ञान नय असद्भूत

व्यवहार की अपेक्षासे वह कथन है। जब वह श्रद्धामूलक असद्भूत व्यवहार नयका कथन नहीं है तब वह कथन अश्रद्धामूलक कुज्ञाने नयका ही समझा जायगा। इस हालतमें शरीरादि मेरा है धन धान्यादिक मेरे हैं ऐसी मान्यताको सुज्ञान नय असद्भूत व्यवहार नहीं कहा जासकता है। सुज्ञान असद्भूत व्यवहारनयका विषय तो आत्मामें पर निमित्तसे होनेवाले राग द्वेष परिणाम हैं, वे आत्माहीके हैं। उसीका प्रतिपादन करना सुज्ञान असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। परन्तु शरीरादिक को पुत्रपौत्रादिकको धन धान्यादिक सम्पत्तिको अपना समझना मानना यह कुज्ञान असद्भूतव्यवहारनयका विषय है। इसलिये वह मिथ्या है इस नयसे परमार्थभूत अर्थकी सिद्धि नहीं होती।

यहा पर इस बातको भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि व्यवहारनयके आचार्योंने दो भेद किये है। एक सद्भूतव्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय अतः सद्भूतव्यवहार नयके विषयमें तो किसीका मतभेद नहीं है क्योंकि इस नयके द्वारा सद्पदार्थमें ही व्यवहार होता है। तो भी आचार्योंने इसको भी अभूतार्थ जिस अपेक्षा से कहा है उस अपेक्षा का सविस्तर स्पष्टीकरण ऊपर किया जाचुका है। तथा असद्भूतव्यवहारनय का भी उदाहरण पूर्वक एवं हेतु पूर्वक स्पष्टीकरण फल सहित सविस्तर किया गया है। जिससे असद्भूतव्यवहारनयका क्या विषय है यह बात अच्छी तरह समझमें आजाती है। तथा लौकिक व्यवहारनयाभासोंका भी ऊपरमें कुछ नयाभासोंका उदाहरण पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। आचार्योंने खुलासा करनेमें कोई कमी नहीं रक्खी है, तो भी नयविभागको नहीं समझनेवाले सज्जन असद्भूतव्यवहारनयके विषयमे गडबडा जाते हैं। इसका कारण यह है कि लौकिक व्यवहारार्थ जो नयाभासोंकी प्रवृत्ति

होरही है उसे भी आचार्योंने असद्भूतव्यवहारनयका विषय कहा है। इसका भी कारण यह है कि व्यवहारनय दो भागोंमें विभक्त होनेसे लौकिकव्यवहार सभूद्तव्यवहारमें तो गर्भित हो नहीं सकते। क्योंकि उसमें अतद्गुणारोप हो नहीं सकता। यदि उसमें अतद्गुणारोप किया जाय तो वह सद्भूत रह न ीं सकता इसलिये लौकिक व्यवहार जिस नयाश्रित चल रहा है उसे आचार्योंने असद्भूतव्यवहारनयमें गर्भित किया है फिर भी आचार्योंने उसे कुनय, नयाभासही कहकर पुकारा है अतः लौकिक नयाभासों के उदाहरण से सुनयको कुनय या नयाभास समझना या समझाना उचित नहीं है।

इस बात को आप भी स्वीकार करते हैं कि "इसलिये दोनों स्थलों पर उपचार शब्द का व्यवहार किया गया है मात्र इस शब्द साम्यको देखकर उनकी परिगणना एक कोटी में नहीं करनी चाहिये। मोक्षमार्ग में भेद व्यवहार गौण होने से त्यजनीय है। और भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहार अवास्तविक होने से त्यजनीय है।" जैन तत्त्व मीमांसा पृष्ठ १५।

तथा नय चक्र का प्रमाण देते हुये आप यह भी स्वीकार करते हैं कि "यहां अखण्ड एक वस्तुमें भेद करने को उपचार या व्यवहार कहा है। इसलिये प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक द्रव्य में जो गुण पर्याय भेद परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं है और यदि वह वास्तविक नहीं है तो प्रत्येक द्रव्य को भेदाभेद स्वभाव क्यों माना गया है और यदि वास्तविक है तो उसे उपचरित नहीं कहना चाहिये। एक ओर तो भेद करने को वास्तविक कहो और दूसरी ओर उसे उपचरित भी मानो ये दोनों बातें नहीं बन सकतीं। समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी उभय रूप से प्रतीति होती है। इसलिये यह उभय रूप ही है इसमें संदेह नहीं। यदि

इस दृष्टि से देखते हैं तो जिस प्रकार वस्तु अखण्ड एक है वह कथन वास्तविक ठहरता है। इसी प्रकार वह गुणगुणी के भेद से भेद रूप है यह कथन भी वास्तविक ही ठहरता है फिर भी यहां पर जो भेद करने को उपचार कहा है सो यह अखण्ड एक वस्तु को प्रतीति में लाने के अभिप्राय से ही कहा गया है। आशय यह कि यह जीव अनादिकाल से भेद को मुख्य मान कर प्रवृत्ति करता आरहा है जिससे वह संसार का पात्र बना हुआ है। किन्तु यह संसार दुखदाई है ऐसा समझकर उससे निवृत्त होने के लिये उसे भेद को गौण करने के साथ अभेद स्वरूप अखण्ड एक आत्मा पर अपनी दृष्टि स्थिर करनी है तभी वह संसार बन्धनसे मुक्त हो सकेगा। वर्तमान में इस जीव का यह मुख्य प्रयोजन है और यही कारण है कि इस प्रयोजन को ध्यान में रखकर इससे मोक्षेच्छुक जीव की दृष्टि को परावृत कराया गया है।"

आपके कहने का सारांश यह है कि जीव अनादि कालसे भेद को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता आ रहा है अर्थात् भेद रूप ही वस्तु स्वरूप समझता रहा है। किन्तु वस्तु स्वरूप भेद रूप (खण्ड रूप) नहीं है वह। अभेद रूप एक अखण्ड द्रव्य है उसमे भेद करना खण्ड करना उसका नाम उपचार है। यह उपचार व्यवहार स्व द्रव्य में ही है इसलिये परमार्थ भूत है। जो व्यवहार भिन्न कर्तृ कर्म आदि रूप है वह वास्तविक व्यवहार नहीं है इसलिये मिथ्या है। जब इस बात को आप मानते है तब नैगमादि समीचीन नयों को असमीचीन बतलाने का क्या प्रयोजन है? किसी भी आगम में नैगमादि नयोको असमीचान नय मिथ्या नय नहीं कहा है। यदि कहा हो तो बतलाने की कृपा करें। अन्यथा नैगमादि नयों का विषय सम्यक रूप नहीं

है उपचरित है ऐसा कहना आगम विरुद्ध है। नैगमादि नयों में नैगम संग्रह व्यवहार तीन नय तो द्रव्यार्थिक (निश्चय नय) हैं और ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ एवं भूत यह चार नय पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय हैं। "नैगमसंग्रहव्यवहारास्त्रयोनया द्रव्यार्थिका वेदितव्याः। ऋजुशब्दसमभिरूढैवंभूता श्चत्वारो नया पर्यायार्थिका ज्ञातव्याः।" सर्वार्थ सिद्धौ

"उक्ता नैगमादयो नया उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः, पूर्व पूर्व हेतुकत्वाच्च"

नैगमात्संग्रहोऽल्पविषयस्तन्मात्रग्राहित्वात् नैगमस्तु भावाभावविषयाद्बहुविषयः। यथैव हि भावे संकल्पस्तथाऽभावेनैगमस्यसंकल्पः एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। नैगमः संग्रहस्य हेतुः, संग्रहो व्यवहारस्य हेतुः। व्यवहार ऋजुसूत्रस्य हेतुः। ऋजुसूत्रः शब्दस्य हेतुः, शब्दः समभिरूढस्य हेतुः। समभिरूढ एवंभूतस्य हेतुरित्यर्थः। आर्वीनाः",

अर्थात् नैगमादि सात नय हैं इनका लक्षण अनेक धर्मरूप जो वस्तु ताविषे अविरोधकरि हेतुरूप अर्पण करनेतें साध्यके विशेषका यथार्थस्वरूप प्राप्त करनेकूं व्यापाररूप जो प्रयोग करना सो नय है। सो यह नय संक्षेपते दोय प्रकार है द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ऐसे। तहां द्रव्य तथा सामान्य तथा उत्सर्ग तथा अनुवृत्ति ए सर्व एकार्थ हैं। ऐसा द्रव्य जाका विषय सो द्रव्यार्थिक है। वहुरि पर्याय तथा विशेष तथा अपवाद तथा व्यावृत्ति ए सर्व एकार्थ हैं। ऐसा पर्याय जाका विषय सो पर्यायार्थिक है। इनि दोऊनिके भेद नैगमादि हैं। तहां नैगम, संग्रह, व्यवहार ए तीन तो द्रव्यार्थिक हैं। वहुरि ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत ए चारि पर्यायार्थिक हैं। तामें भी नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ए चारि तो अर्थकूं प्रधानकरि प्रवर्तें हैं तातें इनको अर्थनय कहिये वहुरि शब्द समभिरूढ एवंभूत ए तीन शब्दको प्रधानकरि प्रवर्तें है

ताते इनको शब्दनय कहिये। इहा कोई पूछे पर्यायार्थिक तो नय कहा अरु गुणार्थिक न कहा सो कारण कहा ? ताका उत्तर—सिद्धान्तमें पर्याय सहभावि क्रमभावी ऐसे दोय प्रकार कहे है। तहां सहभावी पर्यायको गुण संज्ञा कही है। क्रमभावीकूं पर्याय संज्ञा कही है। तातें पर्याय कहनेते यामे गुण भी जानिलेना ऐसे जानना नैगमनय ने तो वस्तुका सत् असत् दोऊलिये। संग्रहनयनै सत् ही लिया। व्यवहारने सत्का एक भेद लिया। ऋजुसूत्रनैं वर्तमानकूं ही लिया। शब्दोंनें वर्तमान सत्में भी भेदकरि एक कार्य पकडा समभिरूढनैं वा कार्यके अनेक नाम थे तिसमे एक नामकूं पकडा एवंभूतने तामेंभी जिस नामकूं पकडा तिसही क्रियारूप परिणाम ताकूं पकडा। दृष्टान्त—जैसे एक नगरविषे एक वृक्ष ऊपरि पक्षी बोलेथा ताकूं काहूने कही या नगरविषे पक्षी बोले हैं। काहूने कही या नगरमें एक वृक्ष है तामे बोले है। काहूने कहा या वृक्षका एक बडा डाला है तामें बोले है। काहैने कही इस डालामें एक शाखा छोटी डाली है तामे बोले है। काहूने कही वाके शरीर में कंठ है तामें बोले है। ऐसे उत्तरोत्तर विषय छूटता गया सो यह अनुक्रमते इनि नयनिके वचन जानने। जिसपदार्थकूं साधिये तापरि सर्वही यहि एसे नय लगाय लेने। सारांश-पहला पहला नयतो कारणरूप है। अगिला अगिला कार्यरूप है। तहां कार्यकी अपेक्षा स्थूलभी कहिये। ऐसे ये नय पूर्व पूर्व तो विरुद्धरूप महाविषय हैं। उत्तर उत्तर अनुकूलरूप अल्प विषय हैं। जाते पहिले नयका विषय अगले नयमें नाहीं ताते विरुद्ध है। आगलेका विषय पहिलेमें गर्भित है तातें ताके अनुकूलपणा है।

ऐसे ये नैगमादि नय कहै ते आगे अल्पविषय हैं तिस कारणते इनिके पाठका अनुक्रम है। पहिले नैगम कह्या ताका तो वस्तु सद्रूप असद्रूप इत्यादि अनेक धर्मरूप है। ताका संकल्प विषय है

सो यह नय तो सर्वते महा विषय है। याकेपीछे संग्रह कह्या सो याका विषय सत् द्रव्यत्व आदि ही है। इनिके परस्पर निषेध रूप जो असत् आदि सो विषय नाहीं है। तातै तिसते अल्प विषय है। वहुरि याके पीछे व्यवहार कह्या सो याका विषय संग्रहके विषयका भेद है। तहां अभेद विषय रहिगया तातै तिसते अल्प विषय है। वहुरि याके पीछे ऋजुसूत्र कहा सो याका विषय वर्तमान मात्र वस्तुका पर्याय है सो अतीत अनागत रहिगया तातै तिसते अल्प विषय है याकै पीछे शब्द नय कह्या तो याका विषय वस्तुकी संज्ञा है एक वस्तुके अनेक नाम हैं तहां काल कारक लिंग संख्या साधन उपग्रहादिक भेदतैं अर्थकूं भेदरूपक हे है। सो इनिका भेद होतेंभी वर्तमान पर्याय रूप वस्तुकूं अभिन्न मानता जो ऋजुसूत्र तातै अल्प विषय भया। जातैं एक भेद करते अन्य भेद रहिगये। वहुरि याके पीछे समभिरूढ कह्या सो एक वस्तुके अनेक नाम हैं तिनिकूं पर्याय शब्द कहिये तिनि पर्याय शब्दके जुदे जुदे भी अर्थ हैं। सो यह जिस शब्दकूं पकडे तिस ही अर्थ रूपकूं कहै तब अन्य शब्द याते रहिगये तातै अल्प विषयभया। वहुरि एवंभूत याके पीछे कह्या सो याका विषय जिस शब्दकूं पकड्या तिस क्रिया रूप परिणमता पदार्थ है सो अनेक क्रिया करता एक ही कहता जो समभिरूढ ताते अल्प विषय भया। ऐसे उत्तरोतर अल्प विषय हैं। ऐसे ये नयभेद काहेतैं होय है? जाते द्रव्य अनन्त शक्तिकूं लिये है तातैं एक एक शक्ति प्रति भेदरूप भये वहुत भेद होय है। ऐसें ये नय मुख्य गौणपणां करि परस्पर सापेक्षरूप भये सन्ते सम्यग्दर्शनके कारण होय है।

इस कथनसे नैगमादि नय सम्यक् रूप हैं और सम्यग्दर्शनके कारण होनेसे परमार्थभूत हैं ये नैगमादि नय सब तद्गुणारोपहां है अतद्गुणारोप नहीं है। अर्थात् जड चैतन्य सवपदार्थोंमें एकत्व

स्थापित करना इन सब नयोंका काम नहीं है इसलिये इनका विषय भी परमार्थभूत है और इन नयोंका लक्ष्यार्थ भी परमार्थस्वरूप ही है। क्योंकि इन नयोंका बोध होनेपर वस्तुस्वरूपका बोध होजाता है।

नैगमादिनयोंके विषयमें पंडित फूलचन्द्रजीका जो यह कहना है कि—

"उदाहरणस्वरूप पर संग्रहनयके विषय महासत्ताकी दृष्टिसे विचार कीजिये। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जैनदर्शनमें स्वरूपसत्ताके सिवाय ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो सब द्रव्योंमें तात्त्विकी एकता स्थापित करती हो फिर भी अभिप्राय विशेषसे सादृश्य सामान्यरूप महासत्ताको जैनदर्शनमें स्थान मिला हुआ है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई काल्पित युक्तियों द्वारा जड चेतन सब पदार्थोंमे एकत्व स्थापित करना चाहता है तो वह उपचरित महासत्ताको स्वीकार करके उसके द्वारा ही ऐसा कर सकता है। परमार्थभूत स्वरूपास्तित्व के द्वारा नहीं। इसप्रकार आगममे इस नयको स्वीकार करनेसे विदित होता है कि जो इस नयका विषय है वह भले ही परमार्थभूत न हो पर उससे फलितार्थरूपमें स्वरूपास्तित्वका बोध होजाता है। इसी प्रकार नैगम व्यवहार और स्थूल ऋजु सूत्र नय का विषय क्यों उपचरित है इसका व्याख्यान कर लेना चाहिये तथा इसी प्रकार अन्य नयों के विषय मे भी जान लेना चाहिये।"

वह उचित नहीं है। कारण—

आगम मे संग्रह नय का लक्षण ऐसा किया है—अपनी एक जाति वस्तुनिकूं अविरोध करि एक प्रकार पणाकूं प्राप्ति करि जिनमें भेद पाईये ऐसे विशेषनिकूं अविशेष करि समस्तनिकूं ग्रहण करे ताकूं संग्रह नय कहिये। इहा उदाहरण—जैसे सत्

ऐसा कहते सत् ऐसा वचन करि तथा ज्ञान करि अन्वय रूप जो चिन्ह ता करि अनुमान रूप किया जो सत्ता ताके आधार भूत जे सब वस्तु तिनिका अविशेष करि संग्रह करे जो सर्व ही सत्ता रूप है ऐसे संग्रह नय होय है। तथा द्रव्य ऐसा कहते जो गुण पर्याय-निकरि सहित जीव अजीवादिक भेद तथा तिनिके भेद तिनिका सर्वनिका संग्रह होय है तथा घट ऐसा कहते घट का नाम तथा ज्ञानके अन्वय रूप चिन्ह करि अनुमान रूप किये जे समस्त घट तिनिका संग्रह होय है। ऐसे अन्य भी एक जातिके वस्तुनिकूं भेला एक करि कहैं तहां संग्रह जानना। तहां सत् कहनेते सर्व वस्तु का संग्रह भया। सो यहु तो शुद्ध द्रव्य कहिये ताका सर्वथा एकान्त सो तो संग्रहाभास है कुनय है। सो सांख्य तो प्रधानकू ऐसा कहें हैं। बहुरि व्याकरण वाले शब्दाद्वैतकूं कहें हैं। वेदान्ती पुरुषाद्वैत कहे हैं। बोधमति संवेदनाद्वैत कहै हैं। सो ये सब नय एकान्त हैं। बहुरि या नयकूं पर संग्रह कहिये। बहुरि द्रव्यमें सर्व द्रव्यनिका संग्रह करे, पर्यायमें सर्व पर्यायनिका संग्रह करे। सो अपर संग्रह है। ऐसे ही जीव में सर्व जीवनिका संग्रह करे। पुद्गलमें सर्व पुद्गलनिका संग्रह करे। घट में सर्व घटनि का संग्रह करे। इत्यादि जानना। सारांश यह है कि इस नय के दो भेद किये—एक पर संग्रह नय, दूसरा अपर संग्रह नय इन दो भेदों में पर संग्रह नय कुनय है अन्य मतावलम्बीयों द्वारा अद्वैत संग्रह किया गया है इसलिये उनका कहना मिथ्या है। क्यों कि सब पदार्थ ही द्वैत हो है अद्वैत नहीं है। यदि सर्व पदार्थ अद्वैत ही होय तो फिर संसार मोक्ष आदि की व्यवस्था ही नहीं बनेगा। इसलिये पर संग्रह नय का उदाहरण में महासत्ता को स्वीकार कर अपर संग्रह नय को अपरमार्थ भूत ठहराना सर्वथा आगम विरुद्ध है। क्यों कि जिस महासत्ता में अवान्तर सत्ता विद्यमान

नही है वह महासत्ता भी कैसी ? और उससे स्वरूपास्तित्व का बोध भी कैसा ?

जव कि अपनी सत्ता ही अद्वैततामें नष्ट होजाती है इसलिये जहा अपरसत्ता स्वीकर की जाती है उसी संग्रहनयद्वारा स्वरूपास्तित्वका वोध होसकता है और उस नयका विषय भी परमार्थ भूत है। इसनयका विषय ज्ञानके साथ अन्वयरूप चिन्हकरि अनुमानसे सर्व पदार्थोंकी सत्ताके आधारभूत सवनिका अविशेषकरि सत्तारूपसे संग्रह करनेका है। अर्थात् सत्तारूपसे सर्वद्रव्य सतरूप है इसनयसे ऐसा वोध होता है इस वोधसे सर्वपदार्थोंकी सत्ता अलग अलग सिद्ध होती है इसलिये इसनयका विषय भी परमार्थभूत है और फलार्थ भी स्वरूपास्तित्वका वोध है। इसीप्रकार व्यवहारनय का विषय सत्तारूपसे संग्रह किये गये सर्व पदार्थोंमे भेद कर सवकी अलग अलग सत्ता सिद्ध करने का है इसलिये इसनयद्वारा अपनी सत्ता सिद्ध होती है सो परमार्थभूत है। इसीप्रकार सव नयोंपर घटालेना चाहिये। अतः नैगमादि नय सर्व ही सम्यक्रूप है इसको असम्यक्रूप समझना मानना मिथ्यात्व का द्योतक है। इसका कारण यह है कि नैगमादिनय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोय भेदरूप है सो ही निश्चयव्यवहार साधन रूप है। ऐसा नय चक्रमें कहा है कि—जो निश्चय व्यवहारनय है ते सर्वनयनिका मूलभेद है। इनि दोय भेदनिते सर्वनय भेद प्रवर्ते हैं। तहां निश्चयके साधनेकूं कारण द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोऊ नय हैं। वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप ही है तातें इन दोऊनयनिते साधिये है। तातें ये दोऊही (द्रंव्यार्थिक-पर्यायार्थिक) तत्त्वस्वरूप है सत्यार्थ है।

इसलिये इनको असत्यार्थ मानना मिथ्यात्वका ही कारण है तथा श्लोकवार्तिकमें ऐसा कहा है कि जो एवंभूतनय है वह निश्चयस्वरूप है। क्योंकि जिसकी जो संज्ञा होय तिस ही क्रिया रूप

परणमता जो पदार्थ सो याका विषय है। जैसे चैतन्य, अपना चैतन्यभावरूप परिणमें ताकूं चैतन्य ही कहै हैं। क्रोधीको क्रोधी ही कहै हैं।

यहां प्रश्न—जो अध्यात्मग्रंथनिमें कह्या है जो निश्चयनय तो सत्यार्थ है व्यवहार असत्यार्थ है त्यजने योग्य है। सो यह उपदेश कैसे है? ताका समाधान—जो उपदेश दोय प्रकार प्रवर्ते है तहां एक तो आगम तामे तो निश्चय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोऊ ही नय परमार्थरूप सत्यार्थ कहै हैं। तथा प्रयोजन और निमित्तके वशतें अन्य द्रव्य गुण पर्यायनिका अन्य द्रव्यपर्यायनिविषे आरोपण करना सो उपचार है याकूं व्यवहार कहिये। असत्यार्थ भी कहिये गौण भी कहिये वहुरि दूसरा अध्यात्मउपदेश तामें अध्यात्मग्रंथका आशय यह हैं जो आत्मा अपना एक अभेद नित्य शुद्ध असाधारण चैतन्य मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय है सो तो उपादेय है वहुरि अवशेष भेद पर्याय अनित्य अशुद्ध तथा साधारणगुण तथा अन्य द्रव्य ये सर्व पर्याय नयके विषय हैं ते सव हेय हैं। काहेतें? जातें यह आत्मा अनादितें कर्मबन्धपर्यायमें मग्न है। क्रमरूपज्ञानतें पर्यायनिकूं ही जाणे है। अनादि अनन्त अपना द्रव्यस्वभावका याके अनुभव नाहीं तातें पर्यायमात्रमें आपा जानें है। तातें ताकूं द्रव्यदृष्टिकरावनेके अर्थि पर्यायदृष्टिकूं गौणकरि असत्यार्थ कहिकरि एकान्तपक्ष छुडावनेके अर्थि झूठा कह्या है। ऐसा तो नहीं है जो ए पर्याय सर्वथा ही झूठ हैं। किछू वस्तु ही नांही। आकाशके फूलवत् है। जो अध्यात्मशास्त्रका वचन है ताकूं सर्वथा एकान्त पकड करि पर्यायनिकू सर्वथा झूठ माने तो वेदांती तथा सांख्यमतीकी ज्यों मिथ्यादृष्टि ठहरे है। पहिले तो पर्यायवुद्धिका एकान्त मिथ्यात्व था। अव ताकूं सर्वथा छोडि द्रव्यनयका एकान्त मिथ्यादृष्टि होगा, तव गृहीतमिथ्यात्वका सद्भाव आवेगा।

इसकथनसे नैगमादिनयोंको असत्यार्थ मानना गृहीत मिथ्यात्वका कारण है। जैनागममें ऐसो कोई भी महासत्ताको स्थान नहीं मिला है जो जड चेतनकी एकत्वसत्ता स्थापित करती है। क्योंकि जहां जडचेतनकी एकत्वसत्ता स्थापित की जायगी वहां न जडकी ही सत्ता रहसकती है और न चेतन की ही सत्ता रह सकती है। ऐसी दशामें दोनोकी सत्ताका ही अभाव सिद्धहोगा इसलिये आप जो परसंग्रहनयके उदाहरण में यह बतलाते हैं कि

"अभिप्रायविशेषसे सादृश्य सामान्यरूपसे महासत्ताको जैनदर्शनमें स्थान मिला हुआ है। इसद्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई कल्पित युक्तियोंका द्वारा जड चेतन सब पदार्थोंमें एकत्व स्थापित करना चाहता है तो वह उपचरित महासत्ता को स्वीकार करके उसके द्वारा ही ऐसा कर सकता है"

सो क्या यह जैनागममें मानी हुई संग्रहनयका विषय है या परसंग्रहनयका विषय है? यदि जैनागममे मानी हुई संग्रह नयका विषय जडचेतनकी एकत्वसत्ता स्थापित करनेका है अथवा उसे महासत्ता बोल कर स्वीकार किया गया है तो बतानेकी कृपा करें कि ऐसा कहां पर लिखा है? यदि जैनागममें जडचेतनकी अद्वैतसत्ता कहीं पर भी सत्ता स्वीकार नहीं की गई है तो फिर पर संग्रहनयका उदाहरण देकर समीचीन स्वरूपसत्ताको स्थापित करने वाले संग्रहनयको उपचरित ठहरा कर जिस महासत्तामें स्वरूपसत्ताका लोप हो ऐसी जडचेतनकी एकत्वसत्तामें गर्भित करना क्या यह न्यायसंगत है? कदापि नहीं। अतः जैनागममे मानी हुई संग्रहनयसे स्वरूपसत्ताका ही बोध होता है, लोप नहीं होता इसबात को हम ऊपरमें संग्रहनयके लक्षणमे दिखा चुके हैं। समयसारके मोक्षद्वारमें भी सत्ता स्वरूपका निर्णय किया गया है वह इस प्रकार है—

"लोकालोकमान एक सत्ता है आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य एकसत्ता लोक परिमित है। लोकपरिमाण एकसत्ता है अधर्मद्रव्य, कालके अणु असंख्यसत्ता अगणित है। पुदगल शुद्धपरमाणुकी अनन्त सत्ता, जीवकी अनंतसत्ता न्यारी न्यारी थित है। कोउ सत्ता काहुसो न मिले एकमेक होय सबे असहाय यों अनादि ही की रीत है"

"एही छह द्रव्य इनिहीको हैं जगतजाल, तामें पांच जड एक चेतन सुजान है। काहुकी अनन्तसत्ता काहूसों न मिले कोई, एक एक सत्तामें अनंतगुण गान है। एक एक सत्तामें अनन्त-परजाय फिर, एकमें अनेक इहभांति परिमाण है। यह स्यादवाद यह संतनकी मरयाद यह, है सुखपोप यह मोक्षको निधान है"

"साधि दधीमंथनमें रस पंथनमें जहां तहां ग्रंथनमें सत्ता हीको सोर हैं। ज्ञान मान सत्तामें सुधानिधान सत्तामें सत्ताकी दुरनिसंझा सत्ता मुख भोरहैं। सत्ता स्वरूप मोक्ष सत्ता भूले यह दोप सत्ताके उलंघे धूमधाम चहुँ ओर है। सत्ताकी समाधिमें विराज रहै सो ही साहू, सत्तातें निकसि और गहै सोई चोर है।।

उपजै विनसे थिर रहै यहु तो वस्तु वखान।
जो मर्यादा वस्तुकी सो सत्ता परमान ।।

यह वस्तुस्थिति है । प्रमाणनयनिक्षेपों के विषयमें यहांतक आगमानुकूल सप्रमाण "जैनतत्त्वमीमांसाकी समीक्षा की गई इसके आगे आधाराधेय और संयोग सम्बन्धके विषयसे थोडा प्रकाश डाला जाता है ।

आपका कहना है कि "प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है । इसमें उसके गुण और पर्याय भी उसी प्रकार स्वतंत्र हैं यह कथन आही जाता है । (यह कानजाके शब्द है) इसलिये विवक्षित किसी एक द्रव्यका या उसके गुणों और पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायोंके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है, यह परमार्थ सत्य है इसलिये एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो सयागसम्बन्ध या आधाराधेयभाव आदि कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिये"

इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुये आपने कटोरी घी का दृष्टान्त दिया है वह निम्नप्रकार है ।

"हम पूछते है कि उस घीका परमार्थभूत आधार क्या है ? कटोरी या घी ? आप कहोगे कि घीके समान कटोरी भी है तो हम पूछते हैं कि कटोरी का औंधा करने पर वह गिर क्यों जाता है ? जो जिसका वास्तविक आधार होता है उसका वह कभी त्याग नहीं करता । इस सिद्धान्तके अनुसार यदि कटोरी भी घीका वास्तविक आधार है तो उसे कटोरीको कभी भी नहीं छोडना चाहिये ।

परन्तु कटोरी के ओधा करने पर वह कटोरी को छोड ही देता है । इससे मालुम पडता है कि कटोरी घी का वास्तविक आधार नही है । उसका वास्तविक आधार तो घी ही है । क्यों कि वह उसे कभी भी नही छोडता वह चाहे कटोरी मे रहे चाहे वह भूमि पर रहे या उडकर हवामें विलीन हो जाय वह रहेगा

सदा घी ही। यहां पर यह दृष्टांत घी रूप पर्याय को द्रव्य मान कर दिया है इसलिये घी रूप पर्यायके बदलने पर वह बदल जाता है यह कथन प्रकृत में लागू नहीं होता। यह एक उदाहरण है इसी प्रकार कल्पित किये गये जितने भी सम्बन्ध है उन सबके विषय में इसी दृष्टिकोण से विचार कर लेना चाहिये। स्पष्ट है कि माने गये सम्बन्धों में एक मात्र तादात्म्य सम्बन्ध परमार्थ भूत है। इसके सिवाय निमित्तादिकी दृष्टिसे अन्य जितने भी सम्बन्ध कल्पित किये गये है उन्हें उपचरित अतएव अपरमार्थ भूत ही जानना चाहिये" —पृष्ठ १७ जैन तत्त्व मीमांसा

यह भी आपका कहना एकान्तवाद से दूषित है इसलिये मिथ्या है प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है और उसका परिणमन भी स्वतंत्र है यह बात जीव और पुद्गल द्रव्य में सर्वथा एकान्त रूपसे लागू नहीं होती। क्यों कि इन दो द्रव्यों में बन्ध बन्धक भाव अनादि कालसे स्वसिद्ध है। इन दो द्रव्यों में एक वैभाविकी स्वभाव रूप शक्ति है। इस शक्तिके कारण जीव और पुद्गल कर्मोंका अनादि काल से संयोग संबन्ध हो रहा है इस कारण दोनों द्रव्य एक क्षेत्रावगाही होकर अनादि कालसे दोनों द्रव्य परतंत्र हो रहे हैं। जब तक दोनोंका परस्परमें बन्धन है तब तक दोनों ही परतंत्र है पराधीन हैं। वह उसको नहीं छोडता, वह उस को नहीं छोडता। कर्मोंके सम्बन्ध से यह जीव अनादि कालसे निगोद में परतंत्र हुआ पडा है और अनन्त काल तक आगे भी इसी प्रकार पडा रहेगा। स्वतंत्र हो तो कर्मोंके सम्बन्ध से किसलिये दुखी रहे? चारो गतियों में किसलिये चक्र लगाता फिरे? कर्मोंके सम्बन्धसे यह जीव संसार में अनेक प्रकारके दुख भोग रहे है यह बात प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। इसको सर्वथा काल्पनिक असत्य कैसे कहा जाय? यदि जीव द्रव्य सर्वथा स्वतंत्र है तो पण्डितजी आपकी आत्मा भी सर्वथा स्वतंत्र होनी

चाहिये फिर आपकी आत्मा इस गन्दी देह मे क्यों रुकी हुई है । आपकी आत्मा की स्वतंत्रता कहा गई ? इसलिये मानना पडेगा कि जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य अपनी वैभाविकी शक्ति के कारण परस्पर में एक के आधीन एक हो रहा है। इस पराधीनता को छुडाने के लिये ही शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के उपाय बताये है। अन्यथा स्वतंत्र के लिये स्वतंत्र बनानेका उपाय कहना सब व्यर्थ ठहरेंगे। इसलिये संयोग सम्बन्ध या आधाराधेय भाव सर्वथा कल्पनीक नही है, वास्तविक भी है । आचार्यों ने जिस अपेक्षासे जो कथन किया है उस अपेक्षा से वह वास्तविक ही है। उसे दूसरी अपेक्षासे मिथ्या सिद्ध करना आगमको झूठा सिद्ध करना है इसका नाम तत्त्व मीमांसा नहीं है। पर पदार्थकी अपेक्षा भी आधाराधेय भाव प्रमाण सिद्ध है । पात्र के आधार घृत है। वृक्षके आधार फल पुष्पादि है । यदि ऐसा न माना जायगा तो आधेयपदार्थकी दुर्दशा ही होगी जैसे कटोरीके बिना घृतकी । वैसी दशा आधार छोडनेवाले सर्व पदार्थोंकी होगी इसलिये कथंचित् पदार्थ स्वाश्रित भी है कथंचित् पदार्थ पराश्रित भी है तीनों लोक अनादि कालसे तीनों वातवलयोंके आधार पर टिका हुआ है और अनन्त काल ऐसे ही टिका रहेगा तथा वातवलय लोकाकाश के आश्रित ठहरा हुआ है । इसी प्रकार तीनो लोकोंमे रहने वाले धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य काल द्रव्य सर्व द्रव्य लोकाकाश के आश्रित हैं।

लोकाकाशेऽवगाहः

टीका—उक्तानां धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहो, न बहिरित्यर्थः। यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः

आकाशस्य क आधारः इति । आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः स्वप्रतिष्ठमाकाशम् । यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठं धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव । अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः । तथा सत्यनवस्था प्रसंग इति चेन्नैष दोषः, धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीति एतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलं । ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनां । न तथा आकाशम् पूर्वम् । धर्मान्युत्तरकालभावीनि अतो व्यवहारनयापेक्षयाऽपि आधाराधेयकल्पनानुपपत्तिरिति ।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक आकाश द्रव्य ही स्वप्रतिष्ठित है और सब द्रव्यों म पराश्रित आधाराधेय भाव घटित होता है। वह सर्वथा असत्य काल्पनिक नही है ।‌ इसको सर्वथा काल्पनिक असत्य मानना ही असत्य है।

संसारी जोव पांचों शरीरों में से दोय, तीन, चार शरीरों के आश्रय रहते हैं जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

टीका—तच्छब्दः प्रकृततैजसकार्मणप्रतिनिर्देशार्थः ते तैजसकार्मणे आदिर्येषां तानि तदादीनि भाज्यानि विकल्प्यानि । आकुतः ? आचतुर्भ्यः युगपदेकस्यात्मनः कस्य-

चित् द्वे तैजसकार्मणे । अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि । वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा अन्यस्य चत्वारि औदारिक आहारकतैजसकार्मणानीति विभागः क्रियते ।

सिद्ध भगवान शरीर रहित अनादि कालसे अपने अनन्तवलके प्रभावसे अपने ही आधारपर एक ही स्थान पर अवस्थित हैं और इसी प्रकार आगे भी अनन्त काल तक ऐसे ही रहेंगे तो भी वे अधर्म द्रव्यके आश्रय लिये हुये हैं और सिद्धक्षेत्रके आकाशका आधार लिये हुए हैं । इस वातको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता ।

संसारीजीवोंके साथ कर्मोंका अनादिसे सम्बन्ध है यह वात असिद्ध नहीं है प्रमाणसिद्ध है क्या इसको कल्पनीक कहाजासकता है ? नहीं कहा जा सकता

"अनादिसम्बन्धे च"

टीका–चशब्दो विकल्पार्थः अनादिसम्बन्धे सादिसम्बन्धे चेति । कार्यकारणभावसंतत्या अनादिसम्बन्धे विशेषापेक्षया सादिसम्बन्धेऽपि च बीजवृक्षवत् । यथौदारिकवैक्रियिकाहारकाणि जीवस्य कादाचित्कानि, न तथा तैजसकार्मणे, नित्यसम्बन्धिनी हि ते आ संसारक्षयात् "

अर्थात् कर्मोंका सम्बन्ध जीवके साथ अनादिकालका भी है और सादि भी है बीजवृक्षवत् । तैजसकार्मणशरीरका जीवकेसाथ अनादि सम्बन्ध है जब तक इस जीवकी संसार अवस्था रहेगी तबतक इसका सम्बन्ध भी रहेगा । तथा इसके निमित्तसे नवीन कर्मोंके सम्बन्धका कारण कार्यभाव भी बनाहुआ है । इसको भी

कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इस कार्य कारण भावसे ही इस जीवकी बन्धरूप संतति अविच्छिन्न रूपसे आजतक चली आई है तथा आगे भी जब तक बन्धका विच्छेद न होगा तबतक नवीन नवीन बन्धकी संतति चलती ही जायगी। अर्थात् द्रव्यकर्म के उदयमें रागद्वेषरूप जीवके भाव कर्म और इस राग द्वेष रूपभाव कर्मके निमित्तसे नवीन द्रव्यकर्मोंका आकर्षण होता ही रहेगा। "दर्वित आश्रव सो कहिये जहि पुद्गल जीवप्रदेश गहासे। भावित आश्रव सो कहिये जहि राग विरोध विमोह विकासे। सम्यक-पद्धति सो कहिये जहि दर्वित भावित आश्रव नासे। ज्ञानकला-प्रगटे जहि स्थानक अंतर बाहिर और न भासे॥"

समयसार आस्रव द्वारमें ऐसा कहा है।

जो लौं अष्टकर्मको विनाश नाहि सर्वथा तोलौं अंतर आत्मा मे धारा दोय बरनी। एकज्ञानधारा एक शुभाशुभकर्मधारा दोहूंकी प्रकृती न्यारी न्यारी बरनी। इतना विशेष जु कर्मधारा बन्धरूप पराधीन शकती विविध बन्ध करनी। ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार दोषकी हरनहार भौसमुद्रतरनी॥ पुण्यपाप एकत्वद्वार

सारांश यह है कि द्रव्यकर्मके उदयमें रागद्वेष रूप जीवके परिणाम होते हैं और रागद्वेष परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्म रूप बनकर आत्माके प्रदेशोंके चारो तरफ चिपट जाता है। जब तक अष्ट कर्मोंका सर्वथा नाश नहीं होता तब तक आत्मामें ज्ञान-धारा और कर्मधारा बनी रहती है। इस कारण अर्हन्त भगवान भी अघातिया कर्मोंके निमित्तसे पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हैं उन्हें भी विहार करना पड़ता है उपदेश देना पडता है कर्मोंकी स्थितिस-मानकरनेके लिये समुद्घात भी करना पड़ता है इसलिये यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि सर्व पदार्थ स्वतंत्र होने पर भी कथंचित् परतंत्र भी है। अतः एसा न मानने वालोंके मत में संसार

और मोक्ष अवस्था ही नहीं बन सकती है । इसलिये आचार्य कहते है । कि—

जो एकान्त नय पक्ष गहि छके कहावे दक्ष ।

सो एकान्तवादी पुरुप मृपावन्त परतक्ष

आप जीवका संसार और मुक्तअवस्थाको वास्तविक स्वीकार करते हुये भी कर्म के साथ आत्मा के सम्बन्ध को वास्तविक नहीं जानते, तो क्या विना कर्मोंके सम्बन्धके ही जीवकी संसार अवस्था है ? यदि है तो कर्म रहित सिद्धो की अवस्था और संसार अवस्थामें अंतर क्यों ! अतः कर्मों के सम्बन्ध से जीवकी संसार अवस्था है और कर्मोंके अभाव मे जीवकी मुक्त अवस्था है ऐसा सर्वदा आचार्यों ने स्वीकार किया है । मुक्त होना, मोक्ष होना इस शब्द से ही सिद्ध होता है कि पहिले जीव बन्धा हुआ था अब उस से छुटकारा पाकर मुक्त होगया अतः ससार पूर्वक ही मोक्ष है यदि ससार नहीं है तो मोक्ष भी नहीं है । और वह वास्तविक है । इस बातको असिद्ध करने के लिये आप जो यह कहते हैं कि—

" जीवका संसार उसकी पर्याय में ही है । और मुक्त भी उस की पर्यायमें ही है । यह वास्तविक है कर्म और आत्माका संश्लेष सम्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्मके पृथक् होने का ख्यापन करता है । इसीलिये यथार्थ अर्थका ख्यापन करते हुये शास्त्रकारो ने यह वचन कहा है कि—जिस समय आत्मा शुभ भावरूपसे परिणमित होता है उस समय वह स्वय शुभ है । जिस समय अशुभ भाव रूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वय अशुभ है । और जिस समय शुद्धभाव रूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुद्ध है । यह कथन एक ही द्रव्य के आश्रयसे किया गया है दो द्रव्योंके आश्रय से नहीं इसलिये परमार्थ भूत है । और कर्मोंके कारण जीव शुभ या अशुभ होता है और कर्मों के अभाव होने से

शुद्ध होता है यह कथन उपचरित होनेसे. अपरमार्थ भूत है। क्यों कि जब ये दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। और एक द्रव्यके गुण धर्म का दूसरे द्रव्य मे संक्रमण होता नहीं तब एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का कारण रूप गुण और दूसरे द्रव्य मे उसका कर्म रूप गुण कसे रह सकता है अर्थात् नहीं रह सकता है यह कथन थोडा सूक्ष्म तो है परन्तु वस्तुस्थिति यही है " पृष्ठ १८-१६ जैन तत्त्व मीमांसा

जीवकी संसार अवस्था तथा मुक्त अवस्था यह जीव की हो पर्याय है। तथा जीव शुभरूप अशुभरूप परिणमन भी स्वयं ही कर्ता है तथा शुद्ध रूप परिणमन भी स्वयं ही कर्त्ता है यह वात ठीक है। परन्तु पंडितजी यह तो वताने की कृपा करें कि शुभ रूप अवस्था और अशुभ रूप अवस्था जीवकी पर संयोग विना ही होती है या पर संयोगके निमित्तसे होती है ! यदि पर सयोगके निमित्तसे होती है तो आपका यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि " कर्मोंके कारण जीव शुभाशुभ होता है और कर्मों के अभाव में शुद्ध होता है यह कथन उपचरित है अर्थात् झूठा है अपरमार्थ भूत है,, यदि कर्मोंके निमित्तसे जीवकी शुभाशुभ रूप अवस्था नहीं होती तो सिद्ध भगवानकी शुभाशुभ रूप अवस्था क्या नहीं होती ? विना पर निमित्तके जीव स्वय शुभाशुभ परिणमन करता तो सिद्धोंकी आत्माकी भी स्वयं शुभ या अशुभ रूप परिणमन करना चाहिये। किन्तु उनके कर्मोंका सम्वन्ध छूट गया इसलिये उनका परिणमन सदा शुद्ध होता है पदार्थोंमें जो अशुद्धता आती है वह पर संयोग से ही आती है पर संयोगके विना पदार्थों में अशुद्धता नहीं आती यह जैनागमका अटल सिद्धान्त है इसको कोई मेट नहीं सकता है.

आपका जो यह भ्रमोत्पादक कथन है कि—

"जब ये दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। और एक द्रव्यके गुण धर्मका

दूसरे द्रव्यमें संक्रमण होता नहीं तब एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कारणरूप गुण और दूसरे द्रव्यमें उसका कर्मरूप गुण कैसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता है"

ठीक है किन्तु पंडितजी यह तो बतानेकी कृपा करे कि क्या निमित्तकारण माननेसे एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके गुणोंका संक्रमण मानना ही पडता है ?

और कर्मोंके निमित्तसे जीवकी शुभाशुभरूप अवस्था होती है ऐसा माननेसे जीव द्रव्यकी क्या स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। इसलिये आप कर्मोंके निमित्तसे जीवके शुभाशुभ भाव नहीं होते और कर्मोंके अभावमें जीवके शुद्धभाव नहीं होते ऐसा मानते हैं यदि ऐसाही है तो जीव और पुद्गलका अनादि कालसे संयोग सम्बन्ध चला आरहा है तो भी आजतक किसीका गुणधर्म दूसरे में संक्रमणरूप क्यों नही हुआ। और उनकी स्वतंत्रता आजतक नष्ट क्यों नहीं हुई। जीव सदा चैतन्य स्वरूप ही क्यों रहा और पुद्गल सदा पुद्गल रूप ही क्यों रहा। आपके कथनानुसार एकका गुणधर्म दूसरेमें आजाना चाहिये था इसलिये मानना पडेगा कि जीव और पुद्गल अपनी वैभाविकी शक्तिके द्वारा निमित्तानुसार वैभाविक रूप परिणमन तो करते है किन्तु निमित्तका गुणधर्म उपादानमें और उपादानका गुणधर्म निमित्तमें नहीं जाता यह अनादिकालकी मर्यादा है। जैसा कि सर्वविशुद्धि द्वार में कहा है

"जीव अर पुद्गल कर्म रहै एकखेत यद्यपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है। लक्षण स्वरूप गुण परजै प्रकृति भेद दूहूँमें अनादि ही की दुविधा ह्वै रही है ॥

एक परिणामके न कर्ता दरव दोय दोय न परिणाम एक दरब धरत है। एक करतूति दोय द्रव्य कबहूं न करे,

दोय करतूति एक द्रव्य न करत है। जीव पुद्गल एक खेत अवगाहि दोऊ अपने अपने रूप कोऊ न टरत है। जड परिणामनिको करता है पुद्गल, चिदानन्द चेतनस्वभाव आचरत है॥ —कर्ताकर्मक्रियाद्वार।

अत: कर्मोंके निमित्तसे आत्माके रागद्वेष परिणाम होते हैं और जीवके रागद्वेष परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होकर आत्मप्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाही होते हैं ऐसा माननेसे एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कारणरूप गुण और दूसरे द्रव्यमें उसका कर्मरूप गुण मानना पडता है यह बात सर्वथा असिद्ध है। क्योंकि जीव और पुद्गल यह दोऊं द्रव्य अपनी वैभाविकीशक्तिके द्वारा बाह्य निमित्तानुसार विभावरूप परिणमन करते रहते हैं यह उस शक्तिका ऐसा ही परिणमन स्वभाव है। इस परिणमन स्वभावको कोई मिटा नहीं सकता। अत: इस परिणमनमें एक द्रव्यके गुण-धर्म दूसरे द्रव्यमें संक्रमण होनेकी आशंका उत्पन्न कर भोले जीवोंको वस्तुस्वरूपसे विमुख करना है।

यह बात प्रत्यक्षमें देखनेमें आती है कि अग्निके संयोगसे जल गर्म होजाता है किन्तु अग्निका कोई भी अंश जलरूप नहीं होता और न जलका भी कोई अंश अग्निरूप ही होता है किन्तु जल अपनी वैभाविकी शक्तिसे अग्निका निमित्त पाकर गर्म होजाता है और अग्निका संयोग मिट जाने पर फिर वह जल अपने स्वभावरूप शीत होजाता है ऐसे ही सर्व पदार्थोंमें घटित करलेना चाहिये।

"जैसे एक जल नानारूप दरवानुयोग भयो बहुभांति पहिचानों न परत है। फिर काल पाय दरवानुयोग दूर

होत अपने सहज नीचे मारग ढरत है। तैसे यह चेतन पदार्थ विभावतासों गतिजोंनिभेष भवभामरि भरत है। सम्यक्‍स्वभाव पाय अनुभौके पंथ धाइ वन्धकी जुगति भानि मुकति करत है। —कर्ताकर्मक्रियाअधिकार

इस कथनसे यह भी सिद्ध होजाता है कि विना निमित्तके जीव स्वमेव शुभरूप या अशुभरूप परिणमन नहीं करता है अतः कर्मोंके उदयानुसार ही यह जीव शुभाशुभरूप अपनी वैभाविकी शक्तिके द्वारा ही होता है। और कर्मोंके अभावमें शुद्ध होता है। यही परमार्थभूत सत्य तत्त्वविवेचन है इसमें हेरफेर करनेकी गुंजायश नहीं है। क्योंकि जीव और पुद्गल में एक वैभाविकी नामकी शक्ति है उसका विभावरूप परिणमन ही पर निमित्तसे होता है, जहां पर निमित्त दूर हुआ कि उस शक्तिका बिभावरूप परिणमन नहीं होकर स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। इसी-लिये सिद्धोंमें कर्मनिमित्त हटजाने से उनका सदा स्वभावरूप शुद्ध ही परिणामन होता है। और संसारी जीवोंके कर्म निमित्त वनाहुआ है इस कारण उनका विभावरूप शुभाशुभ परिणमन होता रहता है अतः वैभाविकी शक्तिका विभावरूप और स्वभा-वरूप दोय रूप परिणमन होता है ऐसा जिनागममें कहा है उस शक्तिका विभाव स्वभाव परिणमन वद्ध अवद्ध अवस्थामें ही होता है अर्थात् वद्ध अवस्थामें विभावरूप और अवद्ध अवस्था में स्वभावरूप परिणमन होता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो संसार और मुक्त जीवोंकी व्यवस्था ही नहीं वनेगी।

फिर संसार और मुक्त अवस्था वास्तविक कैसी ? जैसाकि आप मानरहे है।

जीवकी संसार और मुक्त अवस्था है वह वास्तविक है इसमें संदेह नहीं जब जीवकी संसार और मुक्त अवस्था वास्तविक है,

तब बन्ध और मोक्ष अवस्था भी वास्तविक है इसमें संदेह कैसा क्योंकि जीवकी संसार अवस्था विना वन्धके नहीं और जीवकी मुक्त अवस्था वन्धके अभाव विना नही यह बात सुनिश्चित है। इसको आप कानजीके मताधारसे निम्न प्रकारके वाक्योंसे मिथ्या सिद्ध करनाचाहते है सो हो नहीं सकता क्योंकि वह आगमप्रमाण से प्रमाणित है। आप चाहें जितनी सफाई के साथ वाक्यपटुताओंसे अर्थका अनर्थ कर भोले जीवोंको भुलावेमें पटके वस्तुस्वरूप तो जैसा आगममें प्रतिपादन किया है वैसा ही रहेगा। जो जीवकी संसार और मुक्त अवस्था है उसको तो आप अस्वीकार कर नहीं सकते क्योंकि जीवकी संसार अवस्था तो प्रगट दृष्टिगोचर है और संसार का अभाव सो मुक्त अवस्था है उसको भी मानना पडेगा इसलिये इसको तो आपने भी वास्तविक स्वीकार की परन्तु यह वास्तविक किस कारणसे है इसको कर्म निरपेक्ष सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। अर्थात्—

"इस आधारसे कर्म और आत्माके संश्लेष सम्बन्धको वास्तविक मानना उचित नही है। जीवका संसार उसकी पर्यायमें ही है।"

ठीक है जीवकी संसार अवस्था और मुक्तअवस्था उसीकी पर्याय में ही है दूसरेकी पर्याय में नहीं इस बातको कोई भी विद्वान अस्वीकार नहीं कर सकता किन्तु उस पर्यायका कारण क्या है? कर्मके निमितसे तो आप मानते नहीं फिर किस कारणसे संसार अवस्था और मुक्त अवस्था है। यदि स्वतः है तो मुक्त जीव फिर संसारी क्यो नहीं बनता क्या उनमे परिणमन शक्तिका अभाव हो चुका है! यदि नहीं तो स्वाधीन परिणमनका यह कार्य नहीं है ऐसा मानना पडेगा। क्योंकि स्वाधीन परिणमन शुद्धद्रव्यका ही होता है। उसमें भी यथासम्भव धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य और कालद्रव्य उदासीनरूप से निमित्तकारण होते ही हैं।

अर्थात् जिन पर्यायोंको परनिरपेक्ष या स्वाधीन स्वाश्रित पर्याय कहाजाता है उनमे भी वास्तवमे वाहरी निमित्तोंका उदासीनरूपसे कारण बना हुआ है। उनमें किसी प्रेरक निमित्त कारणकी अपेक्षा नहीं रहती इसकारण उनको परनिरपेक्ष पर्याय कहाजाता है। किन्तु अशुद्धद्रव्य में यह वात घटित नहीं होती अर्थात् संसारी जीवोंका परिणमन परनिरपेक्ष नहीं होता इस लिये परसापेक्ष जो परिणमन होता है वह शुद्धरूप परिणमन नहीं होता वह परिणमन विभावरूपसे ही होता है। इस कारण संसारी जीवोंकी संसार पयार्य कर्म सापेक्ष है इसलिये वह पर्याय शुद्धरूप मुक्तपर्याय नहीं कही जाती और मुक्तजीवोंकी मुक्तपर्याय कर्मनिरपेक्ष होने से उनको फिर कभी भी संसार पर्याय नहीं होती। संसारी जीव कर्मोंसे वन्धा हुआ है इसीलिये अपने असली स्वभावसे रहित अशुद्ध अवस्थाको धारण किये हुये हैं। और मोहनीय कर्मके निमित्तसे मूर्च्छित भी हो रहा है।

बद्धो तथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्च्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृत्तिकर्मभिः॥

पंचाध्यायी ३४ दूसरा अध्याय

अर्थात् जीव और कर्मोंका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आरहा है।

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात्, सम्बन्धो जीवकर्मणोः ३५

अर्थात् यह जीव भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है इसलिये इन दोनूंका सम्बन्धरूप वन्ध भी अनादि है। इसवातको स्पष्ट करते हुये आचार्य दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं।

"द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसंनिभः

अन्यथा दोष एव- स्यादितरेतरसंश्रयः ३६ ।

अर्थात् जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आरहा है। यह सम्वन्ध उसी प्रकारका है जिस प्रकार कनक पाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन है। यदि जीव और पुद्गल कर्मो का सम्बन्ध अनादिसे न माना जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। अन्योन्याश्रय दोषका स्पष्टीकरण।

"तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः

बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निवृत्तिः कथम्" ३७

अर्थात् यदि जीव पहिले कर्मरहित शुद्ध माना जायगा तो वन्ध नहीं हो सकता। और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके वन्ध मानलियाजायगा तो फिर मोक्ष किस प्रकार होसकता है? क्योंकि आत्मा का जो कर्मबन्ध होता है वह आत्माका अशुद्ध अवस्थामें होता है। इसलिये बन्ध होने में अशुद्धताकी आवश्यकता है। अतः पूर्वबन्धके विना शुद्ध आत्मामें अशुद्धता नहीं हो सकती। विना वन्धके शुद्ध आत्मामें भी अशुद्धता आने लगे तो आत्मा मुक्त होचुकी है वे भी फिर अशुद्ध होजायगी और अशुद्धहोनेपर वन्ध भी करती रहेंगी इस हालतमें संसारी और मुक्तजीवोंमें किसी प्रकारका अतर नहीं रहेगा। इसलिये वन्ध रूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारण की आवश्यकता है। और अशुद्धतारूप कार्यके लिये पूर्ववन्धरूपकारणकी आवश्यकता है। इसलिये अशुद्धतामें वन्धकी और बन्धमें अशुद्धताकी अपेक्षा पडनेसे पूर्वकर्मके वन्धे विना अशुद्धता आ नहीं सकती अतः जीव कर्मका सम्बन्ध अनादि माननेसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता। दूसरा वात यहभी है कि सादि सम्बन्ध माननेसे पहले तो शुद्धआत्माके वन्ध हो नहीं सकता क्योंकि विनाकारणके कार्य होता ही नहीं।

भवंति दोषा न गणोऽन्यदीयं संनिष्ठमानस्य मसत्ववीजं ;

गणाधिनाथस्य ममत्वहानेर्विना निमित्तेन कुतो निवृत्तिः

५८८ मूलाराधना

थोड़ी देरके लिये यह भी मानलियाजाय कि विना रागद्वेषरूपकारणके शुद्ध आत्मा भी वन्ध करता है तो फिर विना कारण होनेवाला वन्ध किस तरह छूट सकता है ? नहीं छूट सकता ।

क्योंकि विना कारणसे होनेवाले वन्धको दूर करनेका कोई नियमित कारण नहीं है इस अवस्थामें मोक्ष होनेका भी कोई निश्चयरूप कारण नहीं है । इसलिये राग द्वेप रूप कारणोंसे वन्ध होता है ऐसा माननेसे उन कारणोंके हटनेपर वन्ध रूप कार्य भी हटजाता है और आत्मा शुद्ध वन जाती है, फिर उसके वन्ध नहीं होता । क्योकि पूर्ववन्धके निमित्त विना रागद्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती और रागद्वेपके निमित्त विना नवीन कर्मवन्ध नहीं होता । जिस प्रकार आत्माको सदा शुद्ध माननेमें दोष दिखाया जाचुका है उसी प्रकार पुद्गलको भी सदा शुद्ध माननेमें अनेक दोप आते हैं इस विषयको स्पष्ट करतेहुये आचार्य कहते हैं ।

"अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वथा प्रागनादितः
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ३८ पं:

अर्थात् कोई यह कहै कि पुद्गल अनादिसे सदा शुद्धही है । ऐसा कहनेवालोंके मतमें आत्माके साथ कर्मोका सम्बन्ध भी नहीं वनेगा । फिरतो विना कारण जिस प्रकार आत्माका ज्ञानगुण स्वाभाविक है, उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुणही ठहरेंगे । वह आत्मासे अलग हो नहीं सकते क्योंकि स्वभावका अभाव नहीं होता, इसलिये पुद्गलकी अशुद्धकर्मरूपपर्यायके निमित्तसेही आत्मामें क्रोधादिक होते हैं ऐसा माननेसे तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव नहीं ठहरते, नैमित्तिक विभावभाव ठहरेंगे

किन्तु पुद्गलको शुद्ध माननेसे आत्मामें विकार उत्पन्न करनेवाला फिर कोई पदार्थ नहीं ठहरता । इस हालतमें क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा और क्रोधादिभाव आत्माहीका स्वाभाविक गुण समझाजावेगा परन्तु यह बात आगमविरुद्ध है । इसीबातका और भी स्पष्टीकरण आचार्य करते हैं ।

"एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोःसद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात्" ३६

अर्थ—यदि पुद्गलको अनादिसे शुद्ध मानाजाय तो उस शुद्ध अवस्थामें भी उसका आत्मासे सम्बन्ध मानाजाय तो वह बन्ध सदा रहेगा क्योंकि शुद्धपुद्गलरूप हेतुके सद्भावको कौन हटासकता है, पुद्गलकी स्वाभाविकता है वह सदाभी रहसकती है और हेतुकी सत्तामें कार्यभी रहेगाही यदि बन्धही नहीं मानाजावेगा तो ज्ञानकी तरह क्रोधादिक भी आत्माके गुण ठहरेंगे अतः फिर वही दोप जो कि पहले श्लोकमें कह चुके हैं आता है । तथा क्रोधादिकको आत्माका गुण स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह भी आता है कि जिन जिन आत्माओंमें क्रोधादिकका अभाव हो चुका है उन उन आत्माओं का भी अभाव होजावेगा क्योंकि जब क्रोधादिकको गुण माना जायगा तब गुण के अभावमें गुणीका अभाव होना स्वतः सिद्ध है । तथा यह बात देखनेमें भी आती है कि किन्हीं किन्हीं शान्त आत्माओंमें क्रोधादिक बहुत थोडा पाया जाता है । योगीश्वरों में बहुत मंद पाया जाता है और बारहवें गुणस्थानमें तो उसका सर्वथा अभावही होजाताहै । इसलिये अशुद्ध पुद्गलका अशुद्ध आत्माके साथ बन्ध मानना न्यायसंगत है । सारांश—

"तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ४०

अर्थात् जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रसिद्ध है वह अनादिकाल से वन्धरूप है " अनादिसम्बधे च " तत्त्वार्थसूत्रे। यह बात प्रमाण सिद्ध है। अतः जीव कर्म का सम्बन्ध सादि-किसी समय विशेष में हुवा अथवा जीव और पुद्गल यह दोनूं द्रव्य स्वतंत्र होनेसे इनका परस्पर में वन्धान नहीं होता है यह बात असत्य सिद्ध हो चुकी क्योंकि ऐसा मानने में इतरेतर अन्योन्याश्रय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। और ऐसा मानने में कोई ठीक दृष्टांत भी नहीं मिलता है। अतः कनक पाषाणका तिल तेलादिकके दृष्टांतों से जीव कर्मका अनादि सम्बध ही सिद्ध होता है। यहांपर कोई यह तर्क करे कि दो पदार्थोंका सम्बन्ध हमेशासे ही कैसा? वह तो किसी खास समय मे जव दो पदार्थ मिले तभी हो सकता है इसका समाधान यह है कि सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। किन्हीं पदार्थोंका तो सादिसम्बन्ध होता है जैसाकि मकान वनानेमें ईंट चूना पत्थरादिका होता है और किन्हीं पदार्थोंका अनादि सम्बन्ध होता है जैसा कि कनकपाषाण अथवा जमीन में मिलीहुई अनेक पदार्थोंका अथवा वीजवृक्षका तिलतेल का अथवा जगद्व्यापी महास्कन्धका इत्यादि अनेक पदार्थोंका सम्बन्ध अनादिसे है इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादिका है। और यही अनादि सम्बन्ध जीवकी अशुद्धताका कारण है।

जीवस्य शुद्धरागादिभावानां कर्म कारणं ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ४१

अर्थात् जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंका कारण कर्म है। इस कर्म के कारण जीवके रागादिकभाव हैं। यह परस्परका कार्य-

कारणपन ऐसा ही है जैसेकि कोई पुरुष किसी पुरुपका उपकार करदे तो वह उपकृत पुरुषभी उसका वदला चुकानेके लिये उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार करता है। तैसे ही रागद्वेष परिणामोंके निमित्तसे संसार में भरीहुई कार्माणवर्गणाओंको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा खींच कर अपना सम्बन्धी वना लेता है जिस प्रकार अग्निसे तपाहुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरेहुये जलको खींचकर अपनेमें प्रविष्ट करलेता है। अतः जिन पुद्गलवर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वही वर्गणाये आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप एकमेकसे वन्ध जाती है और वन्धसमयसे उन्ही वर्गणाओंकी कर्मरूपपर्याय हो जाती है। फिर वह कालान्तर में उन्ही वन्धे हुये कर्मोंके निमित्त से चारित्र के विभावभाव रागद्वेष वनते है। फिर उन रागद्वेपभावों से नवीन कर्म वन्धते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे फिर आत्मामे रागद्वेप उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेप और रागद्वेष से नवीन कर्म वन्धते रहते हैं। यही परस्पर में कारण कार्यभाव अनादि से चला आता है।

" पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्ययसंचयः
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्वन्धः पुनस्ततः ४२"

अर्थात् पहले कर्म के उदय से रागद्वेप भाव होते हैं, उन्हीरागद्वेपभावों से नवीन कर्मोंका संचय होता है। उन आये हुये कर्मों के पाक उदय से फिर रागद्वेष भाव उत्पन्न होते है। उनभावोंसे फिर नवीन कर्मोंका वन्ध होता है। इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीवका कर्मोके साथ सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इसी सम्बन्धका नाम संसार है। यह संसार विना सम्यक्त्वादि भावोंके नहीं छूट सकता। अर्थात् कर्मके निमित्त

से चारों गतियों में यह जीव उत्पन्न होता रहता है, इसीका नाम संसार है। इस संसार परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसी के अनुसार गति आयु शरीर आदि अवस्था प्राप्त हो जाती है।

"जब जाको जैसो उदै तब सो है तिहिथान।

शक्ति मरोरै जीवकी उदय महाबलवान,
जसे गजराज परयो कर्दमके कुण्ड बीच
उद्दिम अरूढ़े पै न छूटे दुख दंद सों
जैसे लोह कंटककी कोरसों उरभ्यो मीन
ऐंचत असाता लहै सात लहै संदसों।
जैसे महाताप सिखाहिंसो गरास्यो नर
तकै निजकाज उठ सके न सुछंदसो।
तैसे ज्ञानवंत सब जानै न बसाय कछु
बन्ध्यों फिरे पूर्व कर्मफल फंदसों

समयसारबन्धद्वार

इसलिये कर्मबन्ध का कारण आत्माका रागद्वेष परिणाम है और रागद्वेष होनेका कारण पूर्व कृत कर्म का उदय है। उस उदयानुसार यह जीव गति योनि को प्राप्त होता है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो विपरिणमदि ।८६।

—समयसारकर्तृकर्माधिकार

"जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति ॥

अर्थात् जीवका जो रागद्वेषरूप परिणाम है वह पुद्गलको कर्मरूप परिणमन करानेमें हेतु है। तथा पुद्गलकर्मके निमित्तसे जीवके रागद्वेषरूप परिणाम होते हैं,ऐसा दोऊके परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, इस परिणमनमें एक द्रव्यका गुणधर्म दूसरे द्रव्यमें नहीं जाता यह तो द्रव्यका परिणमन स्वभाव है इसमें एक द्रव्यके गुणधर्म दूसरे धर्ममें संक्रमण होनेकी बात कहना वस्तु-स्वरूपका विपर्यास करना है। आचार्य कहते हैं कि इस परिणनमें न तो जीवका ही गुण पुद्गलमें जाता है और न पुद्गलका जीवमें ही आता है। किन्तु परस्परके निमित्तसे दोऊका विभावरूप परिणमन होता है।

"णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ॥ ८७
"नापि करोति कर्म गुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥

अर्थात् जीव तो कर्मके गुणको नहीं करे हैं और कर्म है सो जीवके गुणको नहीं करे हैं। अतः इन दोऊंनिके परस्पर निमित्त कारणसे एसा परिणाम होय है जैसा कि ऊपरकी गाथामें कहा गया है। आचार्य कहते हैं कि पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्मा अपना रागद्वेषरूप परिणाम करता है। तथा पुद्गलकर्मोके निमित्तसे सुखदुखरूप भाव परिणामोंका वेदन भी स्वयं करता है। अर्थात् द्रव्यकर्मोंके निमित्तसे आत्मा जिस प्रकार भाव करता है [illegible]र पुद्गल कर्मोके निमित्तसे उसके फलको भोगता है।

"पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावा
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं" ९४
पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं"

अर्थात् समय प्राभृत मे कुन्द कुन्द स्वामीने पहली गाथामें यह दिखाया कि जीव के रागद्वेष परिणामों के निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होकर परिणमता है। तथा पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीव रागद्वेष होकर परिणमन करता है। तथा दूसरी गाथा मे यह दिखाया है कि इस परिणमन स्वभाव में एक द्रव्यका गुण-धर्म दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं होता है इस तीसरी गाथामें यह दिखाया है कि द्रव्यकर्मके निमित्तसे आत्मा किस प्रकार उसीके फलको भोगता है। सारांश यह है कि कर्मोंके निमित्तसे जो जीव के रागद्वेष परिणाम होते हैं और जीवके रागद्वेष परिणामों से पुद्गल कर्म रूपसे परिणमन करता है इस परिणमन में कोई यह न मान बैठे कि पुद्गल का गुणधर्म जीव में आजाता है और जीवका गुणधर्म पुद्गल में चलाजाता है। इस कारण उन्हें स्पष्ट करना पड़ा है कि इस विभाव परिणमन में किसी का गुण धर्म किसी में नहीं जाता, अपने अपने में ही रहता है।

जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त नैमित्तिक परिणमन में एक द्रव्यका गुणधर्म दूसरे द्रव्य मे आजाता है ऐसा भ्रम क्यों होजाता है इस का भी कारण यह है कि मिथ्यात्वभाव भी दोय प्रकारका है एक जीव मिथ्यात्व दूसरा अजीव मिथ्यात्व इसीप्रकार अज्ञान भी दो प्रकारका है एक जीव अज्ञान दूसरा अजीव अज्ञान, तेसेही अविरति योग मोह क्रोधादिकषाय जीव अजीवोंके भेदसे दोय दोय भेदरूप सर्व ही भाव हैं। अर्थात् मिथ्यात्वादि कर्मकी

प्रकृति है वह पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं उनका उदय होनेपर जीवके उपयोग में उसका स्वाद आवे तब तिस स्वादको ही जीव अपना भाव माने। सो यह भ्रम जबतक जीवके भेदविज्ञान नहीं होता तबतक वह दूर नहीं होता। भेदविज्ञान होनेपर वह अजीव भावोंको पुद्गलके भावजाने और जीवभावको जीवके जाने तब सम्यग्ज्ञान होय।

" मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोवादीणा इमे भावा"
मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं।
अविरतियोगो मोहक्रोधाद्या इमे भावाः।

अर्थात् कर्मके निमित्तसे जीव भावरूप परिणमै हैं ते तो चैतन्य के विकार हैं ते जीव है। और पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमे है ते पुद्गलके परमाणू हैं तथा तिनिका विपाक उदय रूप होय हैं ते मिथ्यात्वादि अजीव हैं ऐसें मिथ्यात्वादिभाव जीवाजीव भेदकरि दोय प्रकार है इस दोय प्रकारके भेदको विना समझे भ्रमते दोनोंमें एकत्व बुद्धि हो जाती है। इसलिये अज्ञानी जीव अजीवभावों को जीवभाव मानलेते हैं। किन्तु तत्त्वज्ञानीके ज्ञान में अजीव के भाव अजीव में भासते हैं और जीव के भाव जीव में भासते हैं।

आचार्य इसका और भी खुलासा करते हैं—

पुग्गलकम्म मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमजीवं
उवओगो अण्णाणं अविरदिमिच्छत्त जीवो दु ८६

अर्थात जे मिथ्यात्व योग अविरती अज्ञान ए अजीव हैं सो तो पुद्गल कर्म है। तथा अज्ञान अविरति मिथ्यात्व ए जीव हैं ते जीवके उपयोग हैं।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ६७

अर्थात् उपयोग के अनादिते लेकरि तीन परिणाम हैं सो यह अनादिहीते मोहयुक्त है ताके निमित्तते मिथ्यात्व अज्ञान अविरति भाव ए तीन रूप जानने। भावार्थ—आत्मा के उपयोगमें ये तीन प्रकारके विकार परिणाम अनादि कर्म के निमित्तते हैं। ऐसा नहीं है जो पहिले शुद्ध ही था यह अब नवीन हुआ है ऐसा होय तो सिद्धनके भी नवीन भया चाहिये किन्तु ऐसा होता नहीं। क्योंकि उनके विकाररूप होनेका कारण कर्म रूप निमित्त रहा नाहीं। अतः ससारी जीवोंको भी त्रिकाल शुद्ध माननेवालोंको उपरोक्त समय प्राभृतके कथन से अपनी भूल धारणाको दूर कर देनी चाहिये।

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगे तस्स सो कत्ता ६८

अर्थात् पूर्व कहा है जो परिणमें सो कर्ता है। सो इहां अज्ञानरूप होय उपयोग परिणम्या, जिस रूप परिणम्या तिसका कर्ता कह्या। शुद्धद्रव्यार्थिक नय करि आत्मा कर्त्ता है नाहीं। इहां उपयोग को कर्ता जानना। अतः उपयोग और आत्मा एक ही वस्तु है तातैं आत्मा हीकूं कर्ता कहिये।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ६९

अर्थात् जैसे साधक जो मंत्र साधनेवाला पुरुष सो तिस प्रकारका ध्यान रूप भावकरि आपही करि परिणमता संता तिस-ध्यानका कर्त्ता होय है तथा समस्त जो तिस साधकके साधने-

योग्य वस्तु तिसका अनुकूलपणा करि तिस ध्यान भावकूं निमित्त मात्र होते संते तिस साधक विनाही अन्य सर्पादिककी विषकी व्याधि ते स्वयमेव मिटिजाय है। तथा स्त्री जन है ते विडंवना रूप होजाय है वन्धनते खुल जाय है इत्यादिक कार्य मंत्रके ध्यान की सामर्थ ते होजाय है। तैसेही यह आत्मा अज्ञानते मिथ्या दर्शनादि भावकरि परिणमता संता मिथ्यादर्शनादिका कर्ता होय है। तब तिस मिथ्यादर्शनाविभावकूं अपने करनेके अनुकूलपणे करि निमित्त मात्र होते संते आत्मा जो कर्ता तिस विनाही पुद्गल द्रव्य आपही मोहनीयादि कर्मभावकरि परिणमे है।

भावार्थ—आत्मा ते अज्ञानरूप परिणामें हैं काहूंसो ममत्वकरैं हैं काहूसों राग करै हैं काहूंसों द्वेष करैं है। तिनि भावनिका आप कर्ता होय है। अतः तिसकूं निमित्तमात्र होते पुद्गल द्रव्य आप अपने भावकरि कर्मरूप होय परिणमें हैं। इनका परस्परि निमित्तनैमित्तकभाव है। कर्ता दोऊ अपने अपने भावोंका है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि एकके परिणामोंका दूसरेके परिणमन पर असर पडता है यदि ऐसी बात नहीं है तो मंत्र आराधकके द्वारा सर्पादिकका विष दूर होना, भूतादिककी वाधा दूर होना, देवादिकको वशमें करना, तारण, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि कार्य होते देखे जाते हैं उसका निषेध किस आधारसे किया जायगा? इसलिये मानना पडेगा कि एकके परिणामोंका असर दूसरेके परिणामों पर पड़ता है। इसी कारण द्रव्यकर्मके उदयमें जीवके रागद्वेषपरिणाम होजाते हैं और जीवके रागद्वेषपरिणामों के निमित्तसे पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। यह प्रमाणसिद्ध बात है अतः इसका आप आगमके ज्ञाता होकर भी निषेध करते हैं यह बडे आश्चर्यकी बात है।

अज्ञानी जीव भी अपना अज्ञानभावरूप शुभाशुभ भावनि-

ही का कर्ता अज्ञान अवस्था में है। पर द्रव्यके भावका कर्त्ता तो वह भी कदाचित् नहीं है।

"शुद्धभाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन,
दुहूंको करतार जीव और नहीं मानिये।
कर्मपिण्डको विलास वर्ण गंध रस फास,
करतार दोहूं को पुद्गल परमानिये।
तातें वरणादि गुण ज्ञानावरणादिकर्म,
नानापरकार पुद्गलरूप जानिये।
समल विमल परिणाम जे जे चेतन के,
ते ते सब अलख पुरुष यों वखानिये॥

"ज्ञानभाव ज्ञानी करे अज्ञानी अज्ञान।
द्रव्य कर्म पुद्गल करे यह निश्चे परमान"

इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि—

"जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ १०९

टीका—सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमंदस्वादाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा चिदानंदैकस्वभावैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाणः सन् यं भावं शुभाशुभं वा करोत्यात्मा स्वतंत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्ता भवति तदेव तस्य शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतंत्ररूपेण भोक्तृत्वात् न च द्रव्यकर्मणः।

किंच विशेषः अज्ञानी जीवो शुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः स चाशुद्धनिश्चयः । यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपया सद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति । तत्कथ्यते । औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत्, निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादि गुणानां सुवर्णवत्, अनंतज्ञानादि गुणानां सिद्धजीववत् उष्णत्वादिगुणानामग्निवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारण कारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः ।

अर्थात्—इस लोकविषै आत्मा है सो अनादि अज्ञानते परका अर आत्माका एकपणाका निश्चयकरि तीव्र मंद स्वाद रूप जे पुद्गलकर्मकी दोय दशा तिनकरि यद्यपि आप अचलितविज्ञानघनरूप एक स्वादरूप है तोऊ स्वादकूं भेदरूप करता संता शुभ तथा अशुभ जो अज्ञानरूपभाव ताकूं करे है सो आत्मा तिसकाल तिसभावते तन्मय पणाकरि तिस भावका व्यापकपणाकरि तिस भावका कर्ता होय है । तथा सो वह भाव भी तिस काल आत्माके तन्मयपणाकरि तिस आत्माके व्याप्य होय है । ताते ताका कर्म होय है । तथा सोही आत्मा तिसकाल तिसभावतें तन्मयपणाकरि तिसभावका भावक होय है तातें ताका अनुभवकरनेवाला भोक्ता होय है । अतः सो भाव भी तिसकाल तिस आत्माके तन्मयपणा—

करि तिस आत्माके भावने योग्य होय है। तातें अनुभवनेयोग्य-होय है। ऐसे अज्ञानी है सो भी परभावका कर्ता नाहीं है।

"कर्ता परिणामी द्रव्य कर्मरूप परिणाम।
क्रियापर्यायकी फेरनी वस्तु एक त्रियनाम ॥
कर्ता कर्म क्रिया करे क्रिया कर्म कर्तार।
नामभेद बहुविधि भयो वस्तु एक निरधार ॥
एक कर्मकर्तव्यता करे न कर्ता दोय।
दुधा द्रव्य सत्ता सु दो एकभाव किम होय ॥

रागादि अध्यवसानादिभावोंका कर्ता आत्मा है। तथा इन अध्यवसानादिभावोंका उपजानेवाला ज्ञानावरणादि आठकर्म है सो पुद्गलमय है ऐसा सर्वज्ञ देव कहै हैं।

"अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स ॥

टीका—अध्यवसनादिभावनिर्वर्त्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति। किल सकलज्ञज्ञप्तिः तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते। तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं तदंतःपाति न एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसाना-दिभावाः ततो न ते चिदन्वयाविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावाः किन्तु पुद्गलस्वभावाः यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्,

'अर्थात् जा कारणते ए अध्यवसान आदि समस्तभाव ते तिनिका उपजावनहारो आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म है। सो समस्त ही पुद्गलमय हैं ऐसे सर्वज्ञका वचन है। तिस कर्मका उदय हदकूं पहुंचे ताका फल है सो यह अनाकुलस्वरूप जो सुख नामा आत्मा का स्वभाव ताते विलक्षण है आकुलतामय है । ताते दुःख है तिस दुःखके मांहि आय पडे जे अनाकुलता स्वरूप अध्यवसान आदिक भाव ते भी दुख ही हैं। तातैं ते चैतन्य तें अन्वय का विभ्रम उपजावे हैं तोऊ ते आत्माके स्वभाव नाहीं हैं पुद्गल स्वभाव ही है।

सारांश यह हैं कि जिसप्रकार स्त्री पुरुषके निमित्तसे (सहयोगसे) पुत्रकी उत्पत्ति होती है उस पुत्रको कोई पिताका पुत्र कहता है तो कोई माताका पुत्र कहता है। उसी प्रकार द्रव्यकर्मके संयोगसे आत्मामें रागद्वेपकी उत्पत्ति होती है उसको जीवके भाव भी कहा जा सकता हैं और पुद्गलका भाव भी कहा जा सकता है । क्योंकि दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये दोनोंका कहनेमें यह भ्रम हो जाता है कि एक द्रव्यका दोय कर्ता है। किन्तु वास्तवमें एकद्रव्यका दो कर्ता कभी हुआ न होगा तथा दोय द्रव्य का कर्ता भी एक द्रव्य नहीं होता यह अनादिकालकी मर्यादा है।

"एक परिणामके न कर्ता दरव दोय, दोय परिणाम न एक दरव धरत है। एक करतूति दोय दरव कबहूं न करैं, दोय करतूति एकद्रव्य न करत हैं। जीव पुद्गल एक खेत अवगाहि दोऊ अपने अपने रूप कोऊ न टरत है। जड परिणामनिको करता है पुद्गल चिदानन्द चेतनस्वभाव आचरत है"

इस कथनसे यह वात स्पष्ट होजाती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कदाचित् भी नहीं है अतः एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यका कार्य कारण भाव माननेसे अथवा संयोग सम्बन्ध माननेसे अथवा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मानने से एक द्रव्यका गुणधर्म दूसरे द्रव्यमे सक्रमण ह जाता है ऐसी धारणासे संयोगसम्बन्धका कार्यकारणभावका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका आधाराधेयभावका एक द्रव्यके साथ दूसरे द्रव्यका सर्वथा निषेध करना आगम विरुद्ध है क्योंकि मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) कर्मके सम्बन्धसे यह आत्मा अनादिकाल हीसे अज्ञानी वनाहुआ है। तथा सप्त तत्त्व नौ पदार्थोंकी जीव अजीवके सम्बन्धसे ही व्यवस्था होती है और इसको समझनेसे ही सम्यक्त्वरूप श्रद्धान होता है। जो मोक्षका कारण है। गुणस्थान मार्गणा, आदिकी व्यवस्था भी जीव पुद्गल कर्मके सयोगसे ही वनती है जो यथार्थरूप है। अथवा मति श्रुत आदि ज्ञानोंकी संख्या कर्मसंयोग से ही वनीहुई है। इनमें कर्मका निमित्त न माना जायगा तो एक भी व्यवस्था नहीं वनेगी। अर्था कर्मसम्बन्धके विना गुणस्थान मार्गणा सप्ततत्त्व नव पदार्थ मति-श्रुतादिज्ञान सम्यक्त्व मोक्ष आदि एक भी कार्य नहीं होगा। जो आगम सिद्ध है।

"भूदत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धोमोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

—समयप्राभृत

अर्थात् जीवादि नव तत्त्व है ते भूतार्थनयकरि जाणे संते सम्यग्दर्शन ही हैं यह नियम कह्या। जाते ये नवतत्त्व जीव-अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा वन्ध मोक्ष

है लक्षण जिनिका ऐसे तीर्थ जो व्यवहारधर्म ताकी प्रवृत्तिके अर्थि अभूतार्थनय जो व्यवहारनय ताकरि कहे हुए हैं। तिनिविषै एक पणा प्रगट करनहारा जो भूतार्थनय ताकरि एकपणाकूं प्राप्तकरि शुद्धपणाकरि स्थाप्या जो आत्मा तांकी आत्मख्याति है लक्षण जाका ऐसी अनुभूतिका प्राप्तपणा है। शुद्धनयकरि नव तत्त्वकूं जाणे आत्माकी अनुभूति होय है। इस हेतुते नियम है। तहां विकार्य जो विकारी होनेयोग्य अर विकार करनेवाला विकारक ए दोऊ तो पुण्य है। ऐसे ही विकार्य विकारक दोऊ पाप है तथा आश्रव्य कहिये आस्रव होनेयोग्य अर आस्रवक कहिये आस्रव करनेवाला ए दोऊ आस्रव है। तथा संवार्य कहिये संवररूप होने योग्य अर संवारक कहिये संवर करनेवाला ए दोऊ संवर है। तथा निर्जरने योग्य अर निर्जरा करनेवाला ए दोऊ निर्जरा है। तथा बन्ध करनेयोग्य अर बन्ध करनेवाला ए दोऊ बन्ध हैं। तथा मोक्ष होने योग्य अर मोक्ष करनेवाला ए दोऊ मोक्ष है जाते एकहीके आपहीते पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा बन्ध मोक्षकी उत्पत्ति बने नाहीं। अतः ए दोऊ जीव अर अजीव हैं ऐसे ए नव तत्त्व हैं, इनिकूं बाह्य दृष्टिकरि देखिये तब जीवपुद्गलकी अनादि बन्धपर्यायकूं प्राप्तकरि एक पणाकरि अनुभवन करते संते तो ए नवही भूतार्थ हैं

सत्यार्थ है। तथा एक जीव द्रव्यहीका स्वभावकूं लेकरि अनुभवन करते संते अभूतार्थ है असत्यार्थ है। जीवके एकाकार स्वरूपमें ये नाहीं हैं। ताते इनिका तत्त्वनिविषै भूतार्थनयकरि जीव एक रूप ही प्रकाशमान है। तैसे ही अन्तर दृष्टिकरि देखिये तव ज्ञायकभाव तो जीव है तथा जीवके विकारका कारण अजीव है। अतः पुण्य पापास्रव संवर निर्जरा वन्ध मोक्ष हैं लक्षण जाका ऐसा केवल एकला जीवका विकार नाहीं है। पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा वन्ध मोक्ष ये सात केवल एकला अजीवके विकार ते जीवके विकारकूं कारण हैं। ऐसे ये नव तत्त्व हैं ते जीवद्रव्यका स्वभावकूं छोडकरि आप अर पर है कारण जाकूं एसा एक द्रव्यपर्यायपणाकरि अनुभवन करते संते तो भूतार्थ हैं।

तथा सर्व कालमें नाहीं चिगता एक जीव द्रव्यके स्वभावको लेकरि अनुभवन करते संते ये अभूतार्थ हैं असत्यार्थ है। ताते इनि नव तत्त्वनि विषे भूतार्थनयकरि देखिये तव जीव है तो एक रूप ही प्रकाशमान है। जीव-तत्त्व एक पणाकरि प्रगट प्रकाशमान हुआ संता शुद्ध नयपणाकरि अनुभवन कीजीये है सो यह अनुभवन है सो आत्मख्याति है आत्मा ही का प्रकाश है। अतः

आत्मख्याति है सो ही सम्यग्दर्शन है ऐसे यह समस्त कहना निर्दोष है, बाधा रहित है।

(पं० जयचंदजी कृत भाषा टीका)

सारांश यह है कि नव तत्त्वरूप अवस्था जीवकी जीव और अजीव के मिलापसे होती है वे भी व्यवहारदृष्टिसे भूतार्थ हैं सत्यार्थ है क्योंकि इन नव तत्त्वरूप अवस्था का ज्ञान हुये विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये भेदरूप अवस्थाका ज्ञान होनेसेही इन नव तत्त्वोंमें एक जीव तत्त्वही प्रकाशमान दृष्टिगोचर होता है वही सम्यग्दर्शन है अतः नव तत्त्व रूप अवस्थाका ज्ञान व्यवहार नयसे ही होता है इसलिये व्यवहार नय भी भूतार्थ है सत्यार्थ है, तीर्थरूप है।

" ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिनवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावाः ।। ४६ ।।

—जीवाजीवाधिकार

टीका—सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीव इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहार-स्यापि दर्शनं। व्यवहारो हि व्यवहारिणाम् म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्ति निमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जी-वस्य परमार्थतो भेददर्शनात्। त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति

रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः। अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत।

अर्थ—सर्व ही ये अध्यवसानादिकभाव है जीव है ऐसे जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कह्या है सो अभूतार्थ असत्यार्थ जो व्यवहारनय ताका दर्शनकरि ये मत है जाते व्यवहार है सो व्यवहारी जीवनिकू परमार्थका कहनहारा है। जैसे म्लेच्छ की भाषा है सो म्लेच्छनिकूं वस्तु स्वरूप समभावे है। तातै अपरमार्थभूत है तोऊ धर्मतीर्थ प्रवृत्ति करनेकूं व्यवहार नयका वर्णन न्याय्य है। ताते तिस व्यवहारकूं कहेविना परमार्थ तो जीवकूं शरीरसे भिन्न कहे है। सो याका एकान्त करिये तो त्रस स्थावर जीवनिका घात निःशंकपणें करना ठहर्या जैसे भस्मके मर्दन करने में हिंसाका अभाव है तैसे तिनके घातमें भी हिंसा न ठहरे। और हिंसाका अभाव ठहरे तव तिनके घातते वन्धका भी अभाव ठहरे। तेसे ही रागी द्वेषी मोही जीव कर्मते वन्धते ताकूं छूडावना ऐसे कह्या है सो परमार्थतै रागद्वेष मोहते जीव जीवनिकूं भिन्न दिखावनेकरि मोक्षका उपाय करनेका अभाव होय तव मोक्षका भी अभाव ठहरे। व्यवहारनय कहिये तव वन्ध मोक्षका अभाव न ठहरे।

अर्थात् परमार्थनय तो जीवकू शरीर अर रागद्वेषमोहते भिन्न कहै है। सो यहां का एकान्त करिये तव शरीर अर राग द्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तव पुद्गल के घातनते हिंसा नाही अर रागद्वेष मोहते वन्ध नाहीं ऐसे परमार्थ ते संसार मोक्ष दोऊं का अभाव कहे है, सो यह ठहरे सो ऐसा एकान्त स्वरूप वस्तुका स्वरूप नाहीं, अवस्तुका श्रद्धान ज्ञान आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है। ताते व्यवहार का उपदेश न्याय्य प्राप्त है। ऐसे स्याद्वादकरि दोऊ नयनिका विरोध मेटि श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहार नयका उपदेश न्यायप्राप्त है अतः जो व्यवहारनयको सर्वथा अभूतार्थ असत्यार्थ मानता है एवं केवल निश्चयनयकोही एक भूतार्थसत्यार्थ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि निश्चयनयसे देखा जाय तो जीव और पुद्गल भिन्न भिन्न ही हैं तथा रागद्वेषरूप परिणाम ते भी जीवका स्वभाव भाव नहीं हैं। इस कारण उनके मत में त्रस स्थावर जीवोंका वध करनेसे हिंसा होती है तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे अहिंसा धर्मका पालन होता है यह बात सर्वथा मिथ्या ठहरती है इसी कारण निश्चयावलम्बी मिथ्यादृष्टि जीव जीव वध करने में पाप नहीं समझते जैसा कि कानजी स्वामी के नीचे लिखे वाक्यों से सिद्ध होता है।

"जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही हैं और जड़को मारनेमें हिंसा नहीं होती।

आत्मधर्म पृष्ठ १६ अं० २ वर्ष ४

"मैं यह जीवकी रक्षा करूं ऐसी दयाकी भावनाभी परमार्थसे जीव हिंसा ही है।

आत्म धर्म पृष्ठ: १२ अं० १ वर्ष ४

"अज्ञानी यह मानते है कि बहुतसे जीव मरेजारहे हैं तो उस समय उन्हें बचाना अपना कर्तव्य है और उन्हें बचाने का शुभभाव चेतनका कर्तव्य है इस प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीव अपनेको पर पदार्थका और विकारका कर्ता मानता है" —आ० ध० पृ० १३ अंक १ वर्ष १

"लौकिक मान्यता एसी है कि पर जीवकी हिंसा न

करना ऐसा उपदेश भगवानने दिया है। परन्तु यह मान्यता भूल भरी है कोई जीव किसी जीव की हिंसा नहीं कर सकता है। —आत्मधर्म पृष्ठ १३ अंक १ वर्ष १

"जो शरीरकी क्रियामें धर्म मानता है सो तो बिलकुल बहिर्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। किन्तु यहाँ तो जो पुण्य में धर्म मानता है सो भी मिथ्यादृष्टी है।

आ० ध० पृ० १० अं० १ वर्ष ४

"शरीर अच्छा होगा तो धर्म होगा और पांचों इन्द्रियां ठीक होगी तो धर्म में सहायक होगी इस प्रकार जो परके आधीनसे आत्मधर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टी है

आ० ध० पृ० १२० अ० ८ वर्ष १

"कोई जीव यह मानता है कि दान पूजा तथा यात्रा आदिसे धर्म होता है और शरीरकी क्रियासे धर्म होता है यह मंतव्य मिथ्या है। आत्मधर्म अंक ५ वर्ष ३

इन पंक्तियो से कानजी शरीराश्रित क्रियाओंसे धर्म होना नहीं मानते जब शरीराश्रित क्रियाओंसे धर्म नहीं होता तो शरीराश्रित क्रियाओंसे अधर्म भी नहीं होता यह स्वतः सिद्ध है। क्योंकि औदारिकादि शरीर रहित आत्मा कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती फिर शरीराश्रित क्रियाओं के बिना शरीर रहित आत्मा कौनसी क्रियाओं का करता है जो उसे धार्मिक क्रिया मानी जाय ? इसलिये शरीराश्रित क्रियाओंसे यदि धर्म होता है तो शरीराश्रित क्रियायोंसे अधर्म भी होता है। यदि शरीराश्रित

क्रियाओंसे धर्म नहीं होना है तो शरीराश्रित क्रियाओं से अधर्म भी नहीं होता ऐसा मानना पडेगा अतः कानजीके मतमें शरीराश्रित क्रियाओं से न बन्ध है और न मोक्ष है। उनके मत में आत्मा सदा मुक्त ही है अर्थात् बन्धरहित सदा शरीरसे भिन्न ही है। जो जैनागममें शरीरका आत्माके साथ अनादि का सम्बन्ध माना है वह मिथ्या है। "अनादिसम्बन्धे च" इसको मिथ्या माननेवाले कानजी शरीराश्रित क्रियाओंसे धर्म होना नहीं मानते अर्थात् शरीरका सम्बन्ध तो आत्माके साथ अनादिकालसे है ही और जबतक मोक्ष न होगा तबतक शरीर आत्मा के साथ रहेगा ही, इस हालतमें शरीराश्रित क्रियाओ में धर्म न माननेवाले कानजी स्वामी और उनके भक्तजनों का संसार अवस्थामें धर्म साधन भी शरीराश्रित नहीं होगा और विना शरीराश्रित धर्म साधन के उनका संसार से छुटकारा भी नहीं होगा।

जो विवेकी पुरुष शरीराश्रित क्रियाओं के द्वारा ही धर्म अधर्म होना मानते हैं। वही पुरुष हिंसादि अधर्मको छोडकर धर्मध्यानमें लगकर संसारका अंत कर सकता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति कर सकता है।

"काज विना न करे जिय उद्यम लाजविना रणमाहि न जूझे
डील विना न सधे परमारथ सील विना सतसों न अरूझे
नेम विना न लहै निहचे पद प्रेम विना रसरीति न बूझे
ध्यानविना न थमे मनकी गति ज्ञानविना शिवपंथ न सूझे"

इसमें बतलाया है कि डील विना (शरीर विना) न सधे पर-

मार्थ" "ध्यान विना न थमें मनकी गति" "ज्ञान विना शिवपंथ न सूझे,, यह सब शरीराश्रित ही क्रिया है इसके विना परमार्थ कहिये मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। मति श्रुत ज्ञान है वह भी शरीराश्रित ही है। निरावरण ज्ञान तो एक केवलज्ञान ही है वह घातिया कर्मोंके सद्भाव में प्रगट नहीं होता घातिया कर्मोंके सद्भाव में मति श्रुत अवधि और मनपर्यय ज्ञान ही रहता है जो ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होता है सो ही ज्ञान शिवपंथको सुझाने वाला है। केवलज्ञान नहीं। वह तो शिव रूप ही है। इसलिये उसकी यहां कथा नही है यहां तो शिवपथको सुझाने वाले ज्ञानकी कथा है वह ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है सो शरीराश्रित है। अतः जो शरीराश्रित क्रियाओ से धर्म होना नहीं मानते हैं उनके मतमें बन्ध मोक्षकी कथा ही बेकार है!

उनकी आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध है और केवलज्ञान करि युक्त है इसी लिये उनकी आत्मा पर कर्मकलंक मल नहीं चढता। जैसाकि श्वेताम्बरसूत्र का कहना है (देखो कल्पसूत्र के पृष्ठ २४ पर तथा भगवतीसूत्र के पृष्ठ १२६७ से लेकर पृष्ठ १२७२ तक) उसी सिद्धान्तको (श्वेताम्बर सिद्धान्तको) माननेवाले कानजी स्वामी भी उसीप्रकार की प्रवृत्ति करते हैं। अर्थात्—खावो पीवो मौज उडावो भक्ष्याभक्ष्यका कोई विचार मत करो यह सब शरीराश्रित क्रियायें हैं। इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि आत्मा तो चैतन्य स्वरूप है और खान पान की क्रिया सब जड रूप है अत: जडका और चेतनका मेल कहां! अर्थात् दोनों भिन्न पदार्थ है। इसी लिये जड की क्रिया जड में है चेतन की क्रिया चैतन्य में है। ऐसा एकान्त रूपसे मानने वाले कानजीस्वामी के हृदय में अभीतक श्वेताम्बरी बू घुसी हुई है इसी कारण श्वेताम्बरी मान्यताका ही प्रचार करते जारहे हैं। समयसारादि आध्या-

त्मिक ग्रंथोंका सहारा लेकर व्यवहारधर्मका लोप एकान्तरूपसे करने में कटिवद्ध होरहे हैं। जो समयसारादि ग्रंथोंका आशय है, उसको छिपाकर या न समझकर अपनी मान्यता के अनुसार विपरीत प्रतिपादन कर दि० जनसमाजके भोले जीवोंको व्यवहार धर्मसे विमुख करते जारहे हैं। वे कहते हैं कि–

"जिस प्रकार कुगुरु कुदेव कुशास्त्र की श्रद्धा और सुदेवादिककी श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व है, तथापि कुदेवादिकके श्रद्धानमें तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिककी श्रद्धा में मन्द है।

आ० ध० पृ० ८६ अं० ६ वर्ष ४

"व्यवहार के आश्रयसे मोक्षमार्ग होना मानते हैं ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यादृष्टी हैं उनमें तो सम्यक्त्व होनेकी पात्रता ही नहीं है" आ० ध० अं १२ वर्ष ६

"पुण्य करते करते धर्म होगा इस मान्यताका निषेध है पुण्यसे न धर्म होता है न आत्माका हित। इससे निश्चय हुआ पुण्य धर्म नहीं, धर्मका अंग नहीं, धर्मका सहायक भी नहीं। जबतक अंतरंग में पुण्येच्छा विद्यमान है तबतक धर्मकी शुरूआत भी नहीं अतः पुण्यकी रुचि धर्म में विघ्नकारिणी है। आ० ध० पृ० ८६ अंक ६ वर्ष ४

इत्यादि इन्हीं विचारोंकी पुष्टि में पं० फूलचन्दजी शास्त्रीने "जैनतत्त्वमीमांसा" नामकी एक पुस्तक लिखी है उसी में इन्हीं विचारोंकी कमरकश करके पुष्टि की है।

" बहुतसे मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहारका लोप हो जायगा ऐसे कल्पित सम्बन्धोंको परमार्थभूत माननेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु यही उनकी सबसे बडी भूल है क्योंकि इसभूलके सुधरनेसे यदि उनके व्यवहारका लोप होकर परमार्थकी प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है। ऐसे व्यवहारका लोप भला किसे इष्ट नहीं होगा। इस संसारी जीवको स्वयं निश्चयस्वरूप बनने के लिये अपने लिये अपने में अनादि कालसे चले आरहे इस अज्ञान मूलक इस व्यवहारका ही तो लोप करना है। उसे और करना ही क्या है। वास्तव में देखा जाय तो यही उसका परम पुरुषार्थ है इसलिये व्यवहारका लोप होजायगा इस भ्रान्तिवश परमार्थसे दूर रहकर व्यवहार को ही परमार्थरूप मानने की चेष्टा करना उचित नहीं।

क्या पंडितजी! व्यवहारका लोप करने से परमार्थकी सिद्धि होसकती है? कभी नहीं यह बात समयप्राभृतकी ४६ वी गाथा जो ऊपरमें उद्धृत की गई है उससे स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि व्यवहारका लोप करनेसे परमार्थ भी नष्ट होजाता है। और वह स्वच्छंद होकर कर्मोंका वन्धकर संसारमें अनेक प्रकारके दुखोंको भोगता है। इसलिये व्यवहार तीर्थस्वरूप है। तीर्थ उसीका नाम है जिसके द्वारा तिरिये। जव व्यवहार तीर्थ स्वरूप है तव उसके लोपमें परमार्थकी सिद्धि कैसी? कदापि नही, परमार्थकी प्राप्ति करने में जो पुरुषार्थ किया जाता है वह व्यवहार ही तो है।

चोथे गुणस्थानसे लेकर सातवे गुणस्थान तक जो धर्मध्यान होता है वह व्यवहार ही स्वरूप ही है क्योंकि इन गुणस्थानोमें सावलम्बन धर्मध्यान ही होता है निरालंबन नहीं। इन गुणस्थानों में भगवान जिनेंद्र देवकी आज्ञानुसार देव पूजादि गृहस्थोंके षट्कर्म, प्रतिक्रमणादि मुनिराजोके षट्कर्म आदि क्रियायें सब आज्ञाविचय धर्मध्यान में ही गर्भित हैं। जो व्यवहार स्वरूप है। तथा अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यान है वह भी सावलम्बन धर्मध्यान है। इसलिये व्यवहारस्वरूप है और यह सब धर्मध्यान मोक्षका हेतु है 'परे मोक्षहेतू' ऐसा सूत्रकार का कहना है। अतः व्यवहार धर्मका भी लोप होगा तथा दान पूजा तीर्थयात्रा जप तप आदि सब ही व्यवहार धर्मका लोप करना पड़ेगा जैसा कि कानजी स्वामी दान पूजा तीर्थ यात्रादिकको संसारका कारण मानते हैं। किन्तु यह ससारका कारण नही यह धर्मध्यान में गर्भित है इसलिये मोक्षके हेतु हैं।

परमुत्तरमन्त्यं तत्सामीप्याद्धर्म्यमपि परमित्युपचर्यते द्विवचनसामर्थ्याद् गौणमपि गृह्यते। परे मोक्षहेतू इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति।

पूज्यपादस्वामीके इन वचनों से धर्मध्यान मोक्षके ही हेतु है संसार का हेतु आर्त और रौद्र ध्यान है धर्मध्यान नहीं। अतः व्यवहार धर्मका लोप से परमार्थ की सिद्धि तीनकाल में न हुई, और न होगी न है।

"ज्यों नर कोऊ गिरे गिरिसों
तिहिं होई हितू जु गहे दृढ बाहीं।

त्यों बुधको व्यवहार भलो
तवलौं जवलौं शिव प्रापति नाहीं।
यद्यपि यों परमाण तथापि
सधे परमारथ चेतन माहीं
जीव अव्यापक है परसों
विवहारसों तो परकी परछाहीं

अर्थात् परमार्थकी सिद्धि तो चैतन्यमें ही होती है तो भी जवतक शिव प्राप्ति न हो तव तक व्यवहारका साधन करते रहना यह न्याय प्राप्त है प्रमाणभूत है। जैसे कोई पुरुष गिरसों गिरजाय तो उससमय उसका हितू उसको दृढ भूजाही है उसके द्वारा वह किसी पत्थर या वृक्ष को पकडकर गिरनेसे वचजाता है क्षेम कुशलसे अपन ठिकाने पहुंच जाता है। उसी प्रकार वुध (ज्ञानी) जना को तवतक शिव प्राप्ति न हो जवतक व्यवहारही शरणभूत है क्योंकि व्यवहारही संसारमें पडते हुये को बचाता है अर्थात् अधर्म जो आर्तरौद्रादि अशुभ ध्यान संसारके पतनका कारण है उनसे वचाता है। इसलिये व्यवहारका लोप करनेसे परमार्थकी सिद्धि होगी यह वात सर्वथा आगम विरुद्ध है। आपने पहिले तो व्यवहार धर्मका लोप करनेके लिये हरिजनोंको मंदिर प्रवेश करानेका प्रयत्न किया यहांतक कि आचार्य शान्तिसागर-जीको हरिजनमंदिर प्रवेशमें वाधक घोषित कर उनको अपराधी ठहराया और उनको कानूनद्वारा दण्डित करनेकी सरकारसे प्रेरणा कीगई। तथा गणेशप्रसादजी वर्णीजी से हरिजन मंदिर प्रवेशका समर्थन कराया। जिससे यहां तक की नोवत आई कि वर्णीजीको ईसरी छोडनेकेलिये तैयार होना पड़ा। जव वर्णीजी ने अपनी

गलती स्वीकारकी तब जनता शान्त हुई। जब आपको उसमें सफलता न मिली तब आप कानजीके मतके समर्थनमें "जैनतत्त्वमीमांसा" लिखकर व्यवहार धर्मका लोपसे परमार्थकी सिद्धि सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। आप तो चाहते हैं कि "न रहै बास और न बजे बांसुरी" अर्थात् न रहे व्यवहारधर्म और न रहै किसी प्रकारका रोकटोक पर अभी ऐसा होना बहुत दूर है। अभी तो पंचमकालका ढाई हजार वर्ष ही बीता है।

इसलिये जब तक शुद्धोपयोगकी दशाको यह जीव प्राप्त न करसके तबतक शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका उपाय करते रहना यही जिनेन्द्र भगवानका आदेश है। अतः इसका लोप कैसे किया जा सकता है? आचार्य तो यहातक कहते हैं कि जो धर्मध्यान सावलम्बन है वह भी देशव्रती श्रावकोंके मुख्यतया नहीं होता। देखो भावसंग्रह।

"कहियाणीदिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणी।
तम्हा स देसविरयो मुक्खं धम्मं ण झाएई॥ ३८३

यह धर्मध्यान मुख्यपने देशविरत श्रावकोंके क्यों नहीं होता इसका कारण यह है कि गृहस्थोंके सदा काल बाह्याभ्यन्तर परिग्रह परिमितरूपसे रहते हैं। तथा आरंभ भी अनेक प्रकारके बहुतसे होते हैं इसलिये वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता है।

'किं च सो गिहवंतो वहिरंगंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।
बहुआरंभपउत्तो कह झायइ शुद्धमप्पाणं" ३८४

इसलिये गृहस्थोंका धर्मध्यान देवपूजादि षट्कर्मोंका करना ही है।

"जिनेज्या पात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयात् बुधैः"

अर्थात् जिनेन्द्र देवकी पूजा करना पात्रदान देना तथा समयानुसार पूजा या दानकी विधि करना भद्रध्यान कहलाता है। ऐसा ध्यान यथोचित गृहस्थधर्ममें ही होता है इसीलिये विद्वान लोग इसे धर्मध्यान कहते हैं। क्योंकि भद्रध्यान भी धर्मध्यानमें गर्भित है। यदि ऐसा न माना जायगा तो चौथे पांचवें गुणस्थान वर्तिजोवों के धर्मध्यानका अभाव मानना पडेगा। किन्तु उनके धर्मध्यानका सद्भाव आचार्यों ने वतलाया है। देखो सर्वार्थ सिद्धि

"तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति ॥

यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवे गुणस्थान तक होता है। यह धर्मध्यान जो चौथे पांचवे गुणस्थानमें होता है वह पंच परमेष्ठीके आश्रयसे ही होता है। अर्थात् दान पूजा स्वाध्याय आदि षट् कर्म करते समय जो गृहस्थोंके एकाग्र परिणाम होते हैं उसीको भद्रध्यान भी कहते हैं। अतः भद्रध्यान भी धर्मध्यान ही है। भद्रध्यान कोई धर्मध्यानसे अलग वस्तु नहीं है। क्योंकि इस भद्रध्यानमें दानपूजादि द्वारा सर्वज्ञ आज्ञाका प्रकाशन होता है और सर्वज्ञाज्ञाका प्रकाशन करना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान आचार्योंने वतलाया है। देखो सर्वार्थसिद्धि "सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते" इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि देवपूजा तीर्थयात्रा दान स्वाध्यायादि सब ही कर्म गृहस्थोंके अथवा मुनियोंके आज्ञाविचय धर्मध्यानमें ही गर्भित है। क्योंकि इसमें जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रतिपालन ही होता है एवं जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रकाशन भी होता है। इसलिये यह

आज्ञाविचय धर्मध्यानके अतिरिक्त अन्य कोई भद्रध्यान नहीं है।

अपायविचय विपाकविचय और संस्थान विचय धर्मध्यान भी सविकल्प है आलम्बन सहित है व्यवहार स्वरूप है क्योंकि इन ध्यानोंमें भी अपने तथा पराये जीवोंके दुख दूर करनेके उपायोंका विचार होता है कर्मोंके विपाकसे जीवोंकी क्या क्या अवस्था होती है उसका चिन्तवन किया जाता है तथा कर्मोदयसे यह जीव कहां कहां उत्पन्न होकर कैसे कैसे दुख भोगता है। इत्यादिक विकल्पोंके आश्रय विचारकी धारा प्रवाहित होती है। इसलिये यह सर्व धर्मध्यान व्यवहार स्वरूप है। इन ध्यानोंसे अशुभ कर्मोंकी गुणश्रेणी निर्जरा भी होती है।

तथा अपायविचय धर्मध्यानके द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर मोक्षमार्गका प्रकाश भी किया जाता है। इन धर्मध्यानोंमें उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका सोलह कारण भावनाओंका एवं द्वादश अनुप्रेक्षाका भी चिन्तवन मनन, किया जाता है। वह सब व्यवहार स्वरूप ही है। परमार्थ स्वरूप नहीं है तोभी इनके आश्रयसे आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस व्यवहारके किये बिना परमार्थ स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती। आप जो व्यवहारका लोप कर परमार्थकी सिद्धि करना चाहते हैं वह कौन सा परमार्थ है जो व्यवहार धर्मका लोप करनेसे प्राप्त होता है। जैनागम तो इस बातको स्वीकार नहीं करता। जैनागमका तो यह कहना है कि परमार्थस्वरूपका लक्ष बनाकर उसकी प्राप्तिके लिये उद्यम करते रहो जब परमार्थस्वरूपको प्राप्ति होजावेगी तब उद्यमकरने का व्यवहार स्वतः छूट जावेगा। जबतक परमात्मपदकी प्राप्ति नही होती तबतक पुरुषार्थ रूपी व्यवहार करना ही पडता है।

इसी बातको स्पष्ट करते हुये आचार्य दृष्टांत द्वारा समझाते हैं कि—

"यथा अंधके कंध परि चढे पंगु नर कोय।
याके दृग वाके चरण होय पथिक मिल दोय॥
जहां ज्ञान क्रिया मिले तहां मोक्षमग सोय॥
वह जाने पदको मरम वह पदमें थिर होय।

देखो समयसारका सर्व विशुद्धि द्वार

जैसे फलका कारण पुष्प है किन्तु फल लगने के बाद पुष्प स्वतः विनष्ट होजाता है उसी प्रकार परमार्थपदकी प्राप्तिके लिये व्यवहार भी निमित्तकारण है जब परमार्थ पदकी सिद्धि हो जाती है तब व्यवहार स्वतः छूट जाता है। इसके पहिले नहीं अतः व्यवहारका लोप कर जो परमार्थकी सिद्धि चाहते है वह महा पंडित होनेपर भी " पढ पढके पंडित भये ज्ञान भया अपार वस्तु स्वरूप समझे नहीं सब नकटीका शृंगार " इस कहावतके अनुसार वह जैनागमके मर्मज्ञ नहीं हैं। समयसारमें व्यवहारको छोडकर केवल निश्चयको ही परमार्थभूत माननेवालोंको भी मिथ्यादृष्टि बतलाया है। एवं निश्चयको छोडकर केवल व्यवहार ही मे मग्न है उसको भी मिथ्यादृष्टि बतलाया है। यथायोग्य अपने पदस्थके अनुसार व्यवहारका साधन करता रहै परमार्थका लक्ष रक्खे उसीको "स्याद्वादका जाननेवाला सम्यग्दृष्टि है" ऐसा कहा हैं।

"समुझे न ज्ञान कहै कर्म कियेसे मोक्ष, ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमें। ज्ञानपक्ष गहै कहै आत्मा अवन्ध सदावरतें स्वछंदनेई डूबे है चहलमें। यथायोग्य कर्म करे ममता न धरे रहै सावधान ज्ञान ध्यानकी टहलमें। तेई भवसागरके ऊपर ह्वै तरे जीव जिन्हको निवास

स्यादवादके महलमें"

—पुन्यपापएकत्वकरण अधिकार

व्यवहारका लोप मोक्ष प्राप्तिके पहिले नहीं होता क्योंकि विना संयम धारण किये तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तथा संयम है सो व्यवहार है वह दो प्रकारका है एक सागार दूसरा अनगार। सागार संयम सग्रन्थ है और निराशार परिग्रह रहित संयम है। सो ही कुन्द कुन्द स्वामीने चारित्र प्राभृत में प्रगट किया है।

"दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे निरायारं।
सायारं सग्गंथं परिग्गहरहियं खलु निरायारं २० गाथा

सागारसंयमका दर्जा या स्वरूप

"दंसणवयसामाइय पोसह सचित्तरायभत्तेय।
बंभारंपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य" २१

इसको कुन्दकुन्दस्वामी ने श्रावक धर्म बोलकर घोषित किया है जो व्यवहार स्वरूप है।

"एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं
सुद्ध संजम चरणं जइधम्मं निक्कलं वोच्छे" २६

इसके आगे अनगार धर्मका निरूपण किया है वह भी व्यवहार स्वरूप ही है।

"पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि त्तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं" २७

अर्थात् पांचों इन्द्रियोंको वश में करणा पांच महाव्रतोंको धारण करना पचीस क्रियाओंका पालन करना, पांच समिति तीन गुप्तिका पालन करना यह अनगार (मुनियोंका) चारित्र है।

यह व्यवहार चारित्र मुनिलिंग मोक्षमार्गको दिखाता है प्रगट करता है।

"दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं" ५४

—बोधप्राभृते

सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें जो दश प्रकारका निमित्त कारण बतलाया है उसमें निग्रन्थलिंगका अवलोकन भी एक कारण है दश प्रकारके व्यवहार सम्यक्त्व प्राप्तिका कारण निम्न प्रकार गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें बतलाते हैं कि—

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च"

टीका—एवं जिनसर्वज्ञ वीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदा आज्ञासम्यक्त्वं कथ्यते १ निर्ग्रंथलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रादिवेष्टितः पुमान् कदाचिदपि मोक्षं प्राप्स्यति एवंविधो मनोभिप्रायो निर्ग्रंथलक्षणमोक्षमार्गे रुचिमार्गस-म्यक्त्वं द्वितीयमुच्यते २ त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसमाकर्ण-नेन बोधिसमाधिप्रदानकरणेन यदुत्पन्नं श्रद्धानं तदुप-देशनामकं सम्यग्दर्शनं भण्यते ३ मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वं कथ्यते ॥ ४ ॥ उपलब्धिवशाद् दुरभि निवेश विध्वंसा-त् निरुपमोपशमाभ्यन्तरकारणाद् विज्ञातदुर्व्याख्येय जीवादिपदार्थबीजभूतशास्त्राद्यदुत्पद्यते तद्बीजसम्यक्त्वं

प्ररूप्यते । ५ । तत्त्वार्थसूत्रादि सिद्धान्तनिरूपितजीवादिद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण ज्ञात्वा रुचिं चकार यः स संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते ६ द्वादशांगश्रवणेन यज्जायते तद्विस्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते ७ अंगबाह्यश्रुतोक्तात् कुतश्चिदर्थादङ्गबाह्यश्रुतं विनापि यत्प्रभवति तत्सम्यक्त्वमर्थसम्यक्त्वं निगद्यते ८ अंगान्यङ्गबाह्यानि च शास्त्राण्यधीत्य यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढमुच्यते ९ यत्केवलज्ञानेनार्थानवलोक्य सदृष्टिर्भवति तस्य परमावगाढसम्यक्त्वं कथ्यते १० ।

उपरोक्त सब साधन सम्यक्त्व प्राप्त करनेके निमित्तकारण हैं और व्यवहार स्वरूप हैं। इसलिये व्यवहारका लोप करना या मोक्षमार्गका लोप करना एक ही बात है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्राप्त किये बिना मोक्षमार्ग बनता नहीं और उपरोक्त कारणों के बिना सम्यक्त्व प्राप्त होता नहीं । इसलिये व्यवहारका लोप करना या मोक्षमार्गका लोप करना दोनोंमें कोई अंतर नहीं है

रोज हम पूजा करते हैं उसमें देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करने से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रकी प्राप्ति होकर संसारका नाश होता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा बतलाया है ।

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणं ”
श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणं ॥

गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदाऽस्तु मे।
चारित्रमेव संसारवारणं मोक्षकारणं॥

क्या यह कथन असत्य हैं ? कदापि नहीं। समंतभद्राचार्य जैसे तार्किक आचार्यने भी जिनेन्द्रकी भक्तिको सर्वदुःखोंको नाश करनेवाली अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करानेवाली बतलाई है।

"देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं॥

रत्नकरंडे

कुन्दकुन्दस्वामीने भी पूजा और दानको गृहस्थोंका मुख्य धर्म बतलाया है। और मुनिराजोंका ध्यान और अध्ययन करना मुख्य धर्म बतलाया है जिससे मोह और क्षोभ परिणामों का नाश हो कर आत्मधर्मकी प्राप्ति होती है।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि॥११॥
जिणपूजामुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरवो॥१२॥

रयणसारे

अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार जो श्रावक दान और पूजा करता है वह मोक्षमार्गमें गमन करता है यह कुन्दकुन्द स्वामीके वचन हैं जो अध्यात्म रसके रसिक पूर्णज्ञाता थे उनके समयसारादि ग्रन्थोंको पढकर आप जैसे विद्वान भी व्यवहार धर्मको लोप करने में परमार्थकी सिद्धिका स्वप्न देख रहे हैं यह बडे आश्चर्य की बात है।

तं धम्मं केरिसं हवदि तं तहा-

शिष्यने पूछा—उस धर्मका स्वरूप क्या है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

"पूजादिसुवयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८१

टीका—पूजादिषु व्रतसहितं पूजा आदिः एषां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं श्रावकव्रतसहितं पुण्यं स्वर्गसौख्यदायकं कर्म जिनैस्तीर्थंकरपरमदेवैरपरकेवलीभिश्च हि स्फुटं शासने आर्हतमते उपासकाध्ययननामन्यङ्गे भणितं कृतं तथा प्रतिपादितं। इदं कर्म करणीयमित्यादिष्टं। यदीदं सर्वज्ञ वीतराग पूजालक्षणं तीर्थंकरनामगोत्रबन्धकारणं विशिष्टं निर्निदानं पुण्यं पारम्पर्येण मोक्षकारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिर्भणितं तर्हि साक्षान्मोक्षहेतुभूतो धर्मः क इत्याह-मोहः पुत्रकलत्रमित्रधनादिषु ममेदमिति भावः, क्षोभः परीषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलनं, ताभ्यां विहीने रहितः मोहक्षोभविहीन एवं गुणविशिष्ट आत्मनः शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य स परिणामो गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्!

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुंभः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥

यदि मोक्षं न गच्छति तदा जिनसम्यक्त्वपूर्वकं दानपूजादिलक्षणं, विशिष्टगुणमुपार्ज्यन् गृहस्थः स्वर्गं गच्छति परंपरया जिनलिंगेन मोक्षमपि प्राप्नोति।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिका कारणभूतहोनेसे दान पूजादि व्यवहार धर्म को परंपरा मोक्षका कारण बतलाया है। इसलिये उपादेय भी

है। इसको सर्वथा हेय समझकर जो छोड बैठते हैं वे संसारमें घोर दुःखोंको भोगतेहुये परिभ्रमण करते हैं ऐसा आचार्योंका कहना है।

"खय कुट्ठ मूल सूलो लूय भयंदर जलोदर खिसिरो।
सीदुण्ह बाहिराई पूजादाणंतराय कम्मफलं" ३७
"णरइ तिरियाइ दुगई दरिद वियलंगहाणिदुक्खाणि।
देव गुरु सत्थ वंदण सुयभेय सज्झाइ दाणविघणफलं ३७

रयणसारे

अर्थात् दान पूजा स्वाध्याय वन्दना आदि व्यवहारधर्मको हेय बतलाकर उसका निषेध करना विघ्न करना उपरोक्त दुःखोंका कारण है एसा कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है। वे बोधप्राभृतमें कहते हैं—

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा २४

—बोधप्राभृते

टीका— स देवो यो ऽर्थं धनं निधिं रत्नादिकं ददाति धर्मं चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तुस्वरूपमात्मोपलब्धिलक्षणमुत्तमक्षमादिदशभेदं सु ददाति। सुष्ठु अतिशयेन ददाति। कामं अर्धमंडलिक मण्डलिक महामण्डलिक बलदेव वासुदेव चक्रवर्तीन्द्रधरणेन्द्रभोगं तीर्थंकरभोगं च यो ददाति स देवः सुष्ठु ददाति ज्ञानं च केवलं ज्योतिः ददाति। स ददाति यस्य पुरुषस्य यद्वस्तु वर्तते असत्कथं दातुं समर्थः यस्यार्थो वर्तते सोऽर्थं ददाति यस्य धर्मो वर्तते स धर्मं ददाति। यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वर्तते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रव्रज्यां ददाति यस्य सर्वसुखं वर्तते स सर्वसौख्यं ददाति।

ऐसा ही अन्य आचार्यों का कहना है।

"एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः"

(क्षत्रचूडामणी)

एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिन पूजन स्नपन स्तवन नव जीर्ण चैत्य चैत्यालयोद्धारण यात्रा प्रतिष्ठादिकं महापुण्यं कर्म कर्मविध्वंसकं तीर्थंकर नामकर्म दायकं विशिष्टं निदानरहितं प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः संतोऽपि निषेधंति ते पापात्मानो मिथ्यादृष्टयो नरकादि दुःखं चिरकालमनुभवन्ति, अनन्तसंसारिणो भवन्तीति भावार्थः ।

इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारका लोप नहीं किया जासकता जो व्यवहारका लोप कर परमार्थकी सिद्धि चाहता है वह मिथ्यादृष्टि है अनन्त ससारी है ।

आचार्योंने द्रव्यलिङ्गको भावलिंगका कारण बतलाया है द्रव्य-लिंग व्यवहार स्वरूप है उसके विना भावलिंग होता नहीं यह जैनागमका अटल सिद्धांत है इसलिये व्यवहारके विना निश्चय होता नहीं ।

"द्रव्यलिंग समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ।
द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं ।
तदध्यात्मकृतस्पष्टं नेत्रविषयं यतः ॥

इसी प्रकार कुन्दकुन्द स्वामीका भी यही कहना है ।

देखो भावप्राभृत गाथा ।

पयडहि जिनवरलिंगं अब्भिंतर भावदोसपरिसुद्धो ।

भावमलेण य जीवो वाहिरसंगम्मि मयलियइ । ७० ॥

टीका—हे जीव हे आत्मन् प्रगटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवर लिंगं त्वं धर नग्नो भव । पश्चात् कथंभूतो भव आभ्यन्तर भावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन कृत्वा दोषपरिशुद्धो दोषरहितो भव इदमत्र तात्पर्य—द्रव्यलिंगं विना भावलिङ्गी सन्नपि मोक्षो न लभत इत्यर्थः शिवकुमारो भावलिंगी भूत्वापि स्वर्गं गतो न तु मोक्षं; जम्बूस्वामिभवे द्रव्यलिंगी अतिकष्टेन संजातस्तस्मिश्च सति भावलिंगेन मोक्षं प्राप । भावमलेनापरिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहिततया, वाह्यसंगे सति मइलियह मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्ग्रंथोऽपि सग्रंथो भवतीति भावार्थः । स्याद्भावेन मोक्षो द्रव्यलिंगापेक्षत्वात् । स्याद्द्रव्यलिंगे मोक्षो भावलिंगापेक्षत्वात्, स्यादुभयं क्रमार्पितोभयत्वात्, स्यादवाच्यं युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् स्याद्भावलिंगं चावक्तव्यं च स्याद् द्रव्यलिंगं चावक्तव्य च स्यादुभयं चावक्तव्यं चेति सप्तभंगी योजनीया ।

दृष्टान्तं—पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकं"

अतः श्रीकुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि भावलिंगके विना केवल द्रव्यलिंगसे वोधिसमाधिकी सिद्धि नहीं होती । और द्रव्यलिंगके विना भावलिङ्ग होता नहीं । इसलिये द्रव्यलिङ्ग सहित भावलिङ्ग और भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष प्राप्तिमें साधनभूत है ।

"भावेण होइ नग्गो मिच्छत्ताईयं दोस चइऊणं ।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए" ७३

टीका—भावेन परमधर्मानुरागलक्षणजिनसम्यक्त्वेन भवति कीदृशो भवति ? नग्नः वस्त्रादिपरिग्रहरहितः किं कृत्वा पूर्वं मिथ्यात्वादींश्च दोषांस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणास्रवद्वाराणि त्यक्त्वा । पश्चात् भावलिङ्गधरणादनन्तरं मुनिर्दिगम्बरः प्रगटयति स्फुटीकरोति । किं तत् ? लिंगं जिनमुद्रां कया ? जिणाणाए जिनस्याज्ञया जिनसम्यक्त्वेन सम्यक्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं संलग्नं ज्ञातव्यं । भावलिंगेन द्रव्यलिङ्गं द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं । अलं दुराग्रहेणेति ।

अर्थात् द्रव्यलिंगके विना भावलिङ्ग होता नहीं और भावलिंग के विना भी केवल द्रव्यलिंग से परमार्थकी सिद्धि नही होती इस से यह स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि व्यवहार को छोडकर निश्चयसे परमार्थ सिद्ध नही होता इसलिये निश्चय या परमार्थ सिद्ध करनेके लिये व्यवहारको शरण लेनी पड़ती है । क्योंकि इस के विना परमार्थ सिद्ध नहीं हो सकता यह नियम है । इसलिये व्यवहारको भी परमार्थकी सिद्धिकेलिये करते रहना परमावश्यक है ।

"पापारंभणिवित्तीपुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि ।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं" ६७

रयणसारे ।

कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि पापारंभकी तो निवृत्ति कर के

पुण्यारंभकी प्रवृत्ति करनी चाहिये यह सम्यग्ज्ञानका कार्य है इससे धर्मध्यानकी सिद्धि होती है और धर्मध्यान प्राप्त करनेमें प्रधान कारण है।

"धम्मज्झाणब्भासं करेह तिविहेण जाव सुद्धेण
परमप्पझाण चेतो तेणेव खवेह कम्माणि" ९६
रयणसार

अर्थात् जबतक शुक्लध्यान की प्राप्ति न हो तबतक धर्मध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये । जो आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय भेदरूप है।

वह छट्ठे गुणस्थान तक तो सविकल्प आलम्बन सहित है क्योंकि यहा तक परमाद अवस्था है अतः प्रमत्त अवस्था में निर्विकल्प ध्यान बनता नहीं इस बातको ऊपर बताया गया है। श्रेणी आरोहणके पहिले व्यवहारका ही आलम्बन है । वह छूट नहीं सकता। अतः आचार्य कहते हैं कि—

जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रय जाने नहीं।
सो तप करई अपार मृषा रूप जिनवर कह्यो ।
"णिच्छय ववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं, १२५
रयणसारे

अर्थात् निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयको जो नही जानता है वह मिथ्यादृष्टि है और उसका तपश्चरणादि सर्व व्रत नियम मिथ्या है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के विना निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा जाने विना व्यवहारको छोडकर केवल निश्चयकी (परमार्थ स्वरूपकी) सिद्धि करना जो चाहता है वह अथवा परमार्थके लक्ष विना केवल व्यवहारको ही

परमार्थ स्वरूप समझकर व्यवहारमें ही तल्लीन रहना है वह भी वहिरात्मा है इसलिये एकको छोडकर एक की सिद्धि नहीं होती यह अटल नियम है। अतः अपने पदस्थके अनुसार परमार्थकी सिद्धिकेलिये व्यवहारका साधन करते रहना चाहिये। यदि ऐसा न माना जायगा और व्यवहारको हेय ही समझा जायगा तो फिर व्यवहारधर्मको परंपरा मोक्षका कारण बताकर उसको करने का उपदेश आचार्योंने किसलिये दिया है! इसलिये यही मानना उचित है कि---

यथायोग्य क्रिया करे ममता न धरे रहै सावधान ज्ञानध्यानकी टहलमें। तेई भवसागरके ऊपर ह्वै तिरें जीव जिनको निवास स्याद्वादके महलमें।

श्रावकोंके करने योग्य त्रेपन क्रियाओंका वर्णन सर्वज्ञदेवने ही तो किया है! वह व्यवहार स्वरूप नहीं तो और क्या है?

"गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालणं अणत्थमियं
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्णसावया भणिया १५३

फिर इसके करनेका निषेध कैसा? अथवा इसके न करने से परमार्थकी सिद्धि कैसी! जिस प्रकार श्रावकों के पालन करने योग्य त्रेपन क्रियाओंका निरूपण किया है उसीप्रकार मुनिराजोंके लिये भी अठाईस मूलगुण आदि पालन करने का आदेश किया है जो व्यवहार स्वरूप है जो छठे सातवे गुणस्थान तक अखंडित स्वरूप है। फिर अव्रतअवस्था मे उसके करनेका निषेध कैसा? क्या रोगका निदान कर रोगका निश्चयकर लेनेसे और इस दवासे यह रोग नष्ट होगा ऐसा जान लेने मात्रसे रोग नष्ट होता है? नहीं, रोग नष्ट करने के लिये दवाका प्रयोग करना पडेगा इसी प्रकार जिन जिन कारणोंसे संसार परिभ्रमणका रोग इस जीवको हुआ

है जिससे यह जीव इस प्रकारका दुःख सहन कर रहा है और इस दुखको दूर करने का यह उपाय है। उन उपायोंको जान लेनेमात्र से संसार परिभ्रमणका रोग नष्ट नहीं हो सकता। रोग नष्ट करने के लिये रोग नष्ट करनेवाले उपायोंको करना पड़ेगा तव ही वह रोग नष्ट होसकता है अन्यथा नहीं अर्थात् "कायवाङ्मनः कर्म योगः" 'स आश्रव.' इसकेद्वारा तो यह जीव कर्मोंको आकर्षित करता है और मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायोगा वन्धहेतवः" इसके द्वारा यह जीव अपने प्रदेशोंके साथ कर्मोका वन्धकर दुःखी होता है अर्थात् चारों गतियों के दुःखों को भोगता हुआ भ्रमण करता है इस रोगको मिटानेके लिये सुगुरु कहते हैं कि प्रथम तो जो कर्म आनेका कारण है (अपथ्य है) उसको हटावो अर्थात् आश्रवका निरोधकर संवरकरो "आश्रवनिरोधः संवरः" इसके वाद वन्धे हुये कर्मोंको नष्ट करनेके लिये तपरूपी चारित्रको धारण करो। ऐसा करनेसे तुम्हारा संसार परिभ्रमणका रोग मिट जायगा। तो ऐसा जानलेने मात्रसे क्या संसार परिभ्रमण करनेका हमारा रोग नष्ट होजायगा? कदापि नहीं इस रोगको नष्ट करने के लिये चारित्र धारण करना ही पडेगा इसी बातको स्पष्ट करते हुये कुन्दकुन्द स्वामीने रयणसार में घोषित किया है कि—

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणोदि सुवोलये अण्णाणी।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि किं णस्सदे वाही ॥७२॥

अर्थात् ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानवलसे कर्मोंको नष्ट कर देता है ऐसा जो कहता है सो अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है क्योंकि विना चारित्रके धारण किये विना केवल ज्ञान वलसे कभी कर्म नष्ट नहीं हो सकता है। जैसा कि रोग और ओषधिके जानलेने मात्रसे रोग नष्ट नहीं होता। रोग नष्ट कर देने के लिये ओषधिका सेवन

करना पड़ेगा और अपथ्यका सेवन छोड़ना पड़ेगा उसी प्रकार संसार परिभ्रमणका रोग दूर करने के लिये चारित्र धारण करना पड़ेगा और रोग होनेका कारण मिथ्यात्व अविरतादि कुपथ्य को हटाना पड़ेगा तब ही संसार परिभ्रमण का रोग इस जीवका नष्ट होसकता है अन्य प्रकारसे नहीं फिर व्यवहारका लोप करनेसे परमार्थ की सिद्धि कैसी ? व्यवहारका लोप करनेवाला तो दोनो लोकसे भ्रष्ट ही होगा उसके परमार्थकी सिद्धि तीन काल में कभी नहीं होगी। परमार्थकी सिद्धि तो व्यवहारके आश्रयसे ही होगी यह अटल सिद्धान्त है इसीलिये आचार्योंने गृहस्थाश्रममें दानपूजादि षट कर्म करनेका उपदेश दिया है और मुनिराजोंका षट आवश्यकादि पालन करने का उपदेश दिया है इसका लोप करनेवालोंके परमार्थको सिद्धि होगी या अपरमार्थकी सिद्धि होगी इसके लिये हम क्या कहें इस के लिये तो आचार्य स्वयं घोषित करते हैं कि—

"मदिसुदिणाणवलेण हु स्वच्छंदं वोल्लइ जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो॥ २॥

रयणसारे

अर्थात् जो मनुष्य मति श्रुत ज्ञानके घमंडमें आकर श्रीजिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंको अपने मनकल्पित यद्वा तद्वा प्रतिपादन करता है अथवा आगमके सत्यार्थको छिपाकर मिथ्या कहता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह जिनधर्मका पालन करता हुआ भी जैनधर्मसे सर्वथा पराङ्मुख है जैनधर्मसे वहिर्भूत मिथ्यादृष्टि है। ऐसा समझना चाहिये ऐसा कुन्दकुन्दस्वामीका कहना है।

आचार्य कहते हैं कि मोक्षरूपी तरु (वृक्ष) के सम्यक्त्वरूपी जड है (मूल है) वह निश्चय और व्यवहार स्वरूप है।

"सम्मत्तरयणसारं मोक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहाररूप दोभेदं" ॥४॥

रयणसारे

अर्थात् मोक्षतरुके निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके सम्यक्त्व मूल कहिये जड़ हैं इन दोनूं जडों में से एक व्यवहार जडको काट देनेसे क्या मोक्षरूपी तरु पनप सकता है ? कभी नहीं। मोक्षतरुकी एक जड काटने वाला दूसरी जडको भी नष्ट करदेता है। अर्थात् निश्चय सम्यक्त्वकी प्राप्ति का कारण-भूत देव शास्त्र गुरु हैं क्योंकि श्रद्धा भक्ति रुचि विश्वासके विना निश्चय सम्यक्त्व हो नहीं सकता इसलिये देव शास्त्र गुरु-की श्रद्धारूपी व्यवहार सम्यक्त्वका जो लोप करता है वह निश्चय सम्यक्त्वको भी नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि कारणके विना कार्यकी सिद्धि कैसी ? इसलिये जो व्यक्ति व्यवहारका लोप कर परमार्थकी सिद्धि चाहता है वह अपने ज्ञानकी प्रखरतामें जिनागमके अर्थको अन्यथा प्रतिपादन कर "आप डूबंतो पाडीयों ले डूबो जजमान" वाली कहावत चरितार्थ कर दिखाता है।

सम्यक्दृष्टि या सम्यक्त्वके सन्मुख वही जीव है जो आगमानुकूल वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करता है। जो जिनागम को केवली के वचन मानकर उनपर विश्वास करता है।

"पुव्वं जिणेहि भणियं जहठियं गणहरेहि वित्थरियं ।
पुव्वइरियक्कमजं तं बोलई जो हु सद्दिट्ठी" ॥२॥

रयणसारे

अर्थात् जिनागमकी रचना केवली भगवानके वचनानुसार गणधर देवने की और उसके बाद द्वादशांगके अनुसार पूर्वाचार्यों ने अनुयोगोंकी रचना की इस अनुक्रमसे चली आई शास्त्रोंकी

रचना उसको जिनराजका कहा हुआ है ऐसा मानकर जो श्रद्धान करता है और उसीके अनुसार वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करता है वही सम्यग्दृष्टि है।

व्यवहार धर्मकी पुष्टि करते हुये कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि दान और पूजा करनेवाला श्रावक त्रिलोक पूज्य होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति कर लेता है। देखो रयणसार

"पूयाफलेण तिल्लोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं" ॥१४॥
"दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिनवरिंदेहिं ॥ १६ ॥
"खेत्तविसेसकाले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं" ॥१७॥
"इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्तसत्त खेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं" ॥१८॥

कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि इस व्यवहारधर्मका साधन जो नहीं करते हैं वह पतंगकी तरह लोभकषायरूपी अग्निमें जलकर भस्म हो जाते हैं। वह वहिर आत्मा है।

"दाणु ण धम्मु ण चागुण भोगु ण वहिरप्पजो पयंगो।
सो लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो" ॥१९॥

रयणसारे

"दानं न धर्मः न त्यागो न भोगो न वहिरात्मा यः पतङ्गः स लोभकषायाग्निमुखे पतितः मृतः न सन्देहः ॥

अब कहिये शास्त्रीजी ! व्यवहारका लोप करनेसे परमार्थकी सिद्धि होगी, न कि व्यवहारका साधन करनेसे परमार्थकी सिद्धि होगी ? इसलिये व्यवहार धर्मका लोप करना महान अनर्थ का मूल है। परमार्थकी सिद्धि तो होगी ही नही प्रत्युत अपरमार्थकी ही सिद्धि होगी अर्थात् मिथ्यात्व ही पुष्ट होगा इसमें संदेह नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि तपके विना (अनशनादि तपके विना) ज्ञान, और ज्ञानके विना तप दोनू ही अकृतार्थ है कार्यकारी नहीं हैं इसलिये ज्ञान सहित तपश्चरण को जो आचरण करता है वही भव्यात्मा निर्वाण पदको प्राप्त कर सकता है। देखो मोक्षप्राभृत—

"तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाण तवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं" ॥५६॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परमार्थकी सिद्धि, विना व्यवहार साधनके नही हो सकती है जो लोग समयसारादि अध्यात्म ग्रंथों को पढकर व्यवहारको हेय वताकर व्यवहारसे पराङ् मुख होते हैं वह वहिरात्मा हैं। क्योंकि कुन्दकुन्दस्वामीका ध्येय व्यवहारको हेय वताकर व्यवहारको छुडानेका नहीं हैं। यदि उनका ध्येय व्यवहार को छुडानेका होता तो वे व्यवहारकी पुष्टि इसतरह क्यों करते कि विना व्यवहार के परमार्थकी सिद्धि नही होती इसलिये मानना पडेगा कि कुन्दकुन्द स्वामीका ध्येय व्यवहारका लोप करनेका नहीं था। यदि यहांपर कोई यह तर्क करे कि उनका यदि व्यवहारको छुडानेका ध्येय नहीं था तो उन्होने व्यवहारको हेय अथवा असत्यार्थ क्यों वतलाया ? इसका समाधान यह है कि आत्मोपलब्धी जो परमार्थभूत हैं वह तो आत्मामें ही होगी

क्योंकि उस का उपादान कारण आत्मा ही है बाह्य द्रव्य नहीं बाह्य द्रव्य तो बाह्य ही है वह केवल निमित्त कारण है। अतः निमित्त कारणोंको कोई उपादान कारण न मान बैठे इसलिये बाह्य निमित्त कारणों को आत्मस्वरूप से भिन्न मनाने केलिये व्यवहारको हेय बतलाया है, न कि व्यवहार के साधन विना भी आत्मोपलब्धि होजाती है इसलिये व्यवहारको हेय बतलाया है। आत्मोपलब्धि विना व्यवहारके होती नहीं, यह नियम है। इस कारण आचार्योंने कारणका कार्य में उपचार कर व्यवहारको उपादेय भी बतलाया है। देव शास्त्र गुरु यद्यपि आत्मासे भिन्न हैं परस्वरूप हैं तथापि उनके निमित्तसे परणामों में विशुद्धि आकर परमार्थ की सिद्धि होजाती है इस कारण देव शास्त्रगुरु पर होनेपर भी उपादेय हैं परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग उन्हीं देवशास्त्र गुरुके द्वारा उपदिष्ट है अतः उनके बताये हुये मोक्षमार्गमें चलनेसे ही इस जीवको परमार्थरूप सिद्धि होता हैं और उस मोक्षमार्ग में चलना यही तो व्यवहार है। उस मोक्षमार्गमें गमन किये विना क्या किसी जीवने मोक्षस्वरूप परमार्थ की सिद्धि की है? कदापि नहीं फिर उस मोक्षमार्गमें गमन करने रूप व्यवहार का लोप करदेनेसे परमार्थकी सिद्धि का आप जो स्वप्न देखते हैं वह स्वप्नमात्र है मिथ्या है। क्योंकि स्वप्नमें देखी हुई वस्तु आंख खुलने पर (निद्रा दूर होने पर) अदृश्य हो जाती है उसका अस्तित्व कुछ भी दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार व्यवहारके लोपमें परमार्थकी सिद्धिका आपका स्वप्न निःसार है। आप की मोहरूपी निद्रा दूर होजाने पर आपको भी व्यवहारके लोप में परमार्थकी सिद्धिका अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ेगा।

"प्रत्येक द्रव्यकी अपनी प्रत्येक समयकी पर्याय अपने परिणमन स्वभावके कारण होनेसे क्रम नियमित

ही होती है । निमित्त स्वयं व्यवहार है इसलिये उसके द्वारा वह आगे पीछे की जा सके ऐसा नहीं है। उपादानको गौणकर उपचरित हेतु वश उसमें आगे पीछे होनेका उपचार कथन करना अन्य वात है"

ऐसा जो आपका कहना है यह भी जैनागमके सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें वैभावकी शक्ति नहीं है। इनमें स्वाभाविकी शक्ति ही है इसलिये ये चार द्रव्य परनिमित्तसे विभावरूप परिणमन नहीं करते क्योंकि उनमें विभावरूप परिणमन करने की वैभाविकी शक्ति ही नहीं है जो परनिमित्त मिलनेपर वह विभावरूप परिणमन करजाय। उनमे तो "उपादानको गौणकर उपचरित वश उनमें आगे पीछे होनेका उपचार करना अन्य वात है" यह संभव ही नही, जो उपचरित वश उपादानको गौणकर कुछ कहा जाय। क्योंकि उनकी पर्यायें उनमें अपने स्वभावरूप ही होती है, उनमे आगे पीछेका कोई सवाल ही नही है। किन्तु इतनी वात जरूर है कि उनका परिणमन अपने स्वभावमें होनेपर भी क्रम नियमित ही हो सो भी नियम नहीं है क्योंकि उनमें भी षट्गुण हानि वृद्धि रूप परिणमन हर समयमें होता ही रहता है और वह सर्वथा क्रमवद्ध ही होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि षट्गुण हानी वृद्धि अक्रमवद्ध भी होजाती है। जैसे कि पहिले समयमें संख्यातगुणी वृद्धि हुई तो दूसरे समयमे एक अंश अधिक वृद्धि ही होगी या हानि नहीं होगी ऐसा नियम नही है। दूसरे समयमें असंख्यात से अनन्तगुणी हानि वृद्धि भी हो सकती है अथवा संख्यात असंख्यात अनन्तभाग हानि वृद्धि भी हो सकती है। इसलिये इन धर्म द्रव्य अधर्मद्रव्य

आकाशद्रव्य और कालद्रव्यमें स्वभावपरिणमन भी सर्वथा क्रम नियमित ही होता है ऐसा मानना अनुचित है।

इस प्रकार सिद्धों में भी स्वाभाविक परिणमन क्रमबद्ध अक्रमबद्ध रूपसे ही होता है। उनमें भी क्रमबद्धका नियम नहीं है। और कालद्रव्यका निमित्त सबमें है ही। संसारी जीव द्रव्यका और पुद्गल द्रव्यका परिणमन स्वभाव होनेपर भी इनमें वैभावकी शक्तिके कारण विभावरूप ही इन का परिणमन होता रहता है इस कारण इनको जैसा निमित्त कारण मिलजाता है। वैसा वह परिणमन कर जाता है इसमें क्रमबद्धका सवाल ही उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि ये दोनू द्रव्य स्वतंत्र होनेपर भी वैभावकी शक्ति के कारण ये परतंत्र भी हैं। बद्ध अवस्थामें स्वतंत्र नहीं हैं परतंत्र ही हैं उनको स्वतंत्र शक्तिकी अपेक्षासे कह सकते हैं किन्तु व्यक्तिकी अपेक्षा तो परतंत्र ही हैं। जो परतंत्र है वह क्रमबद्ध अपने स्वभावरूपमें परिणमन नही कर सकता। जैसे जेली जेलमें रहनेवाला मनुष्य परतंत्र है वह अपने इच्छानुसार कोई भी कार्य नहीं कर सकता है उनको तो जैलर की आज्ञानुसार ही कार्य करना पडता है इसी प्रकार संसारी जीव चारगति रूपी जेलमे पडा हुआ है। उसको तो कर्मरूपी जेलर के उदयानुसार ही कार्य करना (परिणमन करना) पडेगा। वह स्वतंत्र कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये आचार्योंने उस जेलको तोडनेका उपाय बतलाया है। यदि उन उपायोंसे संसार रूपी जेल तोडकर यह जीव निकलना चाहे तो निकल सकता है।

यदि वह संसार रूपी जेलमें पडा हुआ जीव उन उपायोंको काममें नही लाकर क्रमनियमित पर्यायके विश्वासमें बैठा रहे तो क्या वह संसार रूपी जैलसे पार हो सकता है ? कभी नहीं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो सब शास्त्र और जिनेन्द्रके वचन

मर्व मिथ्या सिद्ध हो जायगे। क्योंकि क्रम नियमित पर्यायका जब नम्बर आवेगा तब स्वयमेव यह जीव मोक्षमें पहुच जावेगा उसके लिये प्रयत्न करनेकी (पुरुषार्थ करनेकी) जरूरत ही नहीं रहती। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता इसलिये ऐसा मानने वालोंको आचार्यों ने मिथ्यादृष्टि बतलाया है। देखो समयसार।

"बन्ध बढ़ावे अंध ह्वै ते आलसी अज्ञान। मुक्ति हेत करनी करै ते नर उद्यम वान" जो मनुष्य क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यता पर विश्वास कर मुक्ति प्राप्त करनेके लिये उद्यम (पुरुषार्थ) नहीं करता है वह आलसी है अज्ञानी है। मुक्ति पानेके लिये जो उद्यम करता है वह पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है। अतः क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यता सत्य समझ कर निरउद्यमी नहीं होना चाहिये।

ससारी जीवोंकी क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती इसका एक नहीं अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष देखनेमें आते है। उसको न मानना यही तो अज्ञानता है। मैंने मंदिर जानेका विचार किया और जानेके लिये प्रस्तुत भी होगया तथा क्रमबद्ध चलना भी आरंभ कर दिया पर बीच ही में ऐसा कर्मका उदय आया कि किसीने छातीमें छुरा भोंक दिया अथवा लडखडा कर गिरगया जिससे बेहोश होगया। मुझे बेहोशीकी हालतमें अस्पताल लेगये। यदि कहाजाय कि उस समय ऐसाही होना था सो हुआ इसीका नामही तो क्रमबद्ध पर्याय है। किन्तु ऐसा मानना ही तो नियतिवाद पाखंड है। देखो गोमट्टसार कर्मकांड।

"जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो हु" ८८२

अर्थात् जो जिसकाल जिसकरि जैसे जिसके नियम करि है सो तिसकाल तीहिकरि तैसे तिस हो के होय है ऐसा नियमकरि

ही सबको मानना सो नियतिवाद पाखंड है। इसलिये संसारी जीवोंकी क्रम बद्ध पर्याय मानना ही मिथ्यात्व है; क्योंकि संसारी जीवोंका पंच प्रकार परावर्तन अक्रमबद्ध ही पूर्ण होता है। क्रमबद्ध नहीं होता। ऐसा नियम नहीं है कि जो क्षेत्र परिवर्तन करेगा वह आकाशके प्रदेशोंमें क्रमबद्ध जन्ममरण करेगा किन्तु कभी कहीं कभी कहीं जन्ममरण करता है। इसीप्रकार अन्य परावर्तनोंमें समझ लेना चाहिये।

यदि आप कहें कि हम तो द्रव्यमें स्वभावसे होनेवाले परिणमन स्वभाव द्वारा होनेवाली द्रव्यकी प्रत्येक समयकी पर्यायको नियमित रूपसे मानते हैं। यह आपका छल है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है वह अपने परिणमन स्वभावसे प्रत्येक समय में परिणमन तो करेगा ही इसमें विवाद ही किसको है। क्योंकि द्रव्यका लक्षण—सत् किया है।

"सत् द्रव्यलक्षणं" २९ और सत्का लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्यायुक्तं सत्" ३० ऐसा किया है। इसलिये प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपना अनिवार्य है इसमें किसीको विवाद नहीं है। विवाद है नियमित क्रमबद्ध पर्यायकी पलटन में। संसारी जीवोंकी जो विभावरूप पर्याय है वह कर्माधीन होनेसे क्रमबद्ध नहीं होती इसको क्रमबद्ध मानना ही अज्ञानता है या पक्षपात है। कानजीके मतका पोषण है। इसविषयमें अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं क्योंकि इस विषयमें अनेक विद्वानोंका स्पष्टीकरण हो चुका है।

इस उपरोक्त कथनसे निमित्तकी प्रबलता भी सिद्ध हो जाती है। तथा क्रमबद्ध पर्याय का भी नाश होजाता है। तथा बाह्य सामग्री एक सी मिलने पर भी सबका समान कर्मोंका क्षयोपशम नहीं होता यह तीन बातें सिद्ध हो जाती है। कारण यह है कि

यदि क्रमवद्ध पर्याय मानली जाय तो पंच परावर्तन संसारका अभाव होते देरी न लगे क्योंकि वह क्रमवद्ध उदयमें आकर पंच-परावर्तन संसारको खतम करदेगी किन्तु संसारीजीवोंकी क्रमवद्ध पर्याय नहीं होती इसीकारण जीवका पंचपरावर्तन संसार क्रमवद्ध पूर्ण नहीं होपाता एक एक परावर्तन पूरा करनेमें अनंतानंत काल लग जाता है इसका कारण यही है कि क्रमवद्ध परिवर्तन नहीं होता अनतकाल बीतने पर क्रमवद्धका दूसरा नम्बर आता है। यह बात परावर्तनोंका स्वरूप समझने से ध्यानमें आ जाती है। अतः इसपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं समझते। विद्वानोंके लिये इशारा ही काफी है।

योग्यता सदा तद्रूप ही रहेगी आत्मामें सदा जानने देखनेकी योग्यता है तो वह सदा जानता देखता ही रहे। कम या ज्यादा अथवा विपरीत जैसा निमित्त मिलता है विना निमित्तके योग्यता काम नहीं देती। जैसे भाव इन्द्रिय दोय प्रकार है एक लब्धि रूप और दूसरी उपयोगरूप। तहां ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूपसे आत्मामें शक्ति होती है सो तो लब्धि कहिये सो तो पांच इन्द्रिय और छठा मनद्वारे जाननेकी शक्ति एक काल तिष्ठै हैं। तथा तिनिको व्यक्तिरूप उपयोगका प्रवृत्ति सो ज्ञेयसूं उपयुक्त होय है तब एक काल एक ही सूं होय है ऐसा ही क्षयोपशम ज्ञानका योग्यता है। ऐसा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है।

"एक्के काले एगं णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं। णाणा णाणाणि पुणो लद्धिसहावेण वुच्चंति" २६०

जब षट्गुणहानि वृद्धि के कथनसे ही यह स्पष्ट सिद्ध है कि स्वाभाविक परिणमनमें भी क्रमवद्ध परिणमन असिद्ध है। तव वैभाविक परिमणन क्रमवद्ध हो यह वात कैसे वन सकती है क्योंकि

वह परिणमन निमित्तनियत है जैसा जीव और पुद्गल द्रव्यको निमित्त मिलता है वह उसी रूप परिणमन कर जाता है । इस-लिये अशुभ निमित्तों को हटाना और शुभ निमित्तोंको मिलाना ऐसा आचार्योंका उपदेश है । यदि सब द्रव्योंका परिणमन क्रम-नियमित ही होता तो अशुभनिमित्तोंसे वचनेका और शुभनिमित्तों को मिलानेका जो जैनागमका आदेश है वह निरर्थक ठहरेगा । क्योंकि क्रमनियमित पर्याय मे जिससमय जीवको मोक्ष होना है उससमय स्वतः जीवकी मोक्षरूप पर्याय होजायगी । उसके लिये प्रयत्न करनेकी अर्थात् वाह्याभ्यन्तर परिग्रहके त्याग करने तथा मुनिव्रत धारण करनेकी शीतउष्णादि परिषह सहनेकी और ध्यानाध्ययन करनेकी जरूरत ही क्या है ! जब क्रमनियतपर्याय का समय आवेगा तब विना प्रयत्नके ही निर्वाण पदकी प्राप्ति तो हो ही जायगी अतः आचार्योंने जो मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश दिया है वह सब निरर्थक ही समझना चाहिये । उन्होंने व्यर्थ में ही अपना समय ग्रंथ रचना करने में खोया और अन्य जीवोंको भी व्यर्थ में मोक्ष प्राप्ति के लिये उद्यम करनेमें लगाया । क्योंकि अक्रमवद्धपर्याय तो होगी ही नहीं उनका तो नियत वन्धा हुआ समय है जो क्रमनियतिमें जिस जीवको नर्क जाना है वह चाहे जितना तपश्चरण करे अथवा परिषहोंको सहन करे उससे उसको स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी उसको तो नर्क ही जाना पड़ेगा । तथा जिस जीवको स्वर्ग जानेका क्रमनियत है वह चाहे जितना पापाचार करे उसको तो स्वर्ग ही मिलेगा । क्यों पंडितजी यही वात है न ? क्योंकि आपके सिद्धान्त मे क्रमवद्धमें तो अक्रमबद्ध कुछ होही नही सकता इसलिये खाओ पीयो मौज उडाओ व्यर्थमें कष्ट सहन करना तो मूर्खता ही है अतः कानजीस्वमीका अवतार भला ही हुआ जो अनादिकी यह

भूल थी कि पुरुषार्थ करनेसे सुख मिलता है अब यह भूल दूर होगई। लोग समझ गये कि जिस समय जो होना है उस समय वही होगा उसको हटानेके लिये प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं। इसविषयमें आपका यह कहना है कि—

प्रत्येक उपादान अपनी अपनी स्वतंत्र योग्यता सम्पन्न होता है और उसके अनुसार प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समयका उपादान पृथक् पृथक् है इसलिये उनसे क्रमशः जो जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे अपने-अपने काल मे नियत हैं वे अपने अपने समय में ही होती है। आगे पीछे नही होती"

इसके उदाहरण स्वरूप प्रमाण आप यह देते हैं कि—

"जब भगवान ऋषभदेव इस धरणी तल पर विराजमान थे, तभी उन्होने मरीचि के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी कर दी थी कि वह आगामी तीर्थंकर होगा और वह हुआ भी। दूसरा उदाहरण द्वारका-दाह का वे उपस्थित करते हैं। यह भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद की घटना उन्होंने केवलज्ञान से जान कर एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि आजसे बारह वर्षके अन्तमें मदिरा और द्वीपायण मुनिके योगसे द्वारका दाह होगा और वह कार्य भी उनकी भविष्य वाणी अनुसार हुआ। इस भविष्यवाणीको विफल करनेकेलिये यादवो ने कोई प्रयत्न उठा नही रखा था। परन्तु उनकी भविष्यवाणी सफल होकर ही रही। तीसरा उदाहरण वे श्रीकृष्ण की मृत्युका उपस्थित करते हैं। श्री कृष्णकी मृत्यु भगवान नेमिनाथ ने जरदकुमारके बाणके योगसे बतलाई थी। जरदकुमारने उसे बहुत टालना चाहा। इस कारण वह अपना घरबार छोडकर जंगल जंगल भटकता फिरा परन्तु अंतमें जो होना था वह होकर

ही रहा। कहीं भगवान की भविष्य वाणी विफल हो सकती है!

चौथा उदाहरण वे अंतिम श्रुतकेवली भद्रवाहु स्वामी का उपस्थित करते हैं। जब भद्रबाहु बालक थे तब वे अपने दूसरे साथियों के साथ जिस समय गोलियोंसे खेल रहे थे उसी समय विशिष्ट निमित्तज्ञानी एक आचार्य वहां से निकले। उन्होंने देखा कि बालक भद्रवाहुने अपने बुद्धिकौशलसे एकके ऊपर एक इसी प्रकार चौदह गोलिया चढाकर अपने साथी सब बालकों को आश्चर्य चकित कर दिया है। यह देखकर आचार्य ने अपने निमित्तज्ञानसे जानकर यह भविष्यवाणी की कि यह बालक ग्यारह अंग और चौदह पूर्वका पाठी अंतिम श्रुत केवली होगा और उनकी वह भविष्यवाणी सफल हुई। पुराणोंमें चक्रवर्ती भरत और चन्द्रगुप्त सम्राट के स्वप्न अंकित हैं वहा उनका फल लिखा हुआ है। तीर्थंकरके गर्भमें आनेके पूर्व उनकी माताको जो सोलह स्वप्न दिखलाइ पड़ते हैं वे भी गर्भमें आने वाले बालकके भविष्यके सूचक माने गये हैं। इसके सिवाय पुराणोंमें अगणित प्राणीयोंके भविष्य वृतान्त संकलित हैं जिसमें बतलाया गया है कि कौन कब क्या पर्याय धारण कर कहां कहां उत्पन्न होगा यह सब क्या है? उनका कहना है कि यदि प्रत्येक व्यक्तिका जीवन क्रम सुनिश्चित नहीं हो तो निमित्त शास्त्र ज्योतिषशास्त्र या अन्य विशद ज्ञानके आधारसे यह सब कैसे जाना जासकता है? अतः भविष्यसम्बन्धी घटनाओंके होनेके पहिले ही वे जानली जाती हैं ऐसा शास्त्रोंमें उल्लेख है। और वर्तमानमें भी ऐसे वैज्ञानिक उपकरण या अन्य साधन उपलब्ध हैं जिनके आधारसे अंशतः या पूरीतरहसे भविष्यसम्बन्धी कुछ घटनाओंका ज्ञान किया जासकता है। और किया जाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस द्रव्य

का परिणमन जिसरूपमें जिन हेतुओंसे जब होना निश्चित है वह उसी क्रमसे होता है उसमें अन्य कोई परिवर्तन नहीं करसकता।"

इस कथन की पुष्टि करते हुये प्रवचनसारकी गाथा ६६ की टीका अमृत चंद्रसूरीकी उद्धृत की है उसका भावार्थ आपने जो दिया है वह निम्न प्रकार है।

"जिसप्रकार विवक्षित लम्बाई को लिये हुए लटकती हुई मोतीकी मालामें अपने स्थानमें चमकते हुये सभी मोतियोंमें आगे आगेके स्थानोमें आगे आगेके मोतियोंके प्रगट होनेसे अतएव पूर्व पूर्व मोतियोंके अस्तंगत होते जानेसे तथा सभी मोतियोमें अनुस्यूतिके सूचक एक डोरेके अवस्थित होनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। उसीप्रकार स्वीकृत नित्यवृत्तिसे नर्वतमान द्रव्यमें अपने अपने कालमें प्रकाशमान होने वाली सभी पर्यायोमें आगे आगेके कालोंमें आगे आगेकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेसे अतएव पूर्व पूर्व पर्यायोंका व्यय होनेसे तथा इन सभी पर्यायोंमें अनुस्यूतिका लिये हुये एक प्रकारके अवस्थित होनेसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।" पृष्ठ १४६, १५०, १६३ जैन तत्त्व मीमांसा।

आपके इस उपरोक्त कथनसे सब जीवोंकी या अन्य पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय ही होती है ऐसा सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सर्व द्रव्य परिणामन शील है इसलिये उनमें परिणमन तो प्रतिसमय होता ही रहता है वह परिणमन चाहे क्रमबद्ध हो चाहे वह परिणमन अक्रमबद्ध हो उस परिणमनका प्रतिबिम्ब भगवानके ज्ञानमें या दिव्यज्ञानीयोंके ज्ञानमें पडता ही है इस लिये वे यह कहदेते है कि अमु[illegible] अमुक समयमें ऐसा परिणमन होगा यह उनके ज्ञानकी स्वच्छता है इसकारण सर्वपदार्थोंका त्रिकालिकपरिणामन उनके ज्ञानमें झलक जाता है इस

हिसावसे वे भविष्यवाणी कर देते है कि अमुकपदार्थका अमुक समय ऐसा परिणमन होनेवाला है इससे यह वात सिद्ध नहीं होती कि वह परिणमन क्रमवद्ध ही हुआ या अक्रमवद्ध ही हुआ क्योंकि ऐसा खुलासा कहीं पर नही मिलता कि सर्वपदार्थोंका परिणमन क्रमवद्ध ही होता हैं अक्रमवद्ध नही होता। जैसा आप अनुमान लगाते हैं कि भगवानके ज्ञानमें भविष्यकी वात झलक जाती है इसलिये वे सव परिणमन नियतरूपसे सव द्रव्यों में विद्यमान हैं यदि सव द्रव्योंमें उनका परिणमन नियत-रूपसे विद्यमान नहीं होता तो वे भविष्यवाणीमें ऐसा नहीं कह सकते कि अमुक पदार्थका अमुक समयमें अमुक रूपसे परिणमन होनेवाला है ऐसा अनुमान लगाना सिद्धान्त शास्त्रीयोंके लिये हास्योत्पादक है ; क्योंकि सिद्धान्तकी वातको सिद्धान्तशास्त्री विपरीत प्रतिपादन करे यह विद्वानोंके समक्ष हास्योत्पादक ही है ज्ञानका स्वभाव दर्पणवत् है सो ही अमृतचन्द्रसूरीने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थके प्रथम मंगलाचरणमें कहा है—

"तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकलाः प्रतिफलंति पदार्थमालिका यत्र"

अर्थात् वह परंज्योति ज्ञायक-भावस्वरूप चैतन्यमय जयवंत होऊ जिसमें विश्वके सम्पूर्णअनन्तानन्त पदार्थ अपनी अपनी सम्पूर्ण अनन्तानन्त पर्यायोंके साथ युगपत दर्पणकी तरह प्रति-बिम्बित होते रहते हैं। सारांश यह है कि जिस प्रकार दर्पणमें पदार्थ झलकते रहते है उसी प्रकार केवल ज्ञानमें भी पदार्थ झलका करते हैं यह उस ज्ञानका स्वभाव है। जिस प्रकार दर्पणके समक्ष सम्पूर्ण पदार्थ दर्पणमें यथायोग क्रमवद्ध या अक्रमवद्ध

जैसे होते हैं तैसे झलक जाते है पदार्थोंको झलकाना उनका स्वभाव है उस स्वभावमें यह वात नही है कि क्रमवद्ध पदार्थोंको ही प्रतिविम्वित करे। अक्रमवद्ध पदार्थोको अपनेमें प्रतिविम्बित न करे। उनमें तो सभी तरह के पदार्थ जिस रूपमें क्रमवद्ध या अक्रम वद्ध तिष्ठे हों उसी रूपमें झलक जाते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थोंकी अनन्तानन्त क्रमवद्ध या अक्रम वद्ध पर्यायें केवलज्ञानमें झलक जाती हैं ऐसा तो नही है. कि केवलज्ञानमें पदार्थोंकी अक्रमवद्ध पर्यायें नही झलकती क्रमवद्ध पर्यायें ही झलकती हैं। उनमें तो सव ही तरहकी सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालिक पर्यायें एक साथ युगपत झलकती रहती हैं इस कारण केवली भगवान भविष्यवाणी कर देते हैं कि अमुक पदार्थका अमुक समयमे इस रूपमें परिणमन होने वाला है इसपर यह मान लेना कि वह परिणमन क्रमवद्ध ही हुआ है अक्रमवद्ध नहीं हुआ है यह मान्यता सर्वथा आगम विरुद्ध है क्योंकि यदि सर्व पदार्थोंका परिणमन क्रमवद्ध ही होता है तो अविपाक निर्जराका एव कर्मोंका उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमणादिकका कथन मिथ्या ठहरता है। केवली भगवान कहते हैं कि जो कालपायकर क्रमवद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे तो संसार ही वढता है आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता। किन्तु जो तपके द्वारा अविपाक निर्जरा करता है अर्थात् अक्रमवद्ध निर्जरा करता है वही जीव शिवपदको पाता हैं इस विषयमें पंडित दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि —

निज काल पाय विधि झरना—तासों निज काज न सरना
तपकरि जो कर्म खिपावे, सो ही शिवसुख दरसावे ॥

क्या यह कथन मिथ्या है ? यदि नहीं तो फिर क्रमवद्ध की वात सत्य कैसी ? इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि भगवान ने अपने ज्ञानमें पदार्थोंका परिणमन क्रमवद्ध एवं अक्रमवद्ध दोनूं रूपमें देखा है। अर्थात् सिद्ध जीवोंका परिणमन पर निरपेक्ष होनेसे कथंचित् क्रमवद्ध भी है। किन्तु संसारी जीवों का परिणमन पर सापेक्ष होनेसे अक्रमवद्ध ही होता है इसी कारण भगवानने तपादिकके द्वारा कर्मोंको खिपा कर सदा सुखी रहनेका जीवोंको उपदेश दिया है। यदि संसारी जीवोंकी भी क्रमवद्ध पर्याय मान ली जाय तो फिर उपरोक्त भगवानकी वाणी मिथ्या ही सिद्ध होगी और कर्मोंकी उदीर्णा, कर्मोंका संक्रमण उत्कर्षण अपकर्षण आदि भी मिथ्या ही सिद्ध होगा एक निकाचित भेद ही सही माना जायगा। वह जिस रूपमें वन्धा है वह उसी रूपमें उदयमें आकर फल देता है। उसमें कमी वेशी नहीं होती। किन्तु इसके सिवाय दूसरी तरह से वन्ध किये हुये कर्मोंकी अविपाक निर्जरा भी की जा सकती है और उसमें उत्कर्षण और अपकर्षण भी हो सकते है। जैसे श्रेणिक महाराजने सातवे नर्ककी आयुका वन्ध करके क्षायिक सम्यक्त्वके प्रभावसे पहिले नर्ककी जघन्य आयु चोरासी हजार वर्षकी कर डाली।

इसी प्रकार खदिरसार भील ने कागले के मांसका त्याग कर प्रतिज्ञा पर दृढ रहा और आखिर संन्यास पूर्वक मरण कर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ पहिलेके कियेहुये सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंका शुभरूप में संक्रमण करदिया। जो अशुभ कर्म नर्कमे दुखरूप उदयमें आते सो वे सव अशुभ कर्म स्वर्गमें सातारूप उदयमें आने लगे। इत्यादिक एक नहीं अनेक आगममें उदाहरण मिलते हैं उनको मन कल्पित मान्यता से मिथ्या (उपचरित) ठहराना सरासर अन्याय है।

क्रम नियमित पर्यायकी पुष्टि करनेमें आपने शास्त्रोंको मिथ्या सिद्ध करनेकी पूरी कोशिस की है जिसका कुछ अंश यहां उद्धरण कर पाठकों के समक्ष रखते है जिससे सिद्धान्त-शास्त्रीजी के अभिप्राय का अनायास पता चल जावेगा एक असत्य बात को सत्य सिद्ध करनेमे एक सौ असत्य बात कहनी पडती हैं तो भी वह सत्य नहीं हो सकती। आपका कहना है कि स्कूलमें पढनेवाले छात्रों को सब क्लासोंमें समानरूपसे सब सामग्री मिलती है गुरु भी सब को एक समान मनोयोग देकर पढाता है फिर भी पढनेवाले छात्र समानरूपसे पास नही होते इसमें ज्ञानावरणी कर्मका क्षयोपशम कारण नही है, उसमें कारण है उपादानकी योग्यता।

देखो जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ १५५

"जिस बाह्य साधन सामग्रीको लोकमें कार्योत्पादक कहा जाता है वह सबको सुलभ है और वे पढनेमें परिश्रम भी करते है। फिर वे एक समान क्यों नहीं पढते। यह कहना कि सबका ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम एकसा नहीं होता इसलिये सब एक समान पढनेमें समर्थ नहीं होते, ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उसमें भी तो वही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान बाह्य सामग्री सुलभ है तब सबका एक समान क्षयोपशम क्यों नहीं होता? जो लोग बाह्य सामग्रीको कार्योत्पादक मानते हैं। उनको अन्तमें इस प्रश्नका ठीक उत्तर प्राप्त करनेकेलिये योग्यता पर ही आना पडता है। तब यही मानना पडता है कि जब योग्यताका पुरुषार्थ द्वारा कार्यरूप परिणत होनेका स्वकाल आता है तब उसमें निमित्त होने वाली बाह्य साधन सामग्री भी मिल जाती है।"

इस कथनसे पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री छात्रोंके पढ़नेमें पास होनेमें पास न होनेमें एक क्लासमें पढ़नेवाले छात्र समान-रूपसे न पढ़नेमें ज्ञानावरणाकर्मका क्षयोपशम नहीं मानते। किन्तु वे उनकी योग्यतापर निर्भर करते हैं। उनका यह भी कहना है कि "मोहनीयकर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्मके क्षयसे केवलज्ञान होता है यह कथन उपचरित है वास्तविक यह बात नहीं है। अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकारने दसवां अध्यायमें जो यह बतलाया है कि " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् " यह उपचरित कथन है।

"स्पष्ट है कि यहां पर जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होनेका जो मुख्य हेतु उपादान कारण है उसे तो गौण कर दिया गया है और जो ज्ञानकी मतिज्ञान आदि पर्यायोंका उपचरित हेतु था उसके अभावको हेतु बना कर उस की मुख्यतासे यह कथन किया गया है यहां दिखलाना तो यह है कि जब केवलज्ञान अपने उपादानके लक्ष्यसे प्रगट होता है तब ज्ञानावरणादि कर्मरूप उपचरित हेतुका सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु इसे (स्वभावको) हेतु बना कर यों कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट होता है यह व्याख्यानकी शैली है जिसके शास्त्रोंमें पद पद पर दर्शन होते है। परन्तु यथार्थ बातको समझे विना इसे ही कोई यथार्थ मानने लगे तो उसे क्या कहा जाय ?"

जैनतत्त्वमीमांसा पृ० २

अर्थात् आपकी मान्यतामें " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् " यह यथार्थ बात नहीं है यह तो उपचरित है जैसा कानजी स्वामी मानते हैं उनका वैसा ही आपका समर्थन है। जैसे योग्यता का वे ढींढोरा पीटते हैं वैसा ही आप योग्यता का ढींढोरा पीटते हैं। कानजी कहते है कि—"पेट्रो

समाप्त होगया इसलिये मोटर रुक गई यह बात सच नहीं है। किन्तु वह अपनी योग्यतासे रुकी है।

"सूर्यका उदय हुआ इसलिये धूप होगई यह बात मिथ्या है"

वस्तुविज्ञान पृष्ठ ४४

"पति पत्नी ब्रह्मचर्य पालन करते हैं इसलिये पुत्र होनेका निमित्त नहीं मिला यह मान्यता मिथ्या है क्यों कि पुत्र अपनी योग्यतासे ही होगा।

वस्तु वि० पृ० ४१

"गुरुके निमित्तसे श्रद्धा—सम्यक्त्व नहीं किन्तु स्वयं अपनी योग्यतासे होती है"

"शास्त्रके निमित्तसे ज्ञान नहीं होता है किन्तु वह अपनी योग्यतासे होता है लकडीको मेरा हाथ उठाता है तब वह ऊपर उठती है यह ठीक नहीं, लकडी स्वयं अपनी योग्यतासे ऊपर उठती है।

वस्तुवि० पृष्ठ ३६

क्या इसे श्रुतकेवलीका वचन कहें या मतवालेकी बहक ? पुरुषके संयोग बिना ही पुत्र अपनी योग्यतासे स्वयं स्त्रीके टपक जायगा ? अथवा लकडीको उठाये बिना स्वयं अपने आप अपनी योग्यतासे ऊपरको उठ जायगी ? अथवा पेट्रोलके बिना भी अपनी योग्यता से ड्राइवरके चलाये बिना भी मोटर चलने लग जायगी अथवा सूर्यके बिना भी अपनी योग्यतासे स्वयं धूप होजायगी ? अथवा अनादि मिथ्यादृष्टिजीवके अपनी योग्यतासे बिना गुरु उपदेशके सम्यक्त्वकी प्राप्ति स्वयमेव होजायगी ? कदापि नहीं

कानजीस्वामीको तो जैनसिद्धान्तका रंचमात्र भी बोध नहीं है इसकारण वे अपनी समझके अनुसार सिद्धान्तके विषयमें अंड-बंड भी लिख सकते हैं परन्तु एक जैनसिद्धान्तके ज्ञाता सिद्धान्त-शास्त्री विद्वान यदि 'जैनतत्त्व मीमांसा' करते समय यह लिखे कि भगवान महावीरस्वामीकी दिव्यध्वनि ६६ दिन तक अपनी योग्यतासे नहीं खिरी अथवा भगवानमें लोकान्त तक ही जानेकी योग्यता थी इस कारण भगवान लोकके अन्ततक ही जाते है इसमें धर्मास्तिकायके अभावका कारण नहीं है। जो शास्त्रोंमें लिखा है कि "धर्मास्तिकायाभावात्" अथवा श्री जयधवला में वीरसेन भगवानने जो यह लिखा है कि—

"दिव्वज्झुणीए किमट्ठ तत्थापउत्तो गणिदाभावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिदो किण्ण ढोइदो ण कालल्द्धीए विणा असहेज्जंस्सदविदस्स तड्ढोयणसत्तीएअभावादो" सो सब उपचरित ही हैं। उपचरितका आप जो लक्षण करते है वह ऊपर उद्धृत किया जा चुका है तो भी उनके दिये हुये उदाहरण यहा पर और भी उद्धृत कर देते हैं जिससे मालुम होजाय कि उपरोक्त कथनको आप सही नहीं मानरहे हैं।

"एक द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय द्वारा दूसरे द्रव्यका कर्ता है और दूसरे द्रव्यका वह पर्याय उसका कर्म है" अर्थात् कुम्भकार मिट्टीके घटका कर्ता है और मिट्टीको घटरूप पर्याय कुंभकारका कर्म है यह दोनूं ही वात असत्य है क्योंकि मिट्टीसे घट बनता है उसमें कुंभकारका कुछ भी अंश नहीं मिलता इसलिये घटका कर्ता मिट्टी है कुंभकार नहीं। तथा घटरूप पर्याय मिट्टी की है इसलिय मिट्टी का वह घटरूप कर्म है।

इसको कुंभकारका कहना यही उपचरित है मिथ्या है इसी प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण जीवका उपादान है। मोहादिकक र्मोंके क्षयका कारण नहीं जो उसमें मोहादिक कर्मोंके क्षयका कारण कहा गया है वह उपचरित है अथवा धर्मास्तिकायके अभावसे भगवान लोकाकाशके आगे गमन नहीं करते यह भी कथन उपचरित ही है क्योंकि धर्मास्तिकाय तो पर है परके अभावमें स्वका गमन नहीं रुक सकता स्वका गमन अपनी योग्यतासे ही रुकता है अतः भगवान लोकाकाशके आगे गमन नहीं करते इसमें कारण भगवानका योग्यता है। अर्थात् लोकाकाशके आगे जानेकी उनमें योग्यताही नहीं है। इसीप्रकार भगवान महावीरस्वामीका दिव्यध्वनि ६६ दिनतक न खिरी उसमें गणधरका अभाव कारण नहीं है किन्तु इतने दिनतक उनमें दिव्यध्वनि करनेकी योग्यता ही नहीं थी इसी कारण ६६ दिन उनकी दिव्यध्वनि नही खिरी क्योंकि द्रव्यमें समय २ की योग्यता भिन्न २ है इसलिये समय समय का कार्य भिन्न भिन्न होता है। ऐसा पंडितजीका कहना है।

"इसप्रकार इतने विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक उपादान अपनी अपनी स्वतंत्र योग्यता संपन्न होता है और उसके अनुसार प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समयका उपादान पृथक् पृथक् है इसलिये उनसे क्रमशः जो जो पर्याय उत्पन्न होती है वे अपने अपने कालनियत हे। वे अपने अपने समयमें ही होती हैं। आगे पीछे नही होती" जैनतत्त्व मीमांसा पृष्ठ १६९

इसके कहनेका साराश यह है कि भगवान महावीरस्वामीके उपादानमें ६६ दिन तक दिव्यध्वनि खिरनेकी योग्यता नहीं थी इसलिये उनको ६६ दिन गणधरका योग न मिला। अथवा—

आपका यह भी कहना है कि द्रव्यमें पर्यायें नियत है वह क्रमशः जिसकालमें उदय में आनेवाली हैं उसीकालमें वह उदयमें आती है आगे पीछे नही इसलिये वह क्रमबद्ध है इसके सम्बन्धमें प्रवचनसारकी ९९ वीं गाथा की टीकाका प्रमाण भी दिया है। कि—

"जिसप्रकार विवक्षित लम्बाईको लिये हुये लटकती हुई मोतीकी मालामें अपने अपने स्थानमें चमकते हुये सब मोतीयोंमें आगे आगेके स्थानोंमें आगे आगेके मोतियोंके प्रगट होनेसे अतएव पूर्वपूर्वके मोतियोंके अस्तंगत होते जानेसे तथा सभी मोतियोंमें अनुस्यूतिके सूचक एक डोरेके अवस्थित होनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य-प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। उसी प्रकार स्वीकृत नित्यवृत्तिसे निवर्तमान द्रव्यमें अपने अपने कालमें प्रकाशमान होनेवाली सभी पर्यायोंमें आगे आगेके कालोंमें आगे आगेकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेसे अतएव पूर्वपूर्वपर्यायोंका व्यय होनेसे तथा इन सभी पर्यायोंमें अनुस्यूतिको लिये हुये एक प्रवाहके अवस्थित होनेसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।"

इसका स्पष्टीकरण करते हुये आप और लिखते हैं कहते हैं कि—

"इसको यदि और अधिक स्पष्ट रूपसे देखा जाय तो ज्ञात होता है कि भूतकालमें पदार्थमें जो जो पर्यायें

हुई थी वे सब द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित हैं। और भविष्यत् कालमें जो जो पर्यायें होंगी वे भी द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित है। अत एव जिस पर्यायके उत्पादका जो समय होता है उसी समयमें वह पर्याय उत्पन्न होती है। और जिस पर्यायके व्ययका जो समय होता है उससमय वह विलीन होजाती है। एसी एक भी पर्याय नहीं है जो द्रव्यरूपसे वस्तुमें न हो और उत्पन्न होजाय। और ऐसी भी कोई पर्याय नहीं है जिसका व्यय होने पर द्रव्यरूपसे वस्तुमे उसका अस्तित्व ही न हो"

पृष्ठ १६४ जैन तत्त्वमीमांसा

इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार मोतियोंकी मालामे सव मोती अपने अपने स्थानमे चमकते रहते है और उनकी गणना करनेसे पूर्व पूर्वके मोतीयोंका व्यय होता जाता है। एवं आगे आगे के मोतियोंका उत्पादन होता जाता है और वह उत्पाद व्यय मालारूपसे वस्तुमे नियत रूपसे मौजूद है और उनका क्रमवद्ध ही उत्पाद व्यय होता है उसीप्रकार सर्ववस्तुमें मोतियोंकी तरह सर्व पर्यायें क्रमवद्ध चमकती हुई अवस्थित हैं। उनका अपने अपने स्वकालमे ही उत्पाद व्यय होता है। इसलिये उनका समय नियत है अर्थात् वस्तुमे भूत भविष्यत और वर्तमानकालकी सव पर्यायें मालामे मोतियोंकी तरह अवस्थित हैं वह सव क्रमवद्ध है। ऐसा नहीं है कि—भूत भविष्यत् और वर्तमानकालकी सव पर्यायें द्रव्य में अविद्यमान हों किन्तु ऐसा मानना सर्वथा जैनागमसे प्रतिकूल है। आप जैसा आशय प्रवचनसारका निकालते है वेसा आशय न तो कुन्दकुन्दस्वामीका

ही है और न टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि भी ही है। खेंचातानी करके आप उनके आशयको पलटते हैं। यह आपकी सम्यग्ज्ञानकी बलिहारी है उनका आशय तो केवल द्रव्यमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपणा दिखलानेका है, न कि मालामें मोतियोंकी तरह वस्तुमें भूत भविष्यत और वर्तमान पर्यायोंके दिखलानेका है? यदि थोडी देरकेलिये हम आपके कहनेके अनुसार यह मानलें कि पदार्थोंमें त्रैकालिक सर्व पर्यायें विद्यमान रहती हैं तो फिर सिद्धात्मामें और संसारी आत्मामें क्या अंतर रह जायगा जिससे हम उनमें भेद कर सकेंगे? जब सिद्ध अवस्थामें भी भूत कालीन सर्व अशुद्ध पर्याय विद्यमान है तथा संसार अवस्थामें भविष्यकालीन सर्व शुद्ध सिद्ध पर्यायें विद्यमान हैं तब तो दोनूं अवस्थामें आत्माकी अवस्था समान ही होगा। फिर तो सिद्धपद प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना व्यर्थ ही ठहरेगा। इसलिये वस्तुमें भूत भविष्यत् वर्तमान पर्यायें अवस्थित मान कर क्रमबद्ध पर्याय सिद्ध करना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

देखो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १२६ गाथा २४३

शंका—द्रव्य विषै पर्याय विद्यमान उपजे हैं कि अविद्यमान उपजे हैं?

उत्तर—

"जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति
ता उप्पत्ती विहला पडपिहिदे देवदत्तिव्व ॥२४३॥

स्व० पं० जयचन्दजी की हिन्दी टीका—जे द्रव्यविषै पर्याय हैं ते भी विद्यमान हैं अर तिरोहित कहिये ढके हैं ऐसा मानिये तो उत्पत्ति कहना विफल है। जैसे देवदत्त कपडासूं ढक्या था ताको उघाड्या तब कहै कि यह उपज्या सो ऐसा उपजना कहना तो परमार्थ नाहीं विफल है। तैसे द्रव्य पर्याय ढकीको उघडी

को उपजतो कहना परमार्थ नाही ताते अविद्यमान पर्यायकी ही उत्पत्ति कहिये ।

"सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती ।
कालाईलद्धीए अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि २४४

हिन्दी टीका—अनादिनिधन द्रव्यविषे काल आदि लब्धी करि सर्व पर्यानिकी अविद्यमानकी ही उत्पत्ति है। भावार्थ—अनादिनिधन द्रव्यविषे काल आदि लब्धि करि पर्याय अविद्यमान कहिये अणछती उपजे हैं ऐसा नाहीं कि सर्व पर्याय एक ही समय द्रव्यविषे विद्यमान है ते ढकते जाय हैं समय समय क्रमते नवे नवे ही उपजे हैं। द्रव्य त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायनिका समुदाय है काल भेद करि क्रमते पर्याय होय हैं ।"

इस कथनसे यह स्पष्ट सिद्ध होगया कि द्रव्यविषे त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायें विद्यमान नहीं हैं। अविद्यमान ही समय समय प्रति नवीन ही उपजे है और विनसे हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो पदार्थ विषे उत्पाद व्यय की सिद्धि ही नहीं होती। उत्पाद व्यय का अर्थ ही यह होता है कि वर्तमान पर्यायका नाश उत्तर पर्याय की नवीन उत्पत्ति जैसे घट पर्यायका व्यय और कपाल पर्याय की उत्पत्ति। घट और कपाल ये दोनूं ही अवस्था मिट्टीकी है। तो भी कपाल पर्यायम घट पर्याय विद्यमान नहीं हैं। तथा आगामी कपालपर्यायका नाश होकर उसकी दूसरी जो पर्याय होगी वह भी कपाल (खपरा) पर्याय में या उस मिट्टीमें विद्यमान नहीं है। ऐसे ही आत्मा में मनुष्य पर्याय मौजूद रहते उस आत्मामें आगे पीछेकी पर्यायें मौजूद (विद्यमान) नहीं रहतीं किन्तु काललब्धि आदिका जैसा निमित्त कारण मिल जाता है। उसरूप उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाती हैं। यह बात ऊपर में दिये

नये प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध होजाती है जब द्रव्यमें नियत-रूपसे पर्यायें मौजूद नहीं हैं और उसमें काललब्धि आदिके निमित्तानुसार नवीन नवीन ही उत्पन्न होती रहती हैं तब काललब्धि आदि निमित्तोंके अनुसार उत्पन्न होने वाली नवीन नवीन पर्यायोंको नियत रूपमें क्रमबद्ध मानना सर्वथा मिथ्या है। इस विषयमें आपने जो आप्तमीमांसा का तथा अष्ट-सहस्रीका प्रमाण दिया है वह आपकी मान्यताका पोषक नहीं है उससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि मालामें मोतियों की तरह भूत भविष्यत और वर्तमानकी सर्व पर्याय द्रव्यमें अवस्थित रहती हैं। उनसे तो यही बात ध्वनित होती है कि यदि पर्याय असत् है तो द्रव्य भी असत् है। क्योंकि पर्याय द्रव्यकी ही है द्रव्यको छोडकर वह कोई अलग पदार्थ नहीं है। जब पदार्थ नित्य है तब उसका परिणमन भी नित्य है। यदि ऐसा न माना जायगा तो आकाशके कुसुमवत् असत् पर्यायकी उत्पत्ति भी नहीं होगी। इसहालतमें कोई कार्य भी नहीं बनेगा। इसलिये जिसप्रकार पदार्थ नित्य है उसीप्रकार उसका परिणमन भी नित्य है। अर्थात् पदार्थ कोई भी अपरिणामी नहीं है। पदार्थ-का परिणमन है वही तो पर्याय है अतः परिणमन कहो या पर्याय कहो एक ही बात है जो लोग द्रव्यको अपरिणामी मानते हैं उनका यहां निषेध किया गया है न कि क्रमबद्ध पर्यायकी सिद्धिमें समंतभद्रस्वामीने तथा विद्यानन्दीस्वामीने समर्थन किया है? कदापि नहीं, देखो उनके वाक्य।

"यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियमो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि॥

आप्त मीमांसा

"स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद् द्रव्यस्य नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि—विवादापन्नं मण्यादो मलादिपर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम् सत्त्वान्यथानुपपत्तेः"

इनमें ऐसा कौनसा शब्द है जिसके आधार पर हम यह मान लें कि द्रव्यमें मालामें मोतियोंकी तरह पर्यायें अवस्थित हैं। यहां तो उत्पाद व्यय की सिद्धि में पर्याय को द्रव्यसे सर्वथा भिन्न माननेवालोंका खंडन है क्योंकि सर्व वस्तु अन्वय रूपकरि द्रव्य है सो ही विशेष करि पर्याय हैं इस लिये विशेषकरि द्रव्य भी निरंतर उपजे विनसे है। अर्थात् अन्वयरूप पर्यायनि विषे सामान्य भावको द्रव्य कहिये तथा विशेष भावको पर्याय कहिये। अतः विशेष रूपकरि द्रव्य भी उत्पाद व्ययरूप होय है क्यों कि पर्याय द्रव्यसे जुदी नहीं होती इसलिये अभेद विवक्षासे द्रव्य ही उपजे विनसे है, भेद विवक्षाते जुदे भी कह सकते हैं। पर ऐसे जुदे नहीं हैं जैसे मालाके अंदर मोती जुदे जुदे अवस्थित हैं।

"अण्णइरूवं दव्वं विसेसरूवो हवेइ पज्जावो।
दव्वं पि विसेसेण हि उप्पज्जदि णस्सदे सददं २४०

द्रव्यमें उत्पादव्ययका स्वरूप

"पडिसमयं परिणामो पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो।
वत्थुविणासो पढमो उववादो भण्णदे विदिओ २३०

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात् जो वस्तुका परिणाम समय समय प्रति पहले तो विनसे है अरु अन्य उपजे है सो पहिला परिणामरूप वस्तुका तो नाश है—व्यय है। अर अन्य दूसरा परिणाम उपजा ताकू.

उत्पाद कहिये। ऐसे व्यय उत्पाद जानना।

इस कथनसे तो नियतिपर्यायका खंडन ही होता है। समर्थन नहीं।

आप जो यह कहते हैं कि लडकों के पास होने न होने में ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशम का कारण नहीं है। तथा आत्मा- में केवलज्ञान उत्पत्तिमें मोहादि कर्मोंके क्षयका कारण नहीं है। उनका कारण उनकी योग्यता ही है। किन्तु यह बात जैनागमसे सर्वथा विरुद्ध है—यह कानजी के नवीन मतका पोषण है। आचार्य तो पुद्गलकी शक्तिका निरूपण करते यह कहते हैं कि—

"कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ विणासिदो जाइ जीवस्स। २११

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात पुद्गलद्रव्यकी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति देखिये है। जो जीवका केवलज्ञान स्वभाव है सो भी जिस शक्तिकरि विन- श्या जाय है। भावार्थ—अनन्तशक्ति जीवकी है तामें केवलज्ञानकी शक्ति ऐसी है कि जाकी व्यक्ति (प्रकाश) होय तब सर्व पदार्थ- निकूं एके काल जाने। ऐसी व्यक्तिको पुद्गल नष्ट करे है, ना होने दे है। सो यह अपूर्वशक्ति है।

इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि—मोहनीय, ज्ञानाव- रणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये चारों ही कर्मने जीव की अनन्तशक्तिको नष्ट भी कर रखी है इस कारण जीवमें अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान अनन्तवीर्य और अनन्तसुखका प्रादुर्भाव नहीं होता। इसीलिये आचार्य समयसारके मोक्षद्वारमें घोषित करते हैं कि—

"ज्ञानावरणीके गये जानिये जु है सुसब, दर्शनावर-

णीके गये ते सब देखिये। वेदनीकर्मके गयेते निराबाधरस मोहनीके गये शुद्धचारित्र विसेखिये। आयुकर्म गये अवगाहना अटल होय, नामकर्म गयेते अमूर्तिक देखिये। अगुरु अलघुरूप होय गोत्र कर्म गये, अन्तराय गयेते अनन्तवल लेखिये॥

अर्थात् आठोंकर्मोंने जीवके अष्ट गुण नष्टसे कर रखे थे जब वे आठों कर्म जिस जीवसे अलग होजाते है तब वह जीव अपनी शक्तियोंको प्रकाशमान कर अपने स्वभावमें स्थित हो जाते हैं।

क्या यह कथन मिथ्या है ? कभी नहीं, आपका यह कहना भी मिथ्या हैं कि—

"सद्भावरूप ही कारण होता है अभावरूपकारण नहीं होता तथा जिस समय केवल पर्याय प्रगट होती है उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभाव ही है और अभावको कार्योत्पत्तिमें कारण माना नहीं जासकता। यदि अभावको कार्योत्पत्तिमें कारण माना जाय तो खरविषाणको या आकाशकुसुमको भी कार्योत्पत्तिमें कारण मानना पडेगा।

पृष्ठ १६। २०

यदि कोई मूर्ख ऐसी बात कहै तो उसपर कोई विचार नहीं आता। किन्तु आप एक सिद्धान्त शास्त्री विद्वान कहला कर भी तथ्यशून्य बात कहें तो उसका बडा आश्चर्य होता है। क्या कार्योत्पत्तिमें पदार्थ का अभाव कारण नही पडता ? क्या पदार्थ के अभावका निमित्त कारण नहीं होनेसे भी कोई कार्यकी उत्पत्ति होती है ? कदापि नहीं। कार्योत्पत्ति मे तीन कारण

जड और आत्मा दोनों पराधीन कहलायगे। आत्मधर्म अंक ६ वर्ष १ पृष्ठ १२६

"ज्ञान इंद्रियोंकी सहायतासे नहीं जानता है यदि यह माना जाय कि ज्ञान इन्द्रियसे जानता है तो वह मिथ्याज्ञान होगा क्योंकि इस मान्यतासे निमित्तउपादान एक होजाता है, आ० धर्म पृ० ४३ अं० ३ वर्ष १

"केवलज्ञान कभी भी पूर्णतया आवृत ढका हुआ नहीं होता अर्थात् केवलज्ञानका एक भाग तो जीवको चाहे जिस अवस्थाके समय भी खुला होता है। मतिज्ञान केवलज्ञानका अंश होनेसे अंश प्रत्यक्ष है वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है। इस न्यायके अनुसार मतिज्ञानमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

आ० धा० पृष्ठ १११ अंक ७ वर्ष २

इसी प्रकार आप भी कहते हैं कि लडकोंके पढनेमें पास होने में पास नहीं होनेमें उनके ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमका कारण नहीं है। उसमें लडकोंकी योग्यता अयोग्यता का ही कारण है।

जैन तत्त्वमीमांसा पृष्ठ १५०

केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें मोहादिक कर्मोंका क्षय कारण नहीं है। क्योंकि जो ज्ञानावरणादिरूप जो कर्मपर्याय है उसके क्षयसे उसकी उत्तर अकर्मरूप पर्याय प्रगट होगी कि जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होगी। पृष्ठ १६

आपके कहनेका सारांश यह है कि नाश तो कर्मोंका हुआ

उससे जीवकी केवलज्ञान रूप पर्याय प्रगट कैसे हुई? क्योंकि एकके अभावमें दूसरा की कार्योत्पत्ति नहीं होती और निमित्त कारण भी अभावको नहीं माना जा सकता। परन्तु एकके अभावमें दूसरेकी कार्योत्पत्ति आसानीसे होसकती है। और प्रतिकूल कारणके अभाव विना कार्योत्पत्ति नही होती यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। एक के अभावमें दूसरे की कार्योत्पत्तिमें एक नहीं अनेक उदाहारण दिये जा सकते हैं। जिस प्रकार आंख का मोतिया विन्दुको हटानेसे—दूर करनेसे दीखने लग जाता है। उसी प्रकार आत्माके ज्ञान पर ज्ञानावरण कर्मका आवरण आया हुआ था वह दूर होनेसे केवलज्ञान प्रगट होगया जिसप्रकार आंखों के द्वारा देखनेकी योग्यता आत्मामें मौजूद होते हुये भी मोतियाविन्दु आडा आजानेसे आत्मा आंखोंके द्वारा कुछ भी नहीं देख सकता, योग्यता देखनेके लिये अयोग्य हो जाती है। उसीप्रकार आत्मा मे केवलज्ञानकी योग्यता शक्तिरूपसे विद्यमान रहनेपर भी ज्ञानावरणीकर्मका पटल आडा आजानेसे आत्मा अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा देख नहीं सकता। जिसप्रकार आंखोंके ऊपर आया हुआ मोतियाविन्दू का पटल आपरेशन द्वारा दूर करनेसे दीखने लग जाता है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों पर आया हुआ ज्ञानावरणी कर्मका पटल ध्यानाग्नि द्वारा नष्ट कर देनेसे आत्मा अपने प्रदेशों द्वारा देखने में समर्थ हो जाता है: यह प्रत्यक्ष आंखोंका दृष्टान्त देखनेमें आता है जो मोतियां विन्दूके अभावमे आंखोंकी ज्योति प्रगट हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पटलोंके नष्ट हो जाने पर केवल ज्योति आत्माकी प्रगट होजाती है इसलिये यह कहना कि एकके अभाव में दूसरेका कार्य सिद्ध नहीं होता यह बात आगम और युक्तिसे दोनूं प्रकारसे असिद्ध है।

मिलनेसे ही कार्यकी सिद्धि होती है। अन्यथा नहीं। यह अटल नियम है।

अनुकूल उपादान अनुकूल निमित्त और प्रतिकूल निमित्तका अभाव इन तीनकारणोंके मिलनेपर ही कार्यनिष्पत्ति होती है इनमें यदि एक भी प्रतिकूल रहै तो कार्योत्पत्ति नहीं होती। जैसे रोगी पुरुष रोगसे दुःखी होरहा है तो उस रोगीको अंतरंग उपादान कारण असाता वेदनी कर्मका तो क्षयोपशम अनुकूल हो तथा उस रोगकी दवाई भी रोगनाशक अनुकूल, तथा कुपथ्यका अभाव यह तीन कारण मिलनेसे ही वह पुरुष जो रोगग्रसित था उसका रोग दूर होसकता है यदि इन तीन कारणोंमें से एक भी कारण अर्थात् कुपथ्य सेवनका अभाव न होनेसे भी उसका रोग उपादाननिमित्त अनुकूल होनेपर भी नष्ट नहीं होसकता। अथवा संसारी जीवोंके अन्तरंग सातावेदनाका उदय तथा बाह्य इष्ट सामिग्रीका निमित्त अनुकूल होनेपर भी यदि अनिष्ट संयोगका अभाव न हो तो कोई भी संसारी जीव सुखी नहीं होसकता। इसलिये बाधककारणका अभाव होना भी कार्योत्पत्तिमें निमित्तकारण पड़ता है। अतः उसके सद्भावमें कार्योत्पत्ति नहीं होती यह अटल नियम है। इसी कारण सब ही आचार्योंने एकस्वरूपसे इसबातको घोषित किया है कि—

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्

यदि इन कर्मोंके अभाव बिना भी केवलज्ञानकी उत्पत्ति आप जैसे मानते हैं उपादानकी योग्यतासे ही होजाती है तो आचार्योंने क्या यह झूठा प्रतिपादन किया है? कभी नहीं। उपादानकी योग्यता भी बाह्यनिमित्तोंके अनुसार बनती है इसबातको हम सप्रमाण आगे स्पष्ट करके दिखलावेंगे।

आपने जो यह अभावकारणको न माननेमें खरविषाणका

और आकाश कुसुमका उदाहरण दिया है वह विषम है। क्योंकि खरके सींग होते नहीं तथा आकाशके भी फूल लगते नहीं यह वस्तुस्वभाव है इसको कोई मिटा नहीं सकता और न इसमें कुछ हेर फेर भी किया जा सकता है। किन्तु जिस कारणसे हम बन्धे हुये है उस कारणका अभाव होनेसे हम खुलेगें या नहीं? अवश्य खुलेगें इसलिये खुलनेमे बन्धका अभाव कारण हुआ या नहीं? क्या जबतक हम रस्सीसे बंधे रहेगें तब तक स्वछंद फिर सकेंगे? कदापि नहीं। यह बात असत्य है तो

"आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च"

यह भी मिथ्या ही सिद्ध होगा जो अभावरूप हेतुसे प्रगट होता है इसलिये कार्योत्पत्तिमे बाधककारण के अभावका भी निमित्त मानना अनिवार्य है। उसको आकाशके कुसुमवत् उडाया नहीं जासकता।

यह 'जैनतत्त्वमीमांसा' नहीं है किन्तु कानजी मत पोषण है। इस में केवल कानजीके मतका ही पोषण किया गया है। जैसा वे कहते हैं उसीको घुमा फिराकर आप कहते है। जो जैनागमसे सर्वथा विपरीत है। जिसप्रकार कानजी कहते है कि—

"गुरुके निमित्तसे श्रद्धा (सम्यक्त्व) नहीं होती। किन्तु वह स्वयं अपनी योग्यतासे होती है"

शास्त्रके निमित्तसे ज्ञान नहीं होता किन्तु वह अपनी योग्यतासे होता है" वस्तु विज्ञानसार पृष्ठ ३६

"यदि केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे आत्माको वज्रवृषभनाराचसंहननकी सहायताकी आवश्यकता पडनेलगे तो

जड और आत्मा दोनों पराधीन कहलायगे। आत्मधर्म अंक ६ वर्ष १ पृष्ठ १२६

"ज्ञान इंद्रियोंकी महायतासे नहीं जानता है यदि यह माना जाय कि ज्ञान इन्द्रियसे जानता है तो वह मिथ्याज्ञान होगा क्योंकि इस मान्यतासे निमित्तउपादान एक होजाता है, आ० धर्म पृ० ४३ अं० ३ वर्ष१

"केवलज्ञान कभी भी पूर्णतया आवृत ढका हुआ नहीं होता अर्थात् केवलज्ञानका एक भाग तो जीवको चाहै जिस अवस्थाके समय भी खुला होता है। मतिज्ञान केवलज्ञानका अंश होनेसे अंश प्रत्यक्ष है वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है इस न्यायके अनुसार मतिज्ञानमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

आ०धा० पृष्ट १११ अंक ७ वर्ष २

इसी प्रकार आप भी कहते है कि लडकोंके पढनेमें पास होने में पास नही होनेमें उनके ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमका कारण नहीं है। उसमे लडकोंकी योग्यता अयोग्यता का ही कारण है।

जैन तत्त्वमीमांसा पृष्ठ १५८

केवलज्ञानकी उत्पत्तिमे मोहादिक कर्मोंका क्षय कारण नहीं है। क्योंकि जो ज्ञानावरणादिरूप जो कर्मपर्याय है उसके क्षयसे उसकी उत्तर अकर्मरूप पर्याय प्रगट होगी कि जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होगी। पृष्ठ १६

आपके कहनेका सारांश यह है कि नाश तो कर्मोंका हुआ

उससे जीवकी केवलज्ञान रूप पर्याय प्रगट कैसे हुई ? क्योंकि एकके अभावमें दूसरा की कार्योत्पत्ति नहीं होती और निमित्त कारण भी अभावको नहीं माना जा सकता। परन्तु एकके अभावमें दूसरेकी कार्योत्पत्ति आसानीसे होसकती है। और प्रतिकूल कारणके अभाव विना कार्योत्पत्ति नही होती यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। एक के अभावमें दूसरे की कार्योत्पत्तिमें एक नहीं अनेक उदाहारण दिये जा सकते हैं। जिस प्रकार आंख का मोतिया विन्दुको हटानेसे—दूर करनेसे दीखने लग जाता है। उसी प्रकार आत्माके ज्ञान पर ज्ञानावरण कर्मका आवरण आया हुआ था वह दूर होनेसे केवलज्ञान प्रगट होगया जिसप्रकार आंखों के द्वारा देखनेकी योग्यता आत्मामें मौजूद होते हुये भी मोतियाविन्दु आडा आजानेसे आत्मा आंखोंके द्वारा कुछ भी नहीं देख सकता, योग्यता देखनेके लिये अयोग्य हो जाती है। उसीप्रकार आत्मा मे केवलज्ञानकी योग्यता शक्तिरूपसे विद्यमान रहनेपर भी ज्ञानावरणीकर्मका पटल आडा आजानेसे आत्मा अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा देख नहीं सकता। जिसप्रकार आखोंके ऊपर आया हुआ मोतियाविन्दू का पटल आपरेशन द्वारा दूर करनेसे दीखने लग जाता है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों पर आया हुआ ज्ञानावरणी कर्मका पटल ध्यानाग्नि द्वारा नष्ट कर देनेसे आत्मा अपने प्रदेशों द्वारा देखने में समर्थ हो जाता है। यह प्रत्यक्ष आंखोंका दृष्टान्त देखनेमें आता है जो मोतियां विन्दूके अभावमे आंखोंकी ज्योति प्रगट हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पटलोंके नष्ट हो जाने पर केवल ज्योति आत्माकी प्रगट होजाती है इसलिये यह कहना कि एकके अभाव में दूसरेका कार्य सिद्ध नहीं होता यह वात आगम और युक्तिसे दोनूं प्रकारसे असिद्ध है।

कानजीका प्रत्येक वक्तव्य जैनागमके विरुद्ध है उसका आपने जैन तत्त्व मीमांसामें कहीं पर भी खंडन नहीं किया सिवाय मंडनके। क्या ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा नही जानता यदि नही जानता है तो मतिज्ञानका विषय क्या है ?

"इन्दियजं मदिणाणं जुग्गं जाणदि पुग्गलं दव्वं।
माणसणाणं च पुणो सुयविपयं अक्खविपयं च"।
स्वामिकार्तिके० गाथा १५८

अर्थात् इन्द्रियनितें उपज्या जो मतिज्ञान सो अपने योग्य विपय जो पुद्गल द्रव्य ताकूं जाणे है। जिस इन्द्रियका जैसा विपय है तैसे ही जाने है। वहुरि मनस्-म्बंधि ज्ञान हैं सो श्रुतविपय कहिये शास्त्रका वचन सुणे तांके अर्थकूं जांने हैं। वहुरि इन्द्रियकर जानिये ताकूं भी जाणे है। तथा इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति अनुक्रमसे होती है इस वातको स्पष्ट करते हुये आचार्य कहते है –

"पंचेंदियणाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं।
मणणाणे उवजुत्ते इन्दियणाणं ण जाएदि॥
१५९ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात् पांचों ही इन्द्रिय करि ज्ञान होय है सो तिनि में सूं एकेन्द्रिय द्वार करि ज्ञान उपयुक्त होय है। पांचू ही एककाल उपयुक्त होय नाहीं। वहुरि मनः ज्ञानकरि उप-युक्त होय है तव इन्द्रियज्ञान नांही उपजे है। भावार्थ

इन्द्रिय मन द्वारा जो ज्ञान होय है सो तिनकी प्रवृत्ति युगपत् नांहीं एक काल एक ही ज्ञानसूं उपयुक्त होय है। जब यह जीव घटकूं जानें तिसकाल पटकूं नाहीं जानै। ऐसे क्रमरूप ज्ञान है।

यदि इस मति श्रुतज्ञानको केवलज्ञानका अंश माना जाय तो केवलज्ञान तो क्षायिकज्ञान है इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष है और मति श्रुतज्ञान क्षयोपशम ज्ञान है इसलिये वह इन्द्रिय और मनके द्वारा क्षयोपशम अनुसार होता है इसलिये मतिश्रुत ज्ञानको केवलज्ञानका अंश मानना सर्वथा आगम विरुद्ध है। इस बातको स्पष्ट करते हुये स्व० पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है। देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २७४

"बहुरि आपके केवलज्ञानादिक का सद्भाव माने सो आपके तो क्षयोपशम मति श्रुतादिज्ञानका सद्भाव है क्षायिकभाव तो कर्मका क्षय भये कहिये। यह भ्रमते कर्मका क्षय भये विना ही क्षायिकभाव माने सो यह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रविषे सर्व जीवनिका केवलज्ञान-स्वभाव कह्या है सो शक्ति अपेक्षा कह्या है सर्व जीवनिविषे केवलज्ञानादिरूप होनेकी शक्ति है। वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भये ही कहिये। कोऊ ऐसा माने है—आत्माके प्रदेशविषे तो केवलज्ञान ही है। ऊपर आवरणते प्रगट न होय है सो यह भ्रम है। जो केवलज्ञान होय तो वज्रपट-लादि आडे होते भी वस्तुको जाने। कर्मके आडे आये

केसे अटके। तातें कर्मके निमित्तते केवलज्ञानका अभाव ही है। जो याका सर्वदा सद्भाव रहे तो यां को पारणामिक भाव कहते सो यह तो क्षायिकभाव है। यां ज्ञानकी अनेक अवस्था मतिज्ञानादिरूप वा केवलज्ञानादिरूप हैं। सो ए पारणामिक भाव नांहीं ताते केवलज्ञान का सर्वदा सद्भाव न मानना।"

इस कथनसे मतिश्रुतज्ञानको केवलज्ञानका अंश मानना मिथ्या है। तथा यह भी मान्यता मिथ्या है कि शास्त्रस्वाध्यायसे ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती एवं गुरुदेशना भी सम्यक्त्वोत्पत्तिमें निमित्तकारण नही है।

यदि ऐसा ही है तो शास्त्रस्वाध्याय करना तथा गुरुमुखसे उपदेश सुनना व्यर्थ ठहरेगा। जो लोग सोनगढ जा जा कर कानजीका उपदेश सुनते हैं उनको मनाई क्यों नहीं की जाती? किन्तु हाथीके दान्त खानेके और होते हैं और दिखानेके और होते है।

शास्त्र स्वाध्यायके विना वस्तु स्वरूप समझमें आता नहीं वस्तुस्वरूप समझे विना अज्ञानता दूर होती नहीं, अज्ञानता दूर हुये विना जीव मोक्षमार्ग मे लगता नहीं इसलिये शास्त्र पढना पढाना अकिंचित्कर नहीं है। सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करनेकेलिये शास्त्र पढना पढाना परम हितकर है इसी ध्येयसे गणधर भगवानने भगवानकी वाणीको चार अनुयोगोंमें विभाजित कर जीवोंके कल्याणकी भावनासे शास्त्रोंकी रचना की है। इसको अप्रयोजनीभूत कैसे मान लिया जाय। स्व० पं० टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशकमें कहते हैं कि—

"अथ मिथ्यादृष्टि जीवनिकौ मोक्षमार्गका उपदेश देय तिनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर गणधरादिक भी ऐसा ही उपाय करे है तातैं इसशास्त्रविषे (मोक्षमार्गप्रकाशकविषे) भी उन्हीका उपदेशके अनुसार उपदेश दीजिये है। तहां उपदेशका स्वरूप जाननेके अर्थ किछू व्याख्यान कीजिये है जातें उपदेशको यथावत् न पहिचाने तो अन्यथा मानि विपरीत प्रवर्तें तातैं उपदेशका स्वरूप कहिये है।

जिनमतविषे उपदेश चार अनुयोगका दिया है। सो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ए चार अनुयोग है। तहां तीर्थंकर चक्रवर्ति आदि महान् पुरुषनिके चरित्र जिसविषे निरूपण किये होंय सो प्रथमानुयोग है। वहुरि गुणस्थान मार्गणादिरूप जीवका कर्मनिका वा त्रिलोकादिका जाविषे निरूपण होय सो करणानुयोग है। वहुरि गृहस्थ मुनिके धर्मआचरण करनेका जाविषे निरूपण होय सो चरणानुयोग है। वहुरि षट्द्रव्य सप्ततत्त्वादिका वा स्वपरभेदविज्ञानादिकका जाविषे निरूपण होय सो द्रव्यानुयोग है।

इहां इतना कहनेका तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंके पठन पाठनके किये विना स्वयमेव तो योग्यता मे हिताहितका स्वर्ग नर्कादिकके सुख दुखोंका षट्द्रव्य नवपदार्थोंका मुनि श्रावकके चारित्रका

गुणस्थान मार्गणाका स्वपरभेदविज्ञानका धर्म शुक्लध्यानादि का ज्ञान होसकता नहीं इसलिये शास्त्रोंका पठन पाठन कार्यकार है अकिंचित् कर नहीं है। अतः शास्त्रोंके पठन पाठनसे ज्ञानकी वृद्धि अवश्य होती है। गुरुदेशनाके बिना कभी अपनी योग्यतासे सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती यह नियम है। क्षयोपशमलब्धि के बिना विशुद्धिलब्धि भी नहीं होती विशुद्धिलब्धिके बिना देशनालब्धि नहीं होती तथा देशनालब्धिके बिना प्रायोग्यलब्धि नहीं होती। तथा प्रायोग्यलब्धि के बिना करणलब्धि नहीं होता और करणलब्धिके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती यह नियम है। देखो मोक्षमार्गप्रकाशक

"जातें शास्त्रविषै सम्यक्त्व होनेके पहिले पंचलब्धि का होना कहा है क्षयोपशमलब्धि विशुद्धिलब्धि देशनालब्धि प्रायोग्यलब्धि करणलब्धि। तहां जिसको होते संते तत्त्वविचार होय सके ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मनिका क्षयोपशम होय। उदयकालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकनिके निषेकनिके उदयका अभाव सो क्षय अर अनागतकाल विषै उदय आने योग्य तिनिही की सत्ता रूप रहना सो उपशम ऐसी देशघाती स्पर्द्धकनिका उदय सहित कर्मनिकी अवस्था ताका नाम क्षयोपशम है। तांकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है। बहुरि मोहका मंद उदय आवनेते मंदकषायरूप भाव होय तहां तत्त्वविचार होसके सो विशुद्धिलब्धि है। बहुरि जिनदेवका उपदेश्या तत्त्वका धारण होय विचार होय सो देशनालब्धि है। जहां नर्कादिक विषै उपदेश निमित्त न होय तहां पूर्व संस्कारते [illegible] कर्मनिकी पूर्व [illegible]। घटकरि अंतः कोटाकोटीसागर [illegible] जाय [illegible] बन्ध

निका बन्ध क्रमतें मिट जाय इत्यादिक योग्य अवस्था होना सो प्रायोग्यलब्धि है। सो ए चारों लब्धि भव्य वा अभव्यके होय है इन चार लब्धि भये पीछे सम्यक्त्व होय तो होय न होय तो नहीं भी होय ऐसें लब्धिसार विषे कहा है। तातें तिस तत्त्व-विचारवालाके सम्यक्त्व होनेका नियम नाहीं। जैसे काहूंको हितकी शिक्षा दई ताको वह जानि विचार करे जो यह सीख दई सो कैसे है। पीछे विचारतां वाके ऐसे ही है ऐसी प्रतीति हो जाय अथवा अन्यथा विचार होय अथवा अन्य विचारविषे लगि तिस सीखका निर्धार न करे तो प्रतीति नाहीं भी होय। तैसे श्रीगुरु तत्त्वोपदेश दिया ताको जानि विचार करे—यह उपदेश दिया सो कैसे हैं। पीछे विचार करनेते वाके ऐसे ही है ऐसी प्रतीति होय जाय अथवा अन्यथा विचार होय वा अन्य विचार विषे लगि तिस उपदेशका निर्धार न करे, प्रतीति नाही होय ऐसा नियम है। याका उद्यम तो तत्त्वविचारका करनेमात्र ही है। बहुरि पांचवीं करणलब्धि भये सम्यक्त्व हो ही होय ऐसा नियम है। सो जाके पूर्व कही थी च्यार लब्धि ते तो भई होंय अर अंतर मुहूर्त पीछे जाके सम्यक्त्व होनो होय तिस ही जीवके करणलब्धि होय है। सो इस करणलब्धि वालेके बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होय है जो तत्त्व विचारविषे उप-योग को तद्रूप होय लगावे। ता करि समय समय परिणाम निर्मल होते जाय हैं जैसे काहूके सीखका विचार ऐसा निर्मल होने-लग्या जाकरि याके शीघ्र ही ताकी प्रतीति हो जासी। तैसे तत्त्व उपदेश ऐसा निर्मल होने लग्या जा करि याके शीघ्र ही ताका श्रद्धान होसी। बहुरि इन परिणामनिका तारतम्य केवल-ज्ञानकरि देख्या ताकरि निरूपण करणानुयोगमें किया है। ”

इस कथनसे आत्मामें सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता पंच-लब्धि भयेही होय है। विना पंचलब्धि प्राप्तकिये आत्मामें सम्य-

क्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता आती ही नहीं और पंचलब्धि की प्राप्ति भी उपदेशादि बाह्य निमित्तके विना नहीं होती ऐसा नियम है तब सम्यक्त्वप्राप्तिमें गुरु देशनाकी आवश्यक्ता नहीं है ऐसा कहना आगम विरुद्ध है।

आप कार्योत्पत्ति मे निमित्त कारणको अकिंचित्कर मान कर कार्योत्पत्ति मे केवल पदार्थकी योग्यता ही सिद्ध करते हैं और योग्यताके विषयमे जो जो उदाहरण आपने दिये हैं वे सब योग्यताके पोषक नहीं है। अतः हम उन उदाहरणों पर प्रकाश डालेंगे जिससे पता चल जायगा कि उदाहरण युक्तियुक्त है या नहीं अथवा आगम उनसे सहमत है या नहीं।

(१) बालक स्कूलमे पढनेकेलिये जाते हैं और उन्हे अध्यापक मनोयोग पूर्वक पढाता भी है। पढनेमें पुस्तक आदि जो अन्य साधन सामग्री निमित्त होती है वह भी उन्हें सुलभ रहती है। फिर भी अपने पूर्व संस्कारवश कोई बालक पढनेमें तेज निकलते है। कोई मध्यम होते हैं कोई मन्द होते हैं और कोई निमित्तरूपसे स्कूलमें जाकर भी पढनेमें समर्थ नहीं होते। इसका कारण क्या है? जिस बाह्य साधनसामग्रीको लोकमे कार्योत्पादक कहा जाता है वह सबको सुलभ है और वे पढनेमें भी परिश्रम करते है फिर भी वे एक समान क्यों नहीं पढते? यह कहना कि सबका ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम एकसा नहीं होता इसलिये सब एक समान पढनेमें समर्थ नहीं होते ठीक प्रतीत नही होता क्योंकि उसमें भी तो वही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान बाह्य सामग्री सुलभ है सबका एक समान क्षयोपशम क्यो नहीं होता। जो लोग बाह्य सामग्रीको कार्योत्पादक मानते है उन्हें अंतमें इस प्रश्नका ठीक उत्तर प्राप्त करनेके लिये योग्यता पर ही आना पडता है।"

पंडितजी आप सिद्धान्तशास्त्री कहलाते है किन्तु सिद्धान्तकी

वातसे आप सर्वथा अनभिज्ञ है इसीलिये सिद्धान्त विरुद्ध अयुक्त वात लिख रहे है। क्या वाह्य सामग्री एकसी मिलने पर सब का एकसा क्षयोपशम होनेका नियम है। यदि नियम है तो वतानेकी कृपा करें। यदि नियम नहीं है तो फिर ऐसा कहना कि "उसमें भी तो वही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान वाह्य सामग्री सुलभ है तब सब का एक समान क्षयोपशम क्यों नहीं होता क्या यह ठीक है? कदापि नहीं। इसका कारण यह है कि सबका कर्म बन्ध एकसा नहीं है इसलिये वाह्य सामग्री सबको एकसी मिलने पर भी सबका क्षयोशम एकसा नहीं होता। प्रदेश वन्ध सबका समान होने पर भी प्रकृतिबन्ध सबका समान नहीं होता। अथवा प्रकृतिवन्ध सबका समान होनेपर भी स्थितिवन्ध सब का समान नहीं होता अथवा स्थितिवन्ध सबका समान होने पर भी अनुभाग वन्ध सबका समान नहीं होता।

इसके सिवा कर्मका उदय अनुदय काल भी समान नही होता इसीलिये किसी भी जीवकी संसारावस्थामें ज्ञानादिकी प्रकटता समान नही होती। इसके सिवा अध्यापक आदिका निमित्त भी सबको समान नही मिलता। जिसको आप समान कहते हैं वह आपने विना भीतरी विचार किये ही लिखा है। अन्तस्तल से विचार कीजिये कि सब लडके क्या अपना उपयोग पढनेमे समान लगाते है, नहीं।

क्या यह वात आप नहीं जानते हैं? अवश्य जानते हैं फिर जानवूझकर विद्वत्समाजमे हास्यके पात्र वनना आप जैसे विद्वानों को शोभा नहीं देता। जैनसमाज तो आपसे वडी वडी आशा कर रही था कि ऐसे उच्च कोटाके विद्वान द्वारा जैनधर्मकी रक्षा होगी किन्तु हुआ इससे विपरीत। जव वाड ही खेतको खाने लगी तव रक्षा करे कौन? जब जैन विद्वान ही जैनधर्म पर कुठाराघात करने

लगजाय तो जैनधर्मकी रक्षा करनेवाले किसको समझें! अतः आपसे प्रार्थना है कि आप अनुचित स्वार्थका त्यागकर जैनधर्म अनुकूल पदार्थका प्रतिपादन करें जिससे उभय जीवोंका कल्याण हो।

कर्मकी एकस्थितिबन्धकूं कारण कषायनिके स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं। तामें एक स्थितिबन्धस्थानमें अनुभागबन्धकूं कारण कषायनिके स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। तथा योग स्थान हैं ते जगतश्रेणीके असंख्यातवे भाग हैं। सो यह जीव तिनकूं परिवर्तन करें हैं। कोई सैनी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीव स्वयोग सर्वजघन्य ज्ञानावरणी कर्मप्रकृतिकी स्थिति अंतः कोटाकोटीसागर प्रमाण बांधे ताके कषायनिके स्थान असंख्यात लोकमात्र हैं। तामें सर्वजघन्यस्थान एकरूप परिणमें तामें तिस एकस्थानमें अनुभाग बन्धकूं कारण स्थान ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण है। तिनमें सूं एकसर्वजघन्य रूप परिणमें तब जगतश्रेणी असंख्यातवे भाग योगस्थान अनुक्रमते पूर्ण करें बीचिमें अन्य योगस्थानरूप परिणमें तो गिनती में नाहीं (इसकथनसे क्रमबद्ध पर्याय का अभाव है) ऐसे योगस्थान पूर्ण भये अनुभागका स्थान दूसरा रूप परिणमें तहां भी तैसेही योगस्थान सर्व पूर्ण करे तब तीसरा अनुभागस्थान होय तहां भी तैसेही योगस्थान भुगते ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रमते पूर्ण करे तब दूसरा कषायस्थान लेना तहां भी तैसे ही क्रमते असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग स्थान तथा जगतश्रेणीके असंख्यातवेंभाग योगस्थान पूर्वोक्त क्रमते भुगते तब तीसरा कषाय स्थान लेणा। ऐसे ही चतुर्थादि असंख्यात लोकप्रमाण कषाय स्थान पूर्वोक्त क्रमते पूर्ण करें। तब एक समय अधिक जघन्य स्थिति स्थान लेना। तामें भी कषाय स्थान अनुभागस्थान योगस्थान पूर्वोक्त क्रमते भुगते ऐसे दोय समय अधिक

जघन्य स्थितिते लगाय तीसकोडाकोडीसागरपर्यंत ज्ञानावरणकर्मकी स्थिति पूर्ण करे ऐसे ही सर्वमूलकर्म प्रकृति तथा उत्तर कर्मप्रकृतिनका क्रम जानना। ऐसे परिणमते अनन्तकाल वीते तिनिकू भेला किये एक भाव परिवर्तन होय है। ऐसा स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामे कहा है।

"परिणमदि सण्णि जीवो विविहकसाएहिं ट्ठिदि णिमित्तेहिं
अणुभागणिमित्तेहिं पवट्ढंतो भावसंसारो" ७१

अर्थात् विविधप्रकारकी कषाय के निमित्तसे स्थितिबन्ध तथा अनुभागबंध करता हुआ सेनी पंचेन्द्रियजीव भाव संसार को किसप्रकार पूर्ण करता है उसका स्पष्टीकरण ऊपरमे किया गया है। कथन वढ जानेके भय से पांचों परिवर्तनों का स्वरूप नहीं लिखा गया है किन्तु उनका स्वरूप समझ लेनेसे संसार के स्वरूपका ज्ञान अच्छीतरह होजाता है।

अर्थात् ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे लब्धिरूप पांचो इन्द्रियों के द्वारा एक साथ जाननेकी योग्यता प्राप्त होनेपर भी एक समयमे उपयोग जिस पदार्थसे उपयुक्त होता है उसी को जानता है अन्यको उस समय अन्य इन्द्रियके द्वारा नहीं जान सकता क्योंकि ऐसी ही क्षयोपशमज्ञान की उपयोगरूप प्रवृत्ति है।

इस विषयमे स्व: पं० टोडरमलजीने दृष्टान्त द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ५१।

जैसे काहू पुरुषकं वहुत ग्रामनिविषे गमन करने की शक्ति (योग्यता) है। वहुरि ताकों काहूने रोक्या अर यह कहा—पाच ग्रामविषे जावो परन्तु एक दिन विषे एक ही ग्राम विषे

जावो। तहां उस पुरुषके बहुत ग्राम विषे जानेकी शक्ति तो द्रव्य अपेक्षा पाइये है, अन्य कालविषे समर्थ होय, वर्तमान सामर्थ्यरूप नाहीं है परन्तु वर्तमान पांच ग्रामनिते अधिक ग्रामनिविषे गमन करसके नाहीं। बहुरि पांच ग्रामनिविषे जानेकी पर्याय अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति (योग्यता) है तातै इनि विषे गमन करिसके हैं। बहुरि व्यक्तता एकदिन विषै एक ग्रामको गमन करने ही की पाइये है तैसे इस जीवके सबको देखनेकी जाननेकी शक्ति है। बहुरि याको कर्मने रोक्या अर इतना क्षयोपशम भया कि स्पर्शादिक विषयनिको जानो वा देखो परन्तु एक कालविषे एक हीको जानो वा देखो। तहां इस जीवके सबके देखने जाननेकी शक्ति (योग्यता) तो द्रव्य अपेक्षा पाइय है (अन्य कालविषे सामर्थ्य होय परन्तु वर्तमान कालमें सामर्थ्यरूप नाहीं) तातै अपनेयोग्य विषयनिते अधिक विषयनि को देखि जानि सके नाहीं। बहुरि अपने योग्य विषयनिको जानने देखनेकी पर्याय अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्य रूप शक्ति (योग्यता) है तातै इनिको देखि जानिसके हैं। बहुरि व्यक्तता एक कालविषे एकको ही देखनेकी वा जाननेकी पाइये है

बहुरि यहां प्रश्न—जो ऐसे है तो जान्या परन्तु क्षयोपशम तो पाइये अर बाह्य इन्द्रियादिकका अन्यथा निमित्त भये देखना जानना न होय वा थोरा होय वा अन्यथा होय सो ऐसे होते कर्म ही का निमित्त तो न रह्या? ताका समाधान—

जैसे राजाहारैने यह कह्या कि—जो पांच ग्रामनिविषे एक ग्राम को एक दिन विषे जावो परन्तु इन किंकरानको साथ लेकर जावो तहां वे किंकर अन्यथा परिणमैं तो जाना न होय वा थोरा जाना होय वा अन्यथा जाना होय। तैसे कर्मका ऐसा ही क्षयोपशम भया है जो इतने विषयनिविषे एक विषयको एक कालविषे

देखो वा जानो परन्तु बाह्य द्रव्यनिका निमित्त भये देखो जानो ।
तहां वे बाह्य द्रव्य अन्यथा परिणमें तो देखना जानना न होय
वा थोरा होय वा अन्यथा होय ऐसे यह कर्मके क्षयोपशमके
विशेष हैं ताते कर्म ही का निमित्त जानना । जैसे काहूके अन्धकार
वा परमाणु आडा आये देखना न होय । घूघू मार्जारादिक-
निकै तिनिको आडे आये भी देखना होय सो ऐसा यह क्षयोप-
शम का ही विशेष है। जैसे जैसे क्षयोपशम होय तैसे तैसे ही
देखना जानना होय है । ऐसे इस जीवके क्षयोपशम ज्ञानकी
प्रवृत्ति पाइये हैं । बहुरि मोक्षमार्गविषे अवधि मनःपर्यय ज्ञान
होय है सो भी क्षयोपशमज्ञान ही है तिनिकी भी ऐसे ही एक
कालविषे एकको प्रतिभासना वा पर द्रव्यका अधीनपना जानना
बहुरि विशेष है सो विशेषजानना । या प्रकार ज्ञानावरण दर्शनावरण
का उदय के निमित्तते बहुत ज्ञान दर्शनके अंशनिका तो अभाव
है अर तिनिके क्षयोपशमते थोरे अंशनिका सद्भाव पाइये ।
बहुरि इस जीवके मोहके उदयते मिथ्यात्व या कषायभाव होय है
तहां दर्शनमोहके उदयते तो मिथ्यात्व भाव होय है । ता करि
यह जीव अन्यथा प्रतीति रूप अतत्त्व श्रद्धान करे है। जैसे है
तैसे तो नांही मानै है अर जैसे नाही है, तैसे माने है ”

इस कथनसे निमित्तकी प्रधानता स्पष्ट सिद्ध है जो आप
निमित्तको अकिंचित्कर मान निमित्तको कार्योत्पत्तिमें सहायक
नहीं मानते प्रत्युत विना निमित्तके ही केवल वस्तुकी योग्यता
से ही कार्योत्पत्ति मानते हैं यह सर्वथा मिथ्या है। कर्मके निमि-
त्तसे जीवकी कितनी पराधीनता होरही है इस बातका पता
ऊपरके कथनसे चल जाता है । कर्मोंके निमित्तसे वस्तुकी
योग्यता भी अयोग्य होजाती है । वस्तुकी योग्यतासे विना
निमित्तके कोई भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है तो भी कर्मोंके निमित्तसे संकोच विस्तार रूप सदा परिणमन करता रहता है। जब कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है तब संकोच विस्ताररूप होना भी छूट जाता है। यह जीव जिस शरीरसे सिद्ध होता है उस शरीरके प्रमाण प्रदेश सब स्थिर हो जाते हैं। यह कर्मोंके निमित्तका ही कारण है। कर्मोंके निमित्तसे अनादि कालसे यह जीव निगोदमें पडा रहा, वहांसे निकलकर चारोंगति रूप संसारमें परिभ्रमण करके फिर भी निगोदमें चला जाता है। क्या उनमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी और सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है? यदि नही है तो फिर नवीन योग्यता कहांसे आयगी ? यदि योग्यता शक्तिरूप मौजूद है तो वह योग्यता व्यक्त क्यों नहीं होती। तो कहना पडेगा कि उस योग्यताके प्रगट होनेमें कर्मबाधक हैं जैसा कि ऊपरमें उदाहरण सहित सिद्ध किया गया है। इस लिये योग्यता रहते हुये भी बाधक कारण रहते योग्यता का कार्य नही होता अतः स्कूलमें पढने वाले बालकोंका ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षयोपशम समान न होनेसे बाह्य साधन समान मिलने पर भी समान पढाई नही होता। योग्यता भी निमित्तानुसार प्रगट होती है अन्यथा नहीं।

"इस संसार अटवी विषे समस्त जीव हैं ते कर्मके निमित्त तें निपजे जे नाना प्रकार दुःख तिनकर पीडित हो रहे हैं। बहुरि तहां मिथ्या अन्धकार व्याप्त हो रहा है तांकरि तहां ते मुक्त होने का मार्ग पावते नाहीं तडफ तडफ ताही दुःखको सहे हैं बहुरि ऐसे जीवनिका भला होनेको कारण तीर्थंकर केवली भगवान सोही भया सूर्य ताका भया उदय ताकी दिव्यध्वनि रूपी किरणनिकरि तहांते मुक्त होनेका मार्ग प्रकाशित किया। जैसे सूर्यके ऐसी इच्छा नाहीं जो मैं मार्ग प्रकासूं परन्तु सहजही वांकी किरण

फेले हैं ताकरि मार्गका प्रकाशन होय ही है । तैसे ही केवली वीतराग है ताते ताकं ऐसी इच्छा नाहीं जो हम मोक्षमार्ग प्रगट करें परन्तु सहजही अघाति कर्मनिका उदय करि तिनिका शरीररूप पुद्गल दिव्यध्वनि रूप परिणमै है ताकरि मोक्षमार्गका प्रकाशन हो है । बहुरि गणधर देवनिके यहु विचार आया जहां केवली सूर्यका अस्तपना होय तहां जीव मोक्षमार्गको कैसे पावे अर मोक्षमार्ग पाये विना जीव दुःख सहेंगे ऐसी करुणा बुद्धिकरि अंग प्रकीर्णकादि रूप ग्रंथ तेही भये महान दीपक तिनिका उद्योत किया ”

मोक्षमार्ग प्र० २६

इस कथनसे निमित्तकी सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है जिसप्रकार सूर्यके उदय विना अन्धकारका अभाव होता नही तथा मार्गका प्रकाशन भी होता नांहीं उसी प्रकार केवली भगवान रूपी सूर्यके उदय विना मोक्षमार्गका प्रकाशन होता नाहीं तथा मिथ्या अन्धकार दूर होता नाहीं । इसके विपरीत कानजी जो यह कहते हैं कि “सूर्यका उदय हुआ इसलिये धूप होगई (प्रकाश होगया) यह वात मिथ्या है । ”

जो वात प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है कि सूर्यके उदयमें या दीपक के उजालेमें प्रकाश होता है उसका निषेध करना इससे वढ-कर और गहलपना क्या होगा ? कानजी भी निमित्तको अकिं-चित कर मानते है उसी तरह आप भी निमित्तको अकिंचित्कर मानते हैं । कानजी भी योग्यताका ढिंढोरा पीटते हैं आप भी योग्यताका ही वोलवाला सिद्ध करते हैं । कानजी क्रमवद्ध पर्याय होना मानते हैं आप भी क्रमनियमित पर्याय मानते हैं आपकी मान्यतामे और कानजीकी मान्यतामे रंचमात्रका फरक नही है फरक केवल शब्दोंका है । वे सीधे शब्दोंमे कहते हैं

आप घुमाफिरा कर उसी की पुष्टि करते हैं। उनसे उतना बुरा नही होगा क्योंकि वे विधर्मी है किन्तु उनसे असंख्यातगुणा बुरा आपसे होगा क्यों कि आप स्वधर्मी हैं।

यह कहावत है कि बाहरके शत्रुसे जो हानि नहीं होती वह हानि घरके शत्रुसे सहज में होजाती है "घर फूटे रावण मरे" यह कहावत असत्य नहीं है पंडितजी पाप करना उतना बुरा नहीं है जितना बुरा पापको पीठ ठोकना है। "वसु झूठसेती नर्क पहुंचा" क्या वसु झूठ बोलनेसे नर्क गया था नहीं परन्तु पशु यज्ञका समर्थन किया इसलिये तो नर्क गया। यह बात आप अच्छी तरह जानते हैं फिर भी आप जानबूझकर गढेमें पडते हैं यहबड़े आश्चर्यकी बात है। इस विषयमें स्व० पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ १६ में जो लिखा है उस पर विचार करिये। और सत्य मार्ग पर आइये।

"असत्यार्थ पदनिकी रचना अति तीव्र कषाय भये विना वने नाहीं। जातें जिस असत्य रचना करि परपरा अनेक जीवनिका महाबुरा होइ। आपको ऐसी महाहिंसाके फलकरि नर्कनिगोदविषे गमन करना होय सो ऐसा महा विपरीत कार्य क्रोध मान माया लोभ अत्यंत तीव्र भये ही होय"

स्कूलमें पढ़नेवाले बालकोंकी बाह्य सामग्री एकसी होनेपर भी एकसा क्षयोपशम नही होता इस बातको सप्रमाण ऊपरमें सिद्ध किया जाचुका है। फिरभी स्व० पं० टोडरमलजीके वचनोंसे और भी तसल्ली करा देते हैं।

"इहां इतना जानना-इस जीवके समय २ प्रति अनंत परमाणु वन्धे हैं तहां एक समय विषे वन्धे परमाणु ते आवाधाकाल छोड-कर अपनी स्थितिके जेते समय होंय तिनि विषे क्रमतें उदय आवे है बहुरि बहुत समय विषे वन्धे परमाणु जे एक समय विषे उदय

में आवने योग्य हैं ने इकट्ठे होय उदय आवे हैं। तिनि सब परमाणुनिका अनुभाग मिले जेता अनुभाग होय तितना फल तिस काल विषे निपजे।"

अर्थात् किसी जीवके अनेक कालका संचय किया हुआ कर्म एक कालमें उदय आवे अथवा किसी जीवके थोडे कालका संचय किया हुआ कर्म एक कालमे उदय आवे किसीका मंद उदयमें आवे किसीके संक्रमण रूप होकर उदयमें आवे, किसीके उत्कर्षण अपकर्षण रूप होकर उदयमें आवे। किसीके सत्तामे ही नष्ट होजाय उदयमे ही नहीं आवे इत्यादि अनेक रूप अवस्था होकर उदयमें आते हैं उनका अनेक रूप क्षयोपशम होता है इसलिये कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अनेक अवस्था तिसको न मानकर योग्यता का गीत गाना सर्वथा आगमविरुद्ध है। योग्यता भी निमित्तानुसार उपलब्ध होती है इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

गुरुकी देशनासे और शास्त्रके पठन पाठन से सम्यग्ज्ञानका प्राप्ति होती है इसके विना नहीं होती यह जैनागमका अटल सिद्धान्त है इसको अकिंचित्कर मानकर उडाना चाहते हो सो यह आपके उडानेसे उड नहीं सकता क्योंकि इसके विना सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। आपको जो सिद्धान्तशास्त्रीकी पदवी मिली है क्या वह विना गुरुके या शास्त्रों के पठन पाठनके ही मिली है कदापि नहीं। इस रूप योग्यता आपकी स्वयमेव प्राप्त नहीं हुई उसमें निमित्त कारण गुरु और शास्त्रोंका पठन पाठन है इसको आप इनकार नहीं कर सकते।

"गुरुके निमित्तसे श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं होती" ऐसा माननेवाले कानजी, वे भी अब रास्ता पर थोडे थोडे आये हैं। वे भी अब कहने लगे हैं कि—

"निमित्त अकिंचित्कर है फिरभी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवालेको निमित्त कैसा होता है वह जानना चाहिये। आत्माका अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीवको सामने निमित्तरूपसे ज्ञानी ही होते हैं। वहां सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामने वाले ज्ञानीका आत्मा अन्तरङ्ग निमित्त है और उन ज्ञानीकी वाणी बाह्य निमित्त है"

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभावके पृष्ठ २६०

कानजी एक तरफ तो कहते हैं कि गुरुके निमित्तसे श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं होता (वस्तु वि० पृ०३६) दूसरी तरफ कहते हैं कि "आत्माका अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीवको सामने निमित्तरूपसे ज्ञानी ही होते है" यह ढुपडपंटी बात कैसी "मेरी मा और बांझ" खैर इस कथनसे यह भी पता चल जाता है कि वे कितने ज्ञानी हैं जिसकी पीठ हमारे सिद्धान्तशास्त्री जैसे विद्वान ठोंक रहे हैं क्या सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेवालेके अन्तरंग निमित्तकारण सामनेके ज्ञानी होते हैं? या सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेवालेके अंतरङ्ग कारण उनका ज्ञानावरणादिकर्मोंका क्षयोपशम है? जिसको इतना भी बोध नहीं है कि दूसरेकी आत्मा दूसरे की आत्मा का अंतरङ्ग कारण कैसे हो सकती है? अंतरङ्ग कारण तो स्व का स्व ही होगा दूसरा नहीं, दूसरा तो बाह्य निमित्त कारण ही होगा। यदि ऐसा न माना जायगा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता मानना पडेगा जो होता नहीं। अतः ऐसी भयंकर गलती करने वाला व्यक्ति ज्ञानी गुरु कहलावे और उसके पीछे शास्त्री विद्वान लोग नांचे, वाह रे कलिकाल! जो तू न करे गुजरे सो सब थोडा है।

कानजीने देखा कि मैंने यह कह दिया है कि "गुरुके निमित्त से श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं होती" तो लोग मेरे पास नहीं आवेंगे । इसलिये उनको यह कहना पडा कि गुरुके निमित्तसे तो श्रद्धासम्यक्त्व नहीं होती किन्तु श्रद्धासम्यक्त्व होनेमें निमित्त कारण सामने ज्ञानी होना चाहिये । क्योंकि आप ज्ञानी होनेका ठेका रखते है । इसलिये जिसको ज्ञान प्राप्त करना हो वे मेरे पास आवें । गुरुओंके (मुनियोंके) निमित्तसे श्रद्धा सम्यक्त्व नही होगी । कानजीके दुपडपीटी वात कहनेमे ऐसा अभिप्राय झलकता है ।

यदि आप यह कहै कि मेरे शास्त्री होनेमे मेरी योग्यता ही कारण है गुरु या शास्त्र नहीं जैसाकि आपका तुष मास भिन्नके घोषनेवाले शिवभूति मुनिके विषय मे कहना है कि—

(२) "शास्त्रोंमे आपने तुष मास भिन्नकी कथा पढी होगी वह प्रतिदिन गुरुकी सेवा करता है, अट्ठाईस मूलगुणोंका नियमित ढंगसे पालन करता है फिर भी उसे द्रव्यश्रुतकी प्राप्ति नहीं होती इतनाही नहीं वह तुष मास भिन्न पाठका घोष करता हुआ केवली तो हो जाता है परन्तु द्रव्यश्रुतकी प्राप्ति नहीं । क्योंकि उसमें द्रव्यश्रुतको उत्पन्न करनेकी योग्यता नहीं थी । इसके सिवाय अन्य कोई कारण हो तो वतलाइये । इससे कार्योत्पत्तिमे योग्यताका क्या स्थान है इसका सहज ही पता लग जाता है "

प्रथम तो उस तुष मास भिन्न घोषना करनेवाले मुनि मे आठ प्रवचनमातृका का ज्ञान था या नही यदि उनमे यह ज्ञान नहीं था तो उसको केवलज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि अष्ट प्रवचन मातृकाका ज्ञान हुये विना केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा आगम है । यदि उनको अष्टप्रवचन मातृकाका ज्ञान था तो वह श्रुतकेवली था क्योंकि आगममे अष्टप्रवचन मातृकाके ज्ञानवालेको श्रुतकेवली

कहा है इसलिये उसके द्रव्यश्रुत नहीं था ऐसा कहना आगमविरुद्ध है। यदि कहो कि उनके पूर्ण श्रुत ग्यारह अंग चौदह पूर्व प्रकीर्णादि का ज्ञान नहीं था इसके हुये बिना भी अपनी योग्यतासे उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होगई। ऐसा कहना भी असगत है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। जो पूर्ण श्रुतकेवली हुये बिना किसी को केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। यह तो जीवोंकी कर्मोंके क्षयोपशम शक्ति विशेषका माहात्म्य है। वह क्षयोपशम सबका समान होता नहीं।

इसीलिये किसीको मति श्रुत अवधि होकर केवल होता है तो किसीको मति श्रुत मनःपर्यय होकर केवल होता है तो किसीको मति श्रुतसे केवलज्ञान होता है। यह परिणामोंकी विचित्रता है मतिश्रुत पूर्णतया न होनेपर भी केवलज्ञानको प्राप्ति होजाती है। इससे यह नहीं कहा जाता कि उसमें पूर्णरूपसे श्रुतकेवली होने की योग्यता नहीं थी जिसमें पांच ग्राम जानेकी योग्यता हो यदि वह कारणवश एक ग्राम भी न जा सके तो क्या उसमें एक ग्राम जानेकी योग्यता नहीं थी ऐसा कहा जा सकता है? कदापि नहीं जिसमे पाच् ग्राम जानेकी शक्ति है वह निमित्तानुसार एक एक ग्रामको उलंघता हुआ भी पांचवें ग्राम पहुंच सकता है। अथवा उसको सीधा रास्ता मिलजाय तो वह सब ग्रामोंको छोडकर सीधा पांचवे ग्राम भी जा सकता है। उसी प्रकार कर्मोंके क्षयोपशम अनुसार कोई मति श्रुत अवधि मनःपर्यय पूर्वक केवलज्ञान को प्राप्त करता है कोई मतिश्रुतको भी पूर्णतया प्राप्त न कर सीधा कर्मोंको नष्टकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतः जिसमें सीधा केवलज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता है उसमें मति श्रुत पूर्ण रूपसे प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं थी ऐसा कहना न्याययुक्त नहीं है।

जिसमें लाख रुपया कमानेकी योग्यता है उसके विषयमें यह कहा जाय कि इसमें लाख रुपया कमानेकी योग्यता है किन्तु इसमें सौ रुपया कमानेकी योग्यता नहीं है तो वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। अतः शिवभूतिमुनिमें द्रव्यश्रुत प्राप्त करनेकी योग्यता नही थी इसलिये वह द्रव्यश्रुत प्राप्त नही कर सका किन्तु उसमें केवल ज्ञान प्राप्तकरनेकी योग्यता थी इसलिये उसने केवलज्ञान प्राप्त करलिया ऐसा कहना आगम युक्ति और न्याय बाधित है।

योग्यताके सम्बन्धमें कहीं पर तो आप दैवका अर्थ योग्यता करते है तो कहीं पर कार्य निष्पत्तिकी सामर्थ्य रूप उपादानको शक्तिको योग्यता फरमाते हैं, सो दैव तो पर है अतः परका तो उपादानकी योग्यताके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। फिर दैव (कर्म) का अर्थ योग्यता करना कैसा ? क्या कर्मकी योग्यता ही जीवके उपादान की योग्यता है। यदि है तो स्पष्ट करें ? यदि नही है तो फिर निःप्रयोजन ऐसी असंगत वात लिखनेकी जरूरत क्या थी।

"यहांपर यद्यपि दैवका अर्थ योग्यता और पुरुषार्थ का अर्थ अपना बल वीर्य करके उक्त श्लोकका अर्थ उपादानपरक भी होसकता है पर इस प्रकरणका प्रयोजन आगममे निमित्तको स्वीकार किया है यह दिखलाना मात्र है"

जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ ३७

यदि यह कहा जाय कि कर्मोंके निमित्तसे जीवकी जो अवस्था होती है उसीका नाम योग्यता है इसी कारण कारणमें कार्यका उपचार कर दैवका अर्थ योग्यता किया है तो कथंचित् ठीक है। जोवके साथ तो ऐसा घटित हो सकता है परन्तु पुद्गल के साथ यह घटित नहीं होता क्योंकि उसके साथ दैव (कर्म) का कोई

सम्बन्ध ही नहीं है इसलिये दैवका अर्थ योग्यता करना प्रमाण-बाधित है। योग्यता तो उपादानकी कार्य निष्पादिका नाम है। सो वह बिना निमित्तके केवल उपादानको योग्यतासे नहीं होती।

उपादान और निमित्त मीमांसा के कथन में आपने प्रकारान्तरसे नियमित वादको और योग्यता को सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। तथा निमित्त को मात्र उपस्थित मानकर कार्योत्पत्ति केवल उपादानकी योग्यता से ही होती है ऐसा दरशानेका प्रयत्न किया है किन्तु इसमें भी आप सफल नहीं हो सके हैं। आप जो यह कहते हैं कि "जैसा कि पहिले लिख आये हैं भवितव्यता उपादान की योग्यता का ही दूसरा नाम है। प्रत्येक द्रव्यमें कार्यक्षम भवितव्यता होती है इसका समर्थन करते हुये स्वामी समन्तभद्राचार्य अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं—

"अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जंतुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः

"आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य शक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी मैं इस कार्यको कर सकता हूं इस प्रकारके अहंकारसे पीडित है वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणोंको मिला कर भी कार्योंके संपन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।

"सब द्रव्योंमें कार्योत्पादनक्षम उपादानगत योग्यता होती है इसका समर्थन भट्टाकलंकदेवने अष्टशती टीकामें भी किया है। प्रकरण संसारी जीवोंके दैव पुरुषार्थवादका है। वहां वे दैव व पुरुषार्थका स्पष्टीकरण करते हुये कहते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम् पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् । दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसंगात् ।

"योग्यता या पूर्वकर्म दैव कहलाता है । ये दोनो अदृष्ट हैं । तथा इहचेष्टितको पौरुष कहते हैं । इन दोनोंसे अर्थसिद्धि होती है । क्योंकि इनमें से किसी एकके अभावमें अर्थसिद्धि नही हो सकती । केवल पौरुषसे अर्थसिद्धि मानने पर अर्थका दर्शन नही होता और केवल दैवसे मानने पर समीहाकी निष्फलताका प्रसंग आता है "

" उपादानकी योग्यतानुसार कार्य होता है इसका समर्थन वे तत्त्वार्थ वार्तिक (अ: १ सूत्र २०) में इन शब्दोमें करते है "

" यथा मृदः स्वयमन्तरघटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्डचक्रपौरुषेय प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति यतः सत्स्वपि दंडादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तरघटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटो भवति अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदंडादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्यात् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वं भवति "

" जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घट भवन रूप परिणामके अभिमुख होनेपर दण्ड चक्र और पुरुष कृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते है । क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहनेपर भी वालुकाबहुल मिट्टीका पिण्ड स्वय भीतरसे घट भवन रूप

परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होनेके कारण घट नहीं होता अतः बाह्यमें दण्डादि निमित्त सापेक्ष होनेसे घट होता है। दण्डादि घट नहीं होते। इसलिये दण्डादि निमित्त मात्र है"

"इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपादानगत योग्यताके कार्य भवनरूप व्यापारके सन्मुख होने पर ही वह कार्य होता है अन्यथा नहीं होता"

जैन तत्त्वमीमांसा पृष्ठ ७१–८०–८२

इसके आगे आप लिखते हैं कि —

"यदि तत्त्वार्थवार्तिक के उक्त उल्लेख पर बारीकी से ध्यान दिया जाय तो उससे यह भी विदित हो जाता है कि घट निष्प-त्तिके अनुकूल कुम्हारको जो प्रयत्न प्रेरक निमित्त कहा जाता है वह निमित्तमात्र है. वास्तवमें प्रेरक निमित्त नहीं। उनके निमि-त्तमात्र हैं ऐसा कहने का यही तात्पर्य है।

"हम पहिले प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति स्वकाल (समर्थ उपा-दानके व्यापार क्षण) के प्राप्त होनेपर होती है यह लिख आये हैं। इसलिये यहा पर संक्षेपमें उसका भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सुनिश्चित है कि प्रत्येक कार्यका स्वकाल होता है। न तो उसके पहिले ही वह कार्य हो सकता है और न उसके बाद ही। जो जिस कार्यका स्वकाल होता है उसके प्राप्त होनेपर अपने पुरुषार्थ (बलवीर्य) द्वारा वह कार्य होता है। और अन्य द्रव्य जिसमें उस कार्यके निमित्त होनेकी योग्यता होती है, निमित्त होते हैं। प्रत्येक भव्य जीव का मुक्ति लाभ भी एक कार्य है अतः उसका भी स्वकाल है उक्त नियम द्वारा उसीकी स्वीकृति दीगई है। केवल यह बात हम तर्कके बलसे कह रहें हों ऐसा नहीं है। क्योंकि कई प्रमुख आचार्योंके इस सम्बन्धमें जो उल्लेख मिलते है उन से इस

कथनकी पुष्टि होती है। आचार्य विद्यानन्दिने आप्तमीमांसा और अष्टशतीके आधारसे जब यह सिद्ध करदिया कि—जो शुद्धि शक्तिकी अभिव्यक्ति द्वारा शुद्धिको प्राप्त कर लेते है वे मुक्ति के पात्र होजाते है। और जो अशुद्धि शक्तिकी अभिव्यक्ति द्वारा अशुद्धिका उपभोग करते रहते हैं उनके संसारका प्रवाह चालू रहता है। तब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सब संसारी जीव जिस प्रकार अनादि कालसे अशुद्धिका उपभोग करते आरहे है उस प्रकार वे सदा काल शुद्धिका उपभोग करते हुये मुक्तिके पात्र क्यो नहीं होते ? इसी प्रश्नका उत्तर देते हुये कहते हैं कि —

"केषांचित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम्"

" किन्ही जीवोंकी प्रतिमुक्ति स्वकालके प्राप्त होने पर होती है। ऐसा जानना चाहिये "

" आचार्य विद्यानन्दिने इस कथन द्वारा यह बतलाया है कि शुद्धि नामक शक्ति होती तो सबके है। परन्तु जिन जीवोंके उसके पर्यायरूपसे व्यक्त होनेका स्वकाल आजाता है उन्हीके अपने पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति होती है और वे ही मोक्षके पात्र होते हैं "

"यह कथन केवल आचार्य समन्तभद्र और विद्यानन्दिने ही किया हो यह बात नही है। भट्टाकलंक देवने भी तत्त्वार्थ-वार्तिक (अ० १ सू० ३) में इस तथ्यको स्वीकार किया है। वह प्रकरण निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनका है। इसी प्रसंगको लेकर उन्होंने सर्व प्रथम यह शंका उपस्थित की है "

" भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ॥ ७ ॥ यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधि-

गमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगम-सम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति "

" इस वार्तिक और उसकी टीकामें कहागया है कि यदि नियत मोक्षकालके पूर्व अधिगम सम्यक्त्वके बलसे मोक्ष होवे तो अधिगम सफल होवे। परन्तु ऐसा नहीं है इसलिये स्वकालके आश्रयसे जो इस भव्य जीवके मोक्ष प्राप्ति है वह निसर्गज सम्यक्त्वसे ही सिद्ध है।

" इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त कथन द्वारा भट्टाकलंक देवने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है कि प्रत्येक भव्यजीवको उसकी मोक्षप्राप्तिका स्वकाल आने पर मुक्तिलाभ अवश्य होता है। इस से सिद्ध है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे अपने कालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं। आगे पीछे नहीं "

जैन तत्त्वमीमांसा पृष्ठ ७४-७५

पंडितजी ! आपके उपरोक्त कथन में न तो प्रत्येक कार्यकी निष्पत्तिमें स्वकाल ही सिद्ध होता है और न कार्योत्पत्ति, निमित्त विना केवलद्रव्य की योग्यतासे हीं सिद्ध हो पाई है, और न उपादान अपने पुरुषार्थ द्वारा बाह्य निमित्त के विना कार्य कुशल हो सकता है ऐसा आपके कथनसे स्पष्ट होजाता है फिर भी आपने उक्तविषय को 'सिद्ध करने में परिश्रम किया है वह आपका परिश्रम आपकी मान्यताका घातक बनगया यह दुःख की बात है।

आपने जो भट्टाकलंकदेवका निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्वके विषयका प्रमाण देकर उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति में स्वकाल सिद्ध करनेकी चेष्टा की है वह प्रयोजनभूत नहीं है।

क्योंकि वह कथन शंका रूप में किया गया है । उसका उत्तर देखिये, जिससे स्पष्ट होजाता है कि मोक्ष प्राप्तिका कोई निश्चित काल नहीं है । क्यों कि कर्मोंकी निर्जरा पूर्वक मोक्ष होती है ।

अतः यह जीव जिस समय में पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा करदेता है उसी समय उसको मोक्ष हो जाती है उसमें कालका नियम नहीं है और वह मोक्ष प्राप्ति निसर्गज (स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले) सम्यक्त्वसे ही मोक्षप्राप्ति होती है अधिगमज सम्यक्त्व से नहीं । इसका कारण यह है कि परनिमित्तसे (उपदेशादि वाह्यनिमित्तसे) जो आत्मामें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है वह भी तो निसर्गज ही है अर्थात् वह आत्माका ही तो स्वभाव स्वरूप आत्मा ही में है । इसलिये निज स्वभाव रूप जो परिणमन है वह निसर्गज रूप ही है और वह निर्विकल्प है । किन्तु अधिगमज सम्यक्त्व है वह सविकल्प है इस कारण जहां सविकल्पता है वहां ध्यानकी सिद्धि नहीं है तथा ध्यानकी सिद्धि विना कर्मो की पूर्ण निर्जरा नहीं होती और पूर्ण निर्जराके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती इस दृष्टिकोणको ध्यानमें (लक्षमें) रखकर अकलंकदेवने निसर्गज सम्यक्त्वसे ही मोक्ष प्राप्ति कही है । परन्तु इससे कोई यह नहीं समझे कि अधिगमज सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्तिमें कारण ही नहीं है । विना अधिगमजसम्यक्त्वके निसर्गज सम्यक्त्व होता ही नहीं यह नियम है । अतः अधिगमज सम्यक्त्व कारण है और निसर्गजसम्यक्त्व कार्य है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके वाह्य उपदेशादिकका निमित्त मिले विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती यह वात हम ऊपरमें मोक्षमार्ग-प्रकाश ग्रन्थके प्रमाण से सिद्ध कर आये है । अधिगमज सम्यक्त्व प्राप्तिके वाद यह जीव अधिकसे अधिक संसार परिभ्रमण करता है तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल तक ही कर सकता है इससे

अधिक नहीं यह तो नियम है परन्तु यह नियम नहीं है कि वह इसके बीचमें मोक्ष प्राप्त नहीं करसकता है। वह दैव और पुरुषार्थके बलसे जब कभी भी मोक्षकी प्राप्ति करसकता है। विना दैव और पुरुषार्थके कोई भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती यह बात आपके दिये गये प्रमाणसे भी सुसिद्ध है।

" योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम् पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः।

अर्थात् दैव और पुरुषार्थ के मिलनेपर ही कार्यसिद्धि होती है इनमेंसे एककी कमी होने पर कार्यसिद्धि नहीं होती।

" तदन्यतरापायेऽघटनात्। पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसंगात् "

अर्थात् केवल पौरुषसे अर्थकी सिद्धि माननेपर अर्थका दर्शन नहीं होता तथा केवल दैवसे माननेपर समीहाकी निष्फलताका प्रसंग आता है।

इस कथनसे केवल उपादानकी योग्यतासे पुरुषार्थ करनेपर भी कार्य सिद्धि नहीं होती उसमें दैव (कर्म) का भी निमित्त अवश्य होना चाहिये। जो आप निमित्तको अकिंचित् कर मानते हैं उसका इस कथनसे खंडन होजाता है। आचार्य कहते हैं— कि विना निमित्तके कोई भी कार्य नहीं होता। निमित्त चाहे उदासीन हो सहायक हो बलदायक हो अथवा प्रेरक हो इन में से कोई भी हो, कार्योत्पत्तिमें इनकी नियुक्ति आवश्यक है। इन निमित्तोंके विना केवल उपादान की योग्यता से कार्योत्पत्ति नहीं होती। अतः उपादानकी योग्यता को व्यक्त करने में भी निमित्त प्रधान है। जैसे आत्मामें केवलज्ञान या सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी

योग्यता शक्तिरूपसे विद्यमान है किन्तु वाह्यनिमित्त अनुकूल न मिलनेसे अथवा प्रतिकूल (वाधक) निमित्तके रहनेपर अनादिकाल से आजतक केवलज्ञानादिक की व्यक्तता इस जीवको न हुई और जबतक ऐसा कारण वना रहेगा तबतक फिर भी केवलज्ञानादिककी प्राप्ति नहीं होगी। केवलदर्शनावरणीके उदयमें केवलदर्शन व्यक्त नहीं होता तथा केवलज्ञानावरणीके उदयमें केवलज्ञान प्रगट नहीं होता तथा मोहनीय कर्मके उदयमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयमें देशचारित्र या सकलचारित्र प्रादुर्भाव नही होता तथा वेदनीयकर्म के सद्भावमें अव्यावाधसुखकी प्राप्ति नहीं होती, शरीरमें रोग निरोगपने की नाना प्रकारकी अवस्था होती रहती है। अन्तरायकर्मके उदयमें दानादिक देनेकी योग्यता होनेपर भी दान नहीं देसकता, आयुकर्मके उदयमें मनुष्यादि - पर्यायकी - स्थिति बनी रहती है। इस संसारमें जन्म जीवन मरणका कारण आयुकर्म ही है। नामकर्मके उदयमें यह जीव मनुष्यादि गतिमे प्राप्त होकर तिसपर्यायरूप अपनी अवस्था समझे तहां नोकर्मरूप शरीर में अंगोपांगादि योग्य स्थान परिमाण लिये आत्मप्रदेश संकोच विस्तार रूप होय शरीर प्रमाण रहै तथा शरीर विषे नानारूप आकारादिकका होना नानारूप वरणादिकका होना स्थूल सूक्ष्मादिका होना इत्यादिक नामकर्मके उदयमें कार्यकी निष्पत्ति होती है

गोत्रकर्मके उदयमें यह जीव ऊंच नीच पर्यायको प्राप्त होय है। इसप्रकार अनादिसंसार विषे घाति अघाति कर्मके निमित्तते जीवकी अवस्था होती है सो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है और युक्तिआगमसे प्रमाणित है इसको अस्वीकार कैसे किया जासकता है? कभी नहीं, विना निमित्तकारणके मिले केवल उपादानकी योग्यतासे कोई भी कार्य नहीं होता इसविषयमें स्व० पं० टोडरमलजीका

जो कहना है उसको यहां उद्धृत करना उचित समझते है।

"एक कार्य होनेविषे अनेक कारण चाहिये। तिनविषे जे कारण बुद्धिपूर्वक होंय तिनको तो उद्यमकरि मिलावे अर अबुद्धिपूर्वक कारण स्वमेव मिले तो कार्य सिद्ध होय जैसे पुत्र होनेका कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादिकका करना है अर अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। तहां पुत्रका अर्थि विवाहादिकका तो उद्यम करे अर भवितव्य स्वमेव होय तब पुत्र होय। तैसें विभाव दूर करनेके कारण बुद्धिपूर्वक तो तत्त्वविचारादिक है अर अबुद्धिपूर्वक मोहकर्मका उपशमादिक है सो तांका अर्थी तत्त्वविचारादिक तो उद्यम-करि करे अर मोह कर्मका उपशमादि स्वमेव होय तब रागादिक दूर होय। इहां ऐसा कहैं कि जैसें विवाहादिक भी भवितव्य आधीन है तैसे तत्त्वविचार भी कर्मका क्षयो-पशमादिक के आधीन है। तातें उद्यम करना निरर्थक है"

(जैसा कि आप कहते हैं कि कार्यकी निष्पत्ति स्वकाल आने-पर ही होती है आगे पीछे नहीं होती फिर उद्यम काहेको करना) क्रमनियत पर्याय माननेवालेकेलिये कहते हैं कि—

समाधान "ज्ञानावरणका तो क्षयोपशम तत्त्वविचा-रादिक करने की योग्यता तो तेरे भई है याहींतें उपयोगको यहां लगावनेका उद्यम कराइये हैं। असंज्ञी जीवनिके तो क्षयोपशम नाहीं है तो इनको काहेकों उपदेश दीजिये है।

बहुरि वह कहै-होनहार होय तो तहां उपयोग लागे,विना होनहार काहे को लागे। समाधान–

जो ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र कोई भी कार्यका उद्यम मति करे (स्वकालमें सब कार्य हो ही जायगा) तूं खान पान व्यापारादिकका तो उद्यम करे, अर यहां होनहार बतावे सो जानिये है तेरा अनुराग यहां नाहीं। मानादिक करि ऐसी झूठी बातें बनावे है। या प्रकार जे रागादिक होते तिनकरि रहित आत्माको माने है ते मिथ्यादृष्टि जानने। मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २७८–२७६

"बहुरि कर्म नोकर्मका सम्बन्ध होते आत्माकों निर्बन्ध माने सो प्रत्यक्ष इनका बन्धन देखिये हैं। शरीर करि ताके अनुराग अवश्य होता देखिये है,बन्धन केसे नहीं, जो बन्धन न होय तो मोक्षमार्गी इनके नाशका उद्यम काहेको करे"

इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि कार्योत्पत्तिमें दैव (भवितव्यता) और पुरुषार्थ दोनोंकी आवश्यकता है दोनों मिले कार्यसम्पन्न होता है अन्यथा नहीं। तथा स्वकाल आनेपर मोक्षप्राप्ति स्वमेव होजायगी ऐसा मानकर जो निरुद्यमी रहता है, मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अतः स्वकालप्राप्तिमें मोक्ष होना माननेवालोंकी शंकाका समाधान करते हुये आचार्य भट्टाकलंकदेव कहते हैं कि—

"कालानियमाच्च निर्जरायाः ६ यतो न भव्यानां

कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति । केचिद् भव्याः असंख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिद् संख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति ततश्च न युक्तं भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः इति"

अर्थात् भव्य जीवोंके लिये मोक्ष जानेमें कोई कालका नियम नहीं है । इसलिये भव्यजीव कालद्वारा मोक्षलाभ करेंगे यह वचन ठीक नहीं है । इसके सम्बन्धमें आपका कहना है कि—

"कुछ विचारक इसे पढ़कर उसपर से ऐसा अर्थ फलित करते हैं कि भट्टाकलंकदेवने प्रत्येक भव्यजीवके मोक्षजानेके कालनियमका पहिले शंकारूपमें जो विधान किया था उसका इस कथन द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है । परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । यह सत्य है कि उन्होंने पिछले कथनका इस कथन द्वारा निषेध किया है । परन्तु उन्होंने यह निषेध नयविशेषका आश्रय लेकर ही किया है सर्वथा नहीं । वह नयविशेष यह है कि पूर्वोक्त कथन एक जीवके आश्रयसे किया गया है और यह कथन नाना जीवोंके आश्रयसे किया गया है । सब भव्यजीवों की अपेक्षा देखा जाय तो सबके मोक्ष जानेका एक काल नियम नहीं बनता, क्योंकि दूरभव्योंको छोड़कर प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका कालनियम अलग अलग है । इसलिये सबका एक कालनियम कैसे बन सकता है ? इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि प्रत्येक भव्यजीवका भी मोक्ष जानेका कालनियम नहीं है तो उसका उक्त कथनद्वारा अर्थ फलित करना उक्त कथन के अभिप्रायको ही न समझना कहा जायगा । अतः प्रकृतमें यही समझना चाहिये कि भट्टाकलंकदेव भी प्रत्येक भव्यजीवके मोक्ष जानेका नियम मानते रहे हैं ।

पंडितजी ! भट्टाकलंकदेवके कथनको आप ही नही समझे या समझ करके भी सोनगढकी पक्षमें आपको समर्थन करना है इसलिये स्पष्ट अर्थको खेंचातानी कर विपरीत अर्थ किया है सो विद्वानोंकी गोष्ठीमें हास्योत्पादक है। क्योंकि शंका एक जीव की अपेक्षा की जाय और उत्तर नाना जीवोंकी अपेक्षा दिया जाय यह वात भट्टाकलंक देव जैसे तार्किक विद्वानोंका काम नहीं है।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमकंटकम्।

अतः भट्टाकलंकदेव द्वारा ऐसा नहीं होसकता है। उन्होंने जिसरूपमें शंका उठाई है उत्तर भी उन्होंने उसीरूप में दीया है। शंकाके शब्द इस रूप हैं—भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः

इसका उत्तार निम्न प्रकार शब्दों में दिया है

ततश्च न युक्तं भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः

अतः प्रश्न भी एक जीवकी अपेक्षा है और उत्तार भी एक जीवकी अपेक्षा है। उनका कहना है कि भव्य जीवों केलिये मोक्ष जानेमे कोई कालका नियम नहीं है। जब जिस भव्यजीवको मोक्ष जानेका सुयोग प्राप्त होजाता है तव तिस भव्य जीवको मोक्ष की प्राप्ति होजाती है। अतः भव्य जीव कालकी अपेक्षा नहीं करते कि हमको जिसकालमें मोक्ष होनी है उसीं कालमें ही हमको मोक्ष की प्राप्ति होगी, पहिले नही होगी ऐसा विचार करके निरुद्यमी नही होते, मोक्ष जाने केलिये प्रयत्न करते ही है।

प० फूलचंदजीने जितने उद्धरण दिये है सव अधूरे दिये है, जैसे भट्टाकलंक देवका अभिप्राय सम्पूर्ण रीतिसे उनको आर

कानजीके मत-विरुद्ध है तो भी उसको उद्धृत कर लोगोंको प्रतारित किया है। आगेका उद्धरण छोड दिया है जिसमें आचार्यने स्पष्टतया काल नियमका निषेध किया है। वे लिखते हैं—

चोदनानुपपत्तेश्च ॥ १० ॥

अर्थ— जो केवल ज्ञानसे ही मोक्ष माननेवाले है वा केवल चारित्रसे, वा ज्ञान चारित्र दोनोंसे अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनोंसे मोक्ष मानते हैं उनके शास्त्रमें यह कहीं नहो मानागया कि भव्यको काललब्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये काल मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नही हो सकता। यदि समस्त मतके अनुयायी मोक्षकी प्राप्तिमें कालही कारण मानेंगे तो प्रत्यक्ष वा अनुमानसे मोक्षके कारण निश्चित हैं वे सब विरुद्ध होजावेंगे इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें काल किसी तरह कारण नही होसकता।

तत्त्वार्थ राजवार्तिकालंकार पृष्ठ १०० वां पूर्वार्द्ध

स्वर्गीय पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थकृत हिंदी अनुवाद।

इसके आगे आपने जो पंचास्तिकायकी गाथा १८ और १ का प्रमाण दिया है उससे भी आपके मन्तव्यकी पुष्टि नहो होती वृथा ही आपने परिश्रम कर कागद काले किये हैं। वे प्रमाण इस प्रकार हैं।

"देवमनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति।१८।

" यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति । सत्पर्यायजातमतिवाहित-स्वकालमुच्छिनत्ति असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति

इसका अर्थ देखिये

"देव और मनुष्यादिपर्यायें तो क्रमवर्ती हैं उनका स्वसमय उपस्थित होता है और वीत जाता है इसलिये वे उत्पन्न होती है और नाशको प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि देव और मनुष्य आदि पर्यायें अपने अपने स्वकालके प्राप्त होने पर उत्पन्न होती हैं और स्वकालके अतीत होने पर नष्ट होजाती हैं । १६ ।

" और जब यह जीवद्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह उपजता है और नाशको प्राप्त होता है ' जिसका स्वकाल वीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है "

सिद्धांत शास्त्रीजी उक्त कथनका (पंचास्तिकायका) ऐसा तात्पर्य निकालते हैं किन्तु पंचास्तिकायके कथनका उक्त आशय नही है। आपने खींचातानी करके भानुमतिका कुनवा जोडनेवाली कहावत यहांपर चरितार्थ की है।

अर्थात् ग्रन्थकारका जो कथन इतना ही है कि देव मनुष्यादिपर्यायें क्रमवर्ति हैं अर्थात् वह एकके पीछे एक उत्पन्न होती हैं तोभी उसमें कालभेद नहीं है इसीलिये आचार्य कहते हैं कि "स्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति" स्वसमयका अर्थ यहां एक समयका है एकसमयमें ही उत्पाद व्यय होता है। स्वसमयका दूसरा अर्थ वर्तमान पर्यायका जो समय है वह उस पर्याय

का स्वसमय है। जैसे मनुष्यपर्यायका स्वसमय मनुष्य आयु पर्यंत है वह उसपर्यायका स्वकाल है वह उसकालमें सत् पर्याय-वान है। जब उसका आयु (स्वकाल) खतम होता है तब उसी-समयमें जो विद्यमान नहीं है ऐसी देवादिपर्याय उसीसमय उत्पन्न होजाती है उसमें कालभेद नही है वही उस देवादिपर्यायका स्वसमय है। अर्थात् जो स्वसमय मनुष्यपर्यायका था वही स्वसमय देवादिपर्यायका है क्योंकि मनुष्यपर्यायका नाश और देवपर्यायकी उत्पत्ति एक ही समयमें होगी इसलिये दोनूं पर्यायों का स्वकाल वही एकसमय है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सतपदार्थकी सिद्धि ही नहीं होगी क्योंकि सत्का लक्षण ही आचार्योंने ऐसा ही किया है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ३० तत्त्वार्थसूत्र" इसलिये उत्पादव्यय दोनोंका स्वकाल एक ही समयमात्र है। ऐसा नहीं है कि मनुष्यपर्यायका नाश होनेके वाद दूसरे समयमें जिस पर्यायका स्वकाल उपस्थित हुआ है वही पर्याय उत्पन्न होगी दूसरी नहीं। यदि ऐसा मान लिया जायगा तो जिसको मनुष्य पर्याय के नाशके वाद देवपर्यायका नम्वर आया है वह यदि मनुष्यपर्याय में पापाचार करता रहै तो क्या उसका नम्वर देवपर्यायमें ही प्राप्त होगा कभी नहीं। 'जैसा करेगा, तेसा भरेगा' यह अटल सिद्धान्त है।

इसी वातका समर्थन पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें किया है।

" वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् "

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी भी इसवातका समर्थन करते हैं देखो मोक्षपाहुड गाथा २५।

" वरवयतवेहि सग्गो माढुक्खं होउ निरइतिरेहिं।

छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ”

टीका—वरं ईषद्रुचौ वरैः श्रेष्ठैव्रतैस्तपोभिश्च स्वर्गो भवति तच्चारु। मादुःखं भवतु निरये नरकावासे इतरैरव्रतैस्तपोभिश्च। छायातपस्थितानां ये छायायां स्थिता अनातपे वर्तंते ते सुखेन तिष्ठंति, ये आतपे घर्मे स्थिता वर्तन्ते ते दुःखेन तिष्ठन्ति।

प्रतिपालयतां व्रतानि अनुतिष्ठतां स्वर्गो भवति तद्वरं संसारित्वेनापि ते सुखिनः। अव्रतानि प्रतिपालयतां नरके दुःखमनुभवतां अतिनिंदितमिति महान् भेदो वर्तते।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी कहते है कि जैसे छायामें तिष्ठना सुखप्रद है तैसे व्रतादि धारण कर स्वर्गादिमें रहना संसारमें सुखदायक है। किन्तु धूपमें तिष्ठना जैसे दुःखदायक है तैसे ही अव्रतसहित रहकर नरकादिकके दुख भोगना संसारमें दुःखदायक है इसलिये दोनो अवस्थाओंमें महान् अन्तर है।

क्या यह कथन मिथ्या है? यदि है तो व्रतादिक धारण करना निष्प्रयोजन है क्योंकि व्रतादिक धारण करने पर भी जो पर्याय जिस समयमें नियत है वह आपके कथनानुसार आगे पीछे तो होगी ही नही, फिर व्रतादिक धारण करना स्वतः निष्प्रयोजन है। यदि यह वात सत्य है तो व्रतादिक धारण करनेसे स्वर्गादिककी प्राप्ति होती है तो नियमितपर्यायका कथन आपका असत्य है। इसके अतिरिक्त आप जो द्रव्यमें भूत भविष्यत् वर्तमानसम्बन्धि समस्त पर्याये विद्यमान मान मान कर एकके पीछे एक उदयमें आती हैं ऐसा कहते हैं उसका खंडन आपके दिये गये पंचास्तिकायके प्रमाणसे होजाता है। क्योंकि उसमें कहा गया है कि—

“ असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति ”

इसका अर्थ करते हुये आप भी स्वीकार करते हैं कि “जिस

का स्वकाल उपस्थित है ऐसे असत (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है"

अब कहिये पंडितजी! आपका कौनसा कथन सत्य माने? द्रव्यमें त्रिकालपर्यायविद्यमानवाला या अविद्यमान असत् पर्याय उत्पन्न होनेवाला? यदि पहिले वाला सत्य मानते हैं तो यह पीछेवाला कथन (असत्पर्यायके उत्पन्नवाला) मिथ्या सिद्ध होता है। यदि यह पीछेवाला कथन सत्य कहा जाय तो इसके पहिलेवाला कथन मिथ्या सिद्ध होता है और इसके साथ साथ नियमित पर्याय वाला कथन भी मिथ्या सिद्ध होजाता है क्यों कि असत् (अविद्यमान) पर्याय की उत्पत्तिमें स्वकालका कोई नियम लागू नहीं पडता इसका कारण यह है कि जब वह पर्याय ही विद्यमान नहीं है तो उसका स्वकाल कैसा? स्वकाल तो उसका माना जासकता है जो वस्तु द्रव्यमें हो, पहले से विद्यमान हो और उसके प्रगट होनेका काल निश्चित किया गया हो तो वह नियमित-कालमें ही प्रगट होगी और जो असत् पर्याय उत्पन्न होगी उसके उत्पन्न होनेमें जैसा निमित्तोंका साधन मिलेगा वह तद्रूप अर्थात् बुरे निमित्त मिलेंगे तो जीवकी नर्कादि बुरी पर्याय उत्पन्न होगी अथवा अच्छा निमित्त मिलेगा तो देवादिककी अच्छीपर्याय धारण होगी। इसमें क्रमबद्धताका कोई नियम नहीं है। तो भी जिसप्रकार धतूरा खानेवालोंको सब ओर पीला ही पीला दिखाई देता है उसी प्रकार पंडितजी! आपको भी सब ओर क्रमबद्धपर्याय ही दिखाई पड़ती है। इसीलिये जो प्रमाण स्वपक्षका घातक है उसीप्रमाणको आप स्वपक्ष मंडनमें देरहे हैं।

मोक्षपाहुड़ और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके आपने जो प्रमाण दिये हैं उनसे भी नियमितपर्यायकी सिद्धि नहीं होती प्रत्युत असिद्धि अवश्य होती है।

"अइसोहण जोएणं शुद्धं हेमं हवेइ जहतहम् ।
कालाइलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदी" २४ मोक्षपाहुड
"कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था ।
परिणममाणेहि सयं ण सक्कदे कोवि वारेदु" २१६ स्वामिका

इन दोनों गाथाओंसे न तो प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होते है आगे पीछे नहीं, यह सिद्ध होता और न निमित्तके विना केवल उपादानकी योग्यता से ही कार्योत्पत्ति होजाती है इसीबातकी सिद्धि होती है। प्रत्युत इससे तो यही सिद्धि होती है कि जिस-प्रकार अनंधपाषाणादि गुरु उपदिष्ट अग्नि आदिक सुयोगसाधन द्वारा शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार कालादिलब्धीके संयोग प्राप्त होने पर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सुवर्णपाषाणको जिससमय विधि-पूर्वक सोधा जायगा वह उसीसमय सुवर्ण होजायगा। वह स्व-कालकी अपेक्षा नहीं रखता। उसीप्रकार संसारी जीवोंको जिस-समय काललब्धि आदिका सुयोग निमित्त प्राप्त होता है वह उसीसमय सिद्ध होजाता है अत: इसमें स्वकालका पचडा लगा-नेकी कोई आवश्यक्ता नहीं,क्योंकि काल लब्धि तो जिसकालमें जो कार्य बने सो काललब्धि, इसलिये काललब्धिका कोई नियत समय नहीं है। तथा होनहार भी जिससमय जो कार्य वन जाय उससमय उसका वह होनहार, अत: इनदोनों का कोई नियतकाल नहीं है। इनको तो बनाया जाता है। इसविषयमें स्व० पं० टोड-रमलजी का यह कहना है कि—

"काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु ही नाहीं जिसकालविषे कार्य वने सो ही काललब्धि और जो कार्य भया सो ही होनहार" मो०प्र०पृ०४६२

इससे स्पष्ट है कि काललब्धि और होनहार को पुरुषार्थद्वारा बनाया जाता है वह अपने आप विनाउद्यम (पुरुषार्थ) के नहीं बनता।

दूसरी गाथाका अर्थ है-कालादिलब्धिके संयोगसे पदार्थ नाना शक्तिसंयुक्त होता है अर्थात् बाह्यनिमित्तोंके मिलनेपर पदार्थ कार्योत्पत्ति करनेमें समर्थ होता है क्योंकि वह परिणमनशील है इसलिये उसके परिणमन करनेमें कोई बाधा नहीं दे सकता है। जैसा कि समयसारमें कहा है—

"पुद्गल परिणामी दरव, सदा परणवे सोय।
यातैं पुद्गलकर्मको, कर्ता पुद्गल होय"

अतः सर्व द्रव्य परिणमन शील हैं इसलिये वे सदा परिणमन करते रहते हैं अन्यथा उनमें उत्पादव्ययकी सिद्धि ही नहीं होती अत एव पदार्थ सर्वदा परिणमनशील हैं इसी बातको दिखानेके हेतुसे उक्त गाथा प्रगट की है। इसके पहिले गाथा २१७ में परिणमनशक्तिका निरूपण करते हुये कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि—

"णियणियपरिणामाणं णिय णिय दव्वं वि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्त वियाणेह" २१७

भावार्थ—जैसे घट आदिकू माटी उपादान कारण है। अर चाक दंडादि निमित्त कारण हैं। तैसे सर्वद्रव्य अपने अपने पर्यायकू उपादान कारण हैं। काल द्रव्य निमित्त कारण है।

इससे स्पष्ट है कि कार्यरूप स्वयं द्रव्य परिणमन करता है। किन्तु उसमें बाह्य निमित्त कारण हैं। ऐसे सर्वद्रव्य अपने पर्यायकू उपादानकारण हैं, काल द्रव्य निमित्त कारण है।

इससे स्पष्ट है कि कार्यरूप स्वयं द्रव्य परिणमन करता है किन्तु उसमें बाह्य निमित्तकी आवश्यक्ता अनिवार्य है। जैसे घटरूप

मिट्टीका परिणाम है पर उसपरिणमनमें कुंभकारादि निमित्त कारणकी अनिवार्य आवश्यक्ता है। विना कुंभकारादि निमित्तोंके स्वयं उपादान मिट्टीकी योग्यतासे घटकी उत्पत्ति नहीं होती तैसे ही सर्वकार्यमें निमित्तकारणोंके विना केवल उपादानशक्तिकी व्यक्ति नहीं होती यह नियम है।

कार्योत्पत्तिमें आप निमित्तकारणोंको अकिंचित्कर मान कर भी कार्योत्पत्तिके समय निमित्त स्वय उदासीन रूपमें उपस्थित होजाते हैं किन्तु वे निमित्तकारण कार्योत्पत्तिमें कुछ भी प्रेरणा नही करते और न उपादानमें कार्योत्पत्तिकी शक्तिमें योग्यता प्राप्त कराते हैं। कार्योत्पत्ति उपादानके अनुसार ही होती है निमित्त केवल निमित्तमात्र उपस्थित होते है इतनी वात जरूर स्वीकार करते है कि विना निमित्तकी उपस्थितिके कार्य नहीं होता।

पंडितजी कहते हैं कि "यहांतक जो हमनें उपादानकारणके स्वरूपकी मीमांसाके साथ प्रसंगसे उपादानकी योग्यता और स्वकालका विचार किया उससे यह स्पष्ट होजाता है कि जो क्रियावान् निमित्त प्रेरक कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तोंके समान कार्योत्पत्तिके समय मात्र सहायक होते हैं। इसलिये जो लोग इस मान्यतापर वल देते हैं कि जहां जैसे निमित्त मिलते हैं वहां उनके अनुसार ही कार्य होते है उनकी वह मान्यता समीचीन नहीं है। किन्तु इसके स्थानमें यही मान्यता समीचीन और तथ्यको लिये हुये है कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शुद्ध द्रव्यसम्बन्धी हो और चाहे अशुद्धद्रव्य सम्बन्धी हो अपने अपने उपादानके अनुसार ही होता है। उपादानके अनुसार ही होता है इसका यह अर्थ नहीं है कि वहां निमित्त नहीं होता, निमित्त तो वहांपर भी होता है। पर निमित्तके रहते हुये भी कार्य उपादानके अनुसार ही होता है। यह एकान्त सत्य है। इसमें सन्देहके लिये स्थान नहीं है। यहां

कारण है कि मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको अनादिरूढ लोकव्यवहारसे मुक्त होकर अपने द्रव्यस्वभावको लक्षमें लेना चाहिये ऐसा उपदेश दिया जाता है ”

पंडितजी ! आप जैसा कहते हैं वैसा उपदेश आचार्योंने तो नहीं दिया है आपकी और कानजीस्वामीकी ऐसी मान्यता है उसमें आपको और उनको संदेह हो ही कैसे सकता है ? आपको और कानजीस्वामीका संदेह है तो आचार्यवचनोंमें है। इसलिये उनको झूठा तो लोक भयसे कह नहीं सकते पर प्रकारान्तरसे उनको झूठा सिद्ध करनेमें और अपनी मान्यता सत्य सिद्ध करनेमें किसी प्रकार को आप लोगोंने कमी नहीं रखी । जो हो, आप लोगोंके प्रयत्नसे आचार्यवचन कभी मिथ्या नहीं होसकते क्योंकि आचार्योंके वचन केवली भगवानके ही वचन हैं आचार्य अपनी तरफसे कुछ नहीं कहते । वे तो केवली भगवानके वचनोंका ही प्रतिपादन करते हैं इसलिये उनके वचन मिथ्या नहीं होसकते ।

उपादानकी योग्यता भी विना निमित्त के प्रगट नहीं होती मिट्टीमें घट उत्पन्न करनेकी योग्यता शक्ति रूपसेविद्यमान रहने पर भी खानसे मिट्टी निकाल कर चाकके सामने रख देनेसे वह मिट्टी घटरूप परिणमन नहीं करती । उसमट्टीमें घटरूप परिणमन करने की योग्यता स्वमेव प्राप्त नहीं होती । कुंभकारके द्वारा उस मिट्टीमें पानी देनेसे उसको गूंदनेसे पीटने से उस मिट्टीमें घटरूप परिणमन करनेकी योग्यता जो शक्तिरूप विद्यमान थी वह व्यक्त रूप प्रगट होती है अन्यथा नहीं । फिर भी वह मिट्टी अपना योग्यतासे स्वमेव घटादिरूप परिणमन नहीं करसकती । उसको कुंभकार अपनी इच्छाअनुसार घटरूप परातरूप हांडीरूप दीपकरूप शिकोरा रूप परिणमाता है वह उसरूप परिणमन करती है । यह प्रत्यक्ष है इसीवातकी पुष्टिमें आचार्य अमृतचन्द्र कलश रूप काव्य कहते हैं ।

न जातु रागादि निमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्"

अर्थात् जिसप्रकार सूर्यकान्तमणि स्वयं अग्निरूप परिणमन नहीं करती उसीप्रकार आत्मा कभी भी स्वमेव रागादिरूप परिणमन नहीं करता। परन्तु जिसप्रकार सूर्यकान्त मणीमें अग्निरूप परिणमनकरनेकी योग्यता विद्यमान होतेहुये भी सूर्यकी किरणोंका जबतक निमित्त नहीं प्राप्त होता है तबतक वह अग्निरूप परिणत नहीं होती जब उसको सूर्यकी किरणोंका निमित्त मिलता है तब वह अग्निरूपमें परिणत होजाती है। उसीप्रकार आत्मामें रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता वैभाविकी शक्तिद्वारा विद्यमान है तो भी वह स्वयं रागादिरूप विना निमित्तके परिणमन नहीं करता। जब उसको रागादिरूप परिणमन करनेका निमित्त मिलता है तब ही वह रागादिरूप परिणमन करता है अन्यथा नहीं।

इस कथनसे निमित्तके विना उपादान स्वयं कार्यरूप नहीं परिणमन करता है और वह प्रेरक निमित्तके अनुसार परिणमन करता है ऐसा सिद्ध होता है।

प्रेरक कारणका निषेध करते हुये सिद्धान्त शास्त्रीजीने पंचास्तिकायकी गाथाकी टीका उद्धृत की है उससे प्रेरक कारणका निषेध नहीं होता प्रत्युत सिद्ध ही होता है।

"यथा हि गतिपरिणतः प्रभंजनो वैजन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते, न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणत्वेनोदासीन एवासौ गते प्रसरो भवति"

अर्थात् जिसप्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतु-कर्ता दिखाई देता है उसप्रकार धर्मद्रव्य नहीं। इसका कारण यह है कि पवन प्रेरक निमित्तकारण है इसलिये जिस तरफकी हवा चलती है उसीतरफ वह ध्वजाको फहराती है किन्तु धर्मद्रव्य निष्क्रिय उदासीन निमित्तकारण है इसलिये वह जीव और पुद्गलद्रव्यको गमन करनेमें सहकारी कारण है जिसप्रकार पानी (जल) मीनको गमनकरानेमे सहकारी कारण है।

इस कथनसे प्रेरककारणकी सिद्धि ही होती है खंडन नही होता। अतः जैनागममें उदासीनकारण, सहायक कारण, वलदानकारण, और प्रेरक कारण इसतरह निमित्तकारणोंकी संख्या अनेक प्रकार वतलाई है। जिस कार्योत्पत्तिमें जिस निमित्तकी आवश्यक्ता होती है वह कार्य उसनिमित्तके विना नहीं होसकता। यदि होता है तो एकादि उदाहरणस्वरूप वतलानेकी कृपा करें। केवल कहदेनेसे काम नहीं चलता।

उपादान निमित्तसंवादने आप—निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्धकरनेमें उद्धृत किया है किन्तु उससे भी निमित्तकारणकी अकिंचित्करता सिद्ध नहीं होती प्रत्युत निमित्तकी प्रवलता ही सिद्ध होती है।

भैया भगौती दासजीने निमित्तकी हारमें जो आखरी दोहा कहा है उससे भी निमित्तकी जीतकीही सिद्धि होती है। देखो वह दोहा ४०

"तव निमित्त हारयो तहां अव नहीं जोर वसाय।
उपादान शिवलोकमें पहुँच्यो कर्म खिपाय"।

अर्थात उपादान जव शिवलोकमें पहुंच जाता है तव वहांपर निमित्तका कुछ जोर नहीं चलता। यह वात सत्य है क्योंकि वहां पर निमित्तका कार्य कुछ भी न रहा किन्तु इसके पहिले तो

निमित्तका ही वोलवाला रहा। अथवा निमित्त जब स्वयं उपादानको हस्तावलम्बन देकर शिवलोकमें पहुंचा देता है तब उसकी हार कैसी ? वह तो परोपकारी रहा। उपादानको शिवपुर पहुंचा कर सदाके लिये सुखी वना देता है। निमित्तका आखरी दोहा यह है।

"सम्यग्दर्शन भये कहा त्वरित मुक्तिमें जाहिं।
आगे ध्यान निमित्त है वहे मोक्ष पहुंचाहिं" ३६

यह वात सत्य है ध्यानके विना मोक्षकी सिद्धि नहीं होती मोक्षप्राप्तिमें ध्यान प्रधान कारण है। कहा भी है।"परे मोक्षहेतू" २६ "परे केवलिनः" ३८ तत्त्वार्थसूत्र अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान ये दोनों ही ध्यान मोक्षके हेतु हैं जिसमें शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका हेतु है इसके विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती अतः ध्यानरूपीनिमित्त कारण जीवको मोक्षमें पहुंचा देता है। निमित्तकारणकी अंतिम सीमा यहीं तक है इसलिये वह अपनी सीमाको उलंघन कर आगे नहीं जाता। तथा आत्मा अपने घरमें पहुंच जाता है फिर उसको वाहर फिरनेकी जरूरत नहीं पडती इसलिये वहां पर उसको निमित्त की जरूरत भी नहीं रहती। इसदृष्टिकोणको लक्षमे लेकर भैया भगोतीदासजीने हार जीतकी वात लिखी है। वास्तवमे देखा जाय तो इसमें हार जीत किसी की नहीं है। सव अपने अपने स्वभावमे स्थित हैं।

सम्यक्त्वकी प्राप्ति भी विना निमित्तके नहीं होती इसलिये भैया भगोती दासजीके उक्त दोहासे कोई यह न समझले कि सम्यक्त्व की प्राप्ति तो स्वमेव विना निमित्तके ही होजाती होगी किन्तु यह वात नहीं है वह भी विना निमित्तके स्वमेव नहीं होता संसार अवस्था में उपादान का कार्य निमित्त मिलनेपर ही होता है अन्य प्रकारसे नहीं।

भैया भगोती दास जीने उपादानकी तरफ से जो यह दोहा कहा है वह सर्वथा आगमविरुद्ध पडता है।

" छोर ध्यानकी धारणा और योगकी रीत।
तोरि कर्मके जालको, जोर लई शिवप्रीत " ३६

इस दोहाका अर्थ पं० फूलचन्द्रजीने निम्नप्रकार किया है। सो सत्य है इस दोहाका अर्थ ऐसा ही वैठता है।

" जो जीव ध्यान की धारणाको छोडकर और योगकी परिपाटीको मोड कर कर्मके जालको तोड देते हैं वे मोक्षसे प्रीति जोडते हैं। अर्थात् मोक्ष जाते हैं "

संभव है, कानजी स्वामी और आप इसीलिये निमित्तको अकिंचित्कर समझ रहे है किन्तु पंडितजी ! ऐसा एकाध तो उदाहरण पेस करिये कि ध्यानकी धारणा को छोडकर योगोंसे मुहमोडकर कर्मोंको तोड कर अमुक अमुक जीव मोक्ष गये। जिनागम तो ऐसा नहीं कहते कि ध्यानकी धारणा को छोडने वाले जीव कर्मोंको काट सकते हैं और मोक्ष जासकते हैं। जिनागम तो डंके की चोट यह कहते हैं कि—

"इदानीं शुक्लध्यानं निरूपयितव्यम्। तद्वक्ष्यमाणचतुर्विकल्पम्। तत्राद्ययोः स्वामिनिर्देशार्थमिदमुच्यते "

अर्थात् शुक्लध्यानके चार भेदोंमें आदिके दोय ध्यानके स्वामी कौन होते हैं उसका आचार्य यहां निरूपण करते हैं —

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥ तत्त्वार्थसूत्रे

टीका—पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं श्रेण्यां शुक्ले इति व्याख्यायते।

अर्थात् प्रथमके दो शुक्लध्यान पूर्वधारी यतियोंके श्रेणी आरोहण के समय होते हैं। पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क इन दोनों ध्यानो में प्रथम पृथक्त्ववितर्क ध्यान तीन योगोंके सहारे होता है। दूसरा एकत्ववितर्क ध्यान तीनो योगोंमें से किसी एक योगके सहारे होता है।

त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कं त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कं ऐसा आगमवाक्य है। इसके आगे सयोगकेवलीका ध्यान काय-योगके सहारे होता है और अयोगकेवलीका ध्यान योग रहित होता है।

"काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति"

इस कथनसे स्पष्ट होजाता है कि सयोगकेवलीतक योगोंके सहारे ही ध्यान होता है और वह ध्यान ९ वर्ष घाट कोटिपूर्वतक भी होता है इसके आगे अयोगकेवलीका ध्यान योगरहित होता है उसका काल पंच लघु अक्षर उच्चारणमात्र है इस पंच लघु अक्षर उच्चारण करनेमें जितना समय लगता है उतने समय में कर्मकी एकसोअठतालीस प्रकृतियोमें से ८५ पिचासी प्रकृतियों को "व्युपरतक्रियानिवर्ती" ध्यान के द्वारा नष्ट करके कर्मरहित होकर मोक्षमें यह जीव पहुंच जाता है। इसके पहिले एकत्ववितर्क दूसरे ध्यानके द्वारा ६३ त्रेसठ प्रकृतियोंका नाश कर यह जीव केवली वन जाता है। यह ध्यानकी महिमा है। इसकी धारणा छोडनेवाले और योगोंसे मुंह मोडनेवाले कर्मोको किस प्रकारसे तोडकर मोक्ष जासकते हैं सो शास्त्रीजी उदाहरणपूर्वक बतावें। अन्यथा उक्तकथनको मिथ्या स्वीकार करें। यदि कहो कि यह कथन चउदहवेंगुणस्थानके अंतसमयका है इसलिये मिथ्या

नहीं क्योंकि वहां पर न ध्यान है और न योग है कर्मोंका क्षय होही जाता है। तो ठीक है पर चउदवे गुणस्थानतक तो ध्यान का निमित्त है यह बात तो सिद्ध होचुकी। चवदवें गुणस्थानके अंतसमय तो मोक्षप्राप्ति में समयभेद भी नहीं है जिससमय उक्त गुणस्थानका अंत हुआ उसीसमय में मोक्ष की प्राप्ति हुई। फिर हार जीत किसकी? उपादान अपने ठिकाने पहुंचे और निमित्त अपने ठिकाने रहे। दोनोंके परस्परका संबंध छूट गया। जब तक मोक्षप्राप्ति उपादानको न हुई तब तक निमित्तका संबंध रहा। इस कथनसे भी निमित्तकी हार नही हुई। प्रत्युत निमित्तकी सार्थकता ही सिद्ध हुई। अतिम निष्कर्ष भैया भगोतीदासजी ने जो निकाला है उससे भी निमित्तकी सार्थकता ही सिद्ध होती है।

"उपादान अरु निमित्त ये सब जीवनपै वीर।
जो निजशक्ति सम्हाल ही सो पहुंचे भवतीर" ४२

अर्थात् निमित्त और उपादानका सम्बन्ध सबजीवोंके साथ है किन्तु जो जीव अपनी शक्ति (भेदविज्ञान) से निमित्तके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करलेते हैं वे जीव संसारसे पार होजाते हैं। जिसप्रकार पोत (नाव) के द्वारा नदी मे मुसाफिर पार होजाते हैं उसीप्रकार निमित्तके सहयोगसे यह संसारी जीव संसार समुद्रसे पार हो जाते हैं। उपरोक्त दोहा का यह तात्पर्य है। अतः भैया भगोतीदासजी कहते हैं कि—

उपादान अरु निमित्तको सरस बन्यो सम्वाद।
समदृष्टि को सरल है, मूरखको बकवाद ४४

अर्थात् उपादान और निमित्तका यह मैंने सरस सम्वाद

बनाया है। जो ज्ञानी समदृष्टि कहिये समान दृष्टि है जैसा को तैसा मानने वाले समझनेवाले हैं उनके लिये तो यह सम्वाद समझने में सरल है। किन्तु जो मिथ्यादृष्टि है मूर्ख है उनकेलिये तो केवल बकवाद ही है दोहाका ऐसा तात्पर्य है।

प्रेरक निमित्तवादीकी तरफसे शंका उठा कर आपने जो समाधान किया है वह उस शंकाका समधान नहीं है। किन्तु हर एक साधारणव्यक्तिके समझमें ही नहीं आसकता कि प्रश्नका उत्तर हुआ या नहीं इसढंगसे आपने वाक्यपटुतासे काम लिया है। खैर समीक्षामें सब खुलासा होजायगा।

"प्रेरक निमित्तवादी कहेगा कि हमारी मान्यताका आशय यह है कि विवक्षित द्रव्यसे कार्य तो उसीके अनुरूप होगा पर हम वह कार्य आगे पीछे हो यह कर सकते हैं। उदाहरणार्थ जो आमका फल १५ दिन वाद पकेगा उसे हम प्रयत्नविशेषसे १५ दिन से पहले पका सकते हैं या जो फल ४ दिनमें नष्ट होनेवाला है उसे हम प्रयत्न विशेषसे चार माहतक रक्षित रख सकते है। यही हमारी या अन्य निमित्तोंकी प्रेरकता है परन्तु जब प्रेरक वादीके इस कथन पर विचार करते हैं तो इसमें रंचमात्र भी सार प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिसप्रकार तिर्यक्प्रचयरूपसे उपस्थित द्रव्यका एकप्रदेश उसीके अन्यप्रदेशरूप नहीं हो सकता एक गुण अन्य गुणरूप नहीं होसकता अथवा एक- द्रव्यके प्रदेश अन्य द्रव्यके प्रदेशरूप नहीं होसकते या एक द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके गुणरूप नहीं होसकते उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्यकी ऊर्ध्व-प्रचयरूपसे अवस्थितपर्यायों में भी परिवर्तन होना संभव नहीं है। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायें तुल्य है। उनमेंसे जिस पर्यायका जो स्वकाल है उसके प्राप्तहोने पर ही वह पर्याय होती है" पृष्ठ ६४ जैनतत्त्वमीमांसा। पंडितजी! जिस शंकाका

समाधान अपनेसे न बने वैसी शंकाको उपस्थित करना विद्वानों का काम नहीं है।

शंका तो थी प्रेरक निमित्तके सम्बन्धमें कि प्रेरकनिमित्त द्वारा जो आम १५ दिन बाद पकनेवाला था उसे प्रयत्न द्वारा चार दिन में ही पका सकते हैं। अथवा जो आटा ४ दिन में नष्ट होने वाला है (चलितरस होने वाला है) उसे हम पौडर आदि के प्रयोगद्वारा चार माह नष्ट नही होने देते हैं इसलिये प्रेरक निमित्त द्वारा कार्यकी सिद्धि होती है इसके माननेमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है। अतः इस आशयके प्रश्नका उत्तर आपको प्रेरक निमित्त के निषेध में उदाहरण पूर्वक देना था जैसी शंका उदाहरणपूर्वक की गई है वैसा समाधान उदाहरणपूर्वक करना था जिससे सबके गले उतर जाता परन्तु सत्य बात असत्य कैसे कीजाय ! नहीं की जासकती इसकारण प्रश्नका उत्तर न बननेसे आपने असली बातको छिपाकर असंबद्ध उत्तर देदिया, इस ढंगसे कि साधारण लोग न समझ सकें कि उत्तर ठीक बना या नहीं।

एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप नहीं परिणमन करता अथवा एक द्रव्यका गुण अन्य द्रव्यके गुणरूप परिणमन नहीं कर सकता यह तो द्रव्यगत स्वभावकी बात है इसके साथ तो प्रेरकनिमित्तका सवाल ही नहीं उठता। तथा स्वद्रव्यमें एक गुण अन्य गुणरूप परिणमन नहीं करता यह भी द्रव्यगत स्वभाव है तथा अगुरुलघु नामका एक गुण है वह सब द्रव्योंमें पाया जाता है उस गुणका कार्य सब द्रव्य के सब गुणोंकी सीमा बांध रखना है किसी द्रव्य या गुणको अपनी सीमाको उलंघन नहीं करने देता इसकारण सब द्रव्य और सब द्रव्योंके गुण ये सब अपने अपने स्वरूप में सदा अवस्थित रहते हैं अपने स्वरूपसे ये च्युत नहीं होते इसलिये इसके साथ प्रेरक निमित्तका सम्बन्ध ही क्या है !

कुछ नहीं अर्थात् ज्ञान कभी दर्शन नहीं होता अथवा दर्शन कभी ज्ञान नहीं होता इसलिये इसके साथ प्रेरकनिमित्तका सम्बन्ध लागू नहीं होता। किन्तु जो गुणोंका परिणमन है उसके साथ प्रेरकनिमित्तका सम्बन्ध अवश्य है जैसा कि शंकामें आमादिके रसके परिणमन में बताया गया है। जो आमके रसकी अभी खट्टी पर्याय है और वह पक कर पंद्रह दिन बाद मीठी होगी तो उसको प्रेरक निमित्त चार दिन से मीठी पर्याय बना सकता है तथा आटेके रस गुण की वर्तमान में मीठी पर्याय है वह चार दिन बाद खट्टा होनेवाली थी उसको प्रेरक निमित्त चार माह तक खट्टी पर्याय नहीं होने देता यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो अविपाक निर्जराका स्वरूप ही नहीं बनेगा और किसी जीवको सविपाक निर्जरा द्वारा मोक्ष नहीं होगी सब शास्त्र झूठे होजांयगे। पंडित जी! आप द्रव्य में जिसप्रकार गुण सदा विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार द्रव्य में पर्याय भी सदा विद्यमान मानते हैं और उसका क्रमबद्ध स्वकाल में उदय आना मानते है यह आपकी आगमविरुद्ध मान्यता है, इसीलिये आप कहते हैं कि—"प्रत्येक द्रव्यकी ऊर्ध्वप्रचयरूपसे अवस्थित पर्यायों में भी परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्य पर्यायें और गुणपर्यायें तुल्य है उनमें से जिसपर्याय का जो स्वकाल है उसके प्राप्त होनेपर ही वह पर्याय होती है" पृष्ठ ६४ जैन मी०

पंडितजी! जब स्वभावसे आम १५ दिन बाद पकनेवाला था वह प्रेरणाद्वारा चार दिन में पका दिया अथवा जो आटा चार दिन मे नष्ट होनेवाला था उसे प्रेरणापूर्वक चार मास तक सुरक्षित रक्खा तब उसका स्वकाल कहां गया? स्वकाल तो तब माना जाता जब कि वह प्रेरणाद्वारा आगे पीछे न होकर ठीक समय पर पकता या नष्ट होता सो तो होता नहीं, निमित्तानुसार

वह आगे पीछे भी होता देखा जाता है उसे मिथ्या कैसे कहा जासकता है! इसलिये कार्योत्पत्तिमें एवं द्रव्यके परिणमन में कालका कोई नियम नहीं है, वह निमित्तके अनुसार कार्योत्पत्ति या द्रव्यकी पर्याय होजाती है।

यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो अकालमृत्यु, कर्मोंका उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमणादि कोई भी व्यवस्था बन नहीं सकेगी यदि बन सकती है तो उदाहरणपूर्वक बतानेकी कृपा करें। हम देखते हैं और आगममें उदाहरण भी पाते हैं कि सप्त व्यसनी जीव उमरभर अशुभ कर्मोंको बान्धता है और उनकी स्थिति सागरों पर्यंत होती है तथा उनका अनुभाग भी बहुत कटु होता है तोभी यदि वह शेष समयमें अच्छे निमित्तादि मिलने पर सुधर जाता है तो वह नर्कादिगतियोंके दुख न भोग कर स्वर्गादिमें सुख भोगता है। अर्थात् अशुभबन्धका उदय उसके शुभरूपमें परिणत होजाता है। अथवा ? व्यसनी जीव गुरु आदिके उपदेशसे जिनदीक्षा धारण कर उन सब कर्मोंको काटकर शिवधाममें प्राप्त होजाता है। कर्मके संयोगसे सागरापर्यन्त उदयमें आनेवाली सर्व पर्यायोंको क्षणभरमें नष्ट कर दिया जाता है अतः पंडितजीके कथनानुसार तो उसको इतनी जलदी मोक्ष नहीं होनी चाहिये अथवा अशुभकर्मका शुभरूप में और शुभकर्मका अशुभरूपमें भी परिणमन नहीं होना चाहिये जिसने जैसा कर्मोंका बन्ध किया है उनकी जितनी स्थिति पड़ी है और उनमें जैसा अनुभाग रस पड़ा है उनके अनुसार ही उसको (उपादानको) कर्मके उदयानुसार ही क्रमबद्ध पर्यायोंका स्वकालमें ही फल भोगना चाहिये आगे पीछे नहीं अथवा उदयमें आनेवाली कर्मपर्यायें नष्ट भी नहीं होना चाहिये क्योंकि आगे पीछे उदयमें आनेसे अथवा नष्ट होजानेसे पंडितजी के स्वकालका नियम नहीं रहता। कहांतक कहें, पंडितजी एक तो

वातकी गलती हो तो उसका सुधार भी होसकता है किन्तु जिस का धान ही बिगड चुका है उसका सुधार कैसे होय ? अर्थात् नहीं होय ।

ऐसा एक भी आगमप्रमाण नहीं मिलता जो कि यह जीव शुभाशुभ कर्म कैसे ही करते जावें किन्तु उसका फल बन्धके अनुसार न मिलकर जो भविष्यमें नियत समयमें जो पर्याय उदयमें आनेवाली है उसके अनुसार ही फल मिलेगा । परन्तु आपके कथनानुसार जीवके साथ त्रिकालसम्बन्धी पर्यायें विद्यमान रहती हैं उसमेंसे जो भविष्यकालमें क्रमवार जो पर्यायें होनेवाली हैं वही होगी, कर्मबन्धके अनुसार नहीं होगी यह बात जैनागमसे सर्वथा विपरीत है । ऐसा माननेसे न तो घरबार छोडकर तपश्चरण करनेकी ही जरूरत है और न पापसे डरनेकी ही जरूरत है क्योंकि हमारी आत्माके साथ जो भविष्यमें उदयमें आनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें विद्यमान हैं उन्हीमेंसे क्रमबद्ध उदयमें नियत-समयमें आवेगी उसके अतिरिक्त टससे मस और कुछ होनेवाला नहीं है । फिर हमको तपश्चरण करनेकी और पापकर्मकरनेसे डरनेकी जरूरत ही क्या है ? क्योंकि उसका फल तो हमको मिलेगा ही नहीं, फल तो हमको स्वकालमें उदयमें आनेवाली पर्यायके अनुसार ही भोगना पड़ेगा जो जीवके साथ नियत है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि जो वर्तमानमें शुभ अशुभकर्म करते हैं अथवा जो पूर्वमे शुभाशुभकर्म किये हैं उनसबका परिणमन स्वकालमे उदयमें आनेवाली पर्यायानुसार होजाता है इसलिये शुभाशुभ कर्मबन्धके अनुसार उदयमें न आकर बन्धका संक्रमण स्वकालमें उदयमें आनेवाली पर्यायके अनुसार होजाता है, परन्तु इसकेलिये भी कोई आगमप्रमाण होना चाहिये । विना प्रमाणके सब अप्रमाण है तोभी थोडीदेरके लिये यदि हम आपके कथनको

सत्यभी मानलें तो भी इस कथनसे नियत समयमें होने वाली पर्यायके अनुसार शुभाशुभ कर्मबन्धका परिणमन होजाता है यह सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि बन्ध होनेके बाद सबही कर्मोंका क्रमबद्ध पर्यायके अनुसार संक्रमण होता ही रहे। निमित्तानुसार किसी कर्मका उत्कर्षण किसीका अपकर्षण किसीका संक्रमण, किसीकी उदीरणा, किसीका सत्तामें ही उदय आये बिना ही नष्ट होजाना और किसीका जैसा बन्ध किया है वैसा ही उदयमें आना इत्यादि कर्मोंकी निमित्तानुसार अनेक अवस्था होती हैं इसलिये क्रमबद्ध नियम पर्यायानुसार सर्वकर्मों का संक्रमण होकर परिणमन होजाय यह बात बनती नहीं। निकांचित कर्मका कुछ भी हेरफेर नहीं होता जैसा बन्ध किया है वैसा ही उदयमें आता है। इसलिये पर्यायका कोई स्वकाल निश्चित नहीं है वह तो नवीन नवीन उपजती है और नष्ट होती है इस बातको ऊपरमें आगम प्रमाणसे सिद्ध कर आये हैं अतः जीवके साथ त्रिकाल सम्बन्धी सर्व पर्याय विद्यमान अवस्थित रहती हैं यह आपकी मान्यता सर्वथा आगमविरुद्ध है।

आयुकर्मका बन्ध त्रिभागीमें होता है उसकी आठ त्रिभागी होती है आठ त्रिभागीमें यदि आयुकर्मका बन्ध न हुआ हो तो "अंतमता सो मता" अर्थात् अंत समयमें जैसा परिणाम होता है उसके अनुसार आयुका बन्ध हो जाता है। अतः यह बन्ध क्रमबद्ध पर्यायके अनुसार ही हो ऐसा नियम नहीं है और ऐसा नियम हो भी नहीं सकता है। इसका कारण यह है कि कर्मोंका बन्ध तो समय समय प्रति अपने परिणामोंके अनुसार बन्धता रहता है और उनकी स्थिति और अनुभाग बन्ध भी परिणामोंके अनुसार ही होता है। तथा वर्तमान परिणाम भी वर्तमान शुभाशुभ निमित्तोंके अनुसार ही होते हैं। परन्तु ऐसा कोई कहीं पर

भी आगम प्रमाण देखनेमें नहीं आता कि भविष्यमें स्वकालमें उदयमें आनेवाली पर्यायके आकर्षणसे आत्माके पहिले ही उस रूप परिणाम होकर वन्ध भी स्वकालमें उदयमें आनेवाली पर्यायके अनुसार सत्तर कोडाकोडी तीस कोडाकोडी आदि स्थितिको लेकर होता हो और फिर वह स्वकालमें उदयमें आनेवाली पर्यायके अनुसार उदयमें आता रहै। यदि ऐसा आगम प्रमाण आपको कहीं मिला हो और उसीके वल पर आप क्रमवद्ध पर्यायका समर्थन करते हों तो उसको प्रगट करें अन्यथा क्रमवद्ध पर्यायका समर्थन स्वकाल पर्यायके रूपमें, क्रम नियमित पर्यायके रूपमें, स्व सम्यक्नियति रूपमें, कर रहै हैं सो सर्व मिथ्या है। क्योंकि आत्माके साथ एक वर्तमान पर्यायको छोडकर और कोई भी भूत भविष्यत पर्याय विद्यमान नहीं रहती जो क्रम क्रम से नम्बरवार उदयमें आती रहै। पर्यायें तो असत् ही समय समय प्रति उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती जाती है। इसका स्पष्टीकरण स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २४३ २४४ द्वारा ऊपरमें कर आये हैं फिर भी यहां प्रकरणवश और भी उसको उद्धृत कर देते हैं।

शंका—द्रव्यविषे पर्याय विद्यमान उपजे हैं या अविद्यमान उपजे हैं? इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि—

"जदि दव्वे पज्जाया विविज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला पडपिहिदे देवदत्तिव्व" २४३

भावार्थ—जो द्रव्यविषे पर्याय हैं ते भी विद्यमान हैं तिरोहित कहिये ढके हैं। ऐसा मानिये तो उत्पत्ति कहना विफल है (मिथ्या है) जैसे देवदत्त कपडासूं ढक्या था ताको उघाड्या तव कहै कि यह उपज्या सो ऐसा उपजना कहना तो परमार्थ नहीं, तातें अविद्यमान पर्यायकी उत्पत्ति कहिये।

"सव्वाणपज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ति ।
कालाई लद्धीए अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि" २४४

भावार्थ—अनादि निधन द्रव्य विषे काल आदि लब्धीकरि सर्व पर्यायनिकी अविद्यमानकी ही उत्पत्ति है। अर्थात् अनादि निधन द्रव्यविषे काल आदि लब्धिकरि पर्याय अणछती अविद्यमान ही उपजे हैं। ऐसा नाहीं कि सर्व पर्याय एकही समय विद्यमान हैं ते ढकते जाय हैं किन्तु समय समय प्रति क्रमते नवे नवे ही उपजे हैं। द्रव्य त्रिकालवर्ती सर्वपर्यायनिका समुदाय है, कालभेदकरि क्रमते पर्याय होय हैं।

तात्पर्य यह है कि—द्रव्यके और पर्यायके धर्म और धर्मीकी विवित्ता करि भेद है किन्तु वस्तुस्वरूपकरि द्रव्य और पर्याय अभेदरूप ही है। इस दृष्टिसे कथंचित् द्रव्य त्रिकाल पर्यायोंका समुदाय कहागया है न कि विद्यमान पर्यायोंकी अपेक्षासे कहा गया है? यदि विद्यमान पर्यायोंकी अपेक्षासे द्रव्यको त्रिकाल पर्यायोंका समुदाय कहा गया हो तो इस बातका स्वयं ग्रथकार निषेध किसलिये करते? इसलिये यही मानना पडता है कि द्रव्य गुण पर्याय अभेदस्वरूप होनेसे द्रव्यमें कालादि निमित्त कारणोंके अनुसार समय समय प्रति नवीन नवीन ही पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट होती जाती है। विद्यमानकी उत्पत्ति कहना अपरमार्थभूत है क्योंकि वह विद्यमान तो है ही, उसकी उत्पत्ति कैसी? इसलिये अविद्यमानकी ही उत्पत्ति कही जाती है ऐसा न्याय है। द्रव्यमें न तो भूतकालीन सर्व पर्यायें भी विद्यमान रहती है और न भविष्यत्कालीन सर्व पर्यायें ही विद्यमान रहती हैं सिवाय वर्तमान पर्यायके, सो भी स्वकाल बीत जानेसे अर्थात् उस पर्यायका काल खतम हो जानेसे वह नष्ट हो जाती है और उसी समय पर

कालादि निमित्त पाकर दूसरी पर्याय अपने स्वकालमें नवीन ही उत्पन्न हो जाती है। जैसे मनुष्यपर्यायका स्वकाल खतम होजाने पर मनुष्य पर्याय नष्ट हो जाती है उसी समय उदयमें आनेवाली देवपर्याय उत्पन्न हो जाती है। देव पर्यायके उदय का स्वकाल और मनुष्यपर्यायका अंतका स्वकाल यह दोनूं का स्वकाल एक समय मात्र है अर्थात् समयभेद नही है जिस समय मनुष्यपर्यायका स्वकाल नष्ट होता है उसी समय देवपर्यायका स्वकाल उदयमें आता है इस कारण यह जीव मनुष्यपर्यायसे छूटकर देवपर्यायको धारण कर लेता है। मनुष्य और तिर्यंच पर्यायका स्वकाल पूरा प्राप्त न हो कर बीचहीमें नष्ट हो सकता है। "औपपादिकचरमोत्तम देहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" तत्त्वार्थसूत्र अध्याय२ सूत्र ५२

इसकथनसे देवनारकी तथा चरम उत्तमशरीर वाले तीर्थंकर तथा भोगभूमिज इनका आयु विष शस्त्रादिकसे नष्ट नही होती इनके अतिरिक्त सब जीवोकी आयु विष शस्त्रादिकसे नष्ट भी हो जाती है इस कारण इनकी आयुका स्वकाल बीचहीमें खतम होजाता है और उसी समय दूसरी पर्यायका स्वकाल उदय मे आजाता है। यह सब पर्यायें जीवके साथ विद्यमान नहीं रहती इनकी उत्पत्ति निमित्तोंके अनुसार अविद्यमानकी ही होती है। इसीबातका स्पष्टी करण पचास्तिकायकी गाथा ११ से हो जाता है।

टीका···"यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति सत्पर्यायजातमतिवाहित-स्वकालमुच्छिनत्ति असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति"

इस टीकामें स्पष्ट शब्दोमें घोषित किया है कि जो वर्तमानमें सत्रूपपर्याय है वह तो अपना स्वकाल खतम होनेपर नष्ट हो

जाती है और जो विद्यमान नहीं है अविद्यमान असत्रूप है वह अपने स्वकालमें उत्पन्न हो जाती है। इस कथनसे यह तो अच्छी तरह सिद्ध हो ही जाता है कि जो पर्याय नवीन उत्पन्न होती है वह जीवके साथ विद्यमान नहीं थी अतः अविद्यमान (असत्) की ही उत्पत्ति होती है जिसका स्वकाल उदयमें आजाता है। यह सामान्य कथन है इससे यह भी नहीं समझना कि सर्व पर्यायोंका स्वकाल नियमित है। उसमें हेर फेर नहीं होता जैसा कि पं० फूलचन्दजी शास्त्रीका कहना है।

कालादिलब्धीयोंके अनुसार इनमें हेरफेर भी होता है उत्कर्षण,अपकर्षण संक्रमणादि सब होते है। मनुष्यादि पर्यायोंका वन्ध समय समय प्रति होता रहता है और उसका विनाश भी प्रतिसमयमें होता रहता है, इनका यह नियम नहीं है कि जो पर्यायें समय समय प्रति वन्धको प्राप्त हुई है उनका उदय भी उसी रूपमें समय समय प्रति क्रमवद्धसे आये विना नहीं रहेगा इसका कारण यह है कि यह नामकर्मकी प्रकृति है इसका वन्ध प्रतिसमय होता ही रहता है किन्तु आयुकर्म का वन्ध त्रिभागीमें ही होता है इसलिये जिस आयुका वन्ध हुआ है वह उस पर्यायको अवश्य ही धारण करेगा इसके अतिरिक्त अन्य पर्यायोंका जो वन्ध किया था वह वट्टा खातेमें जायगी अर्थात् उदयमें आये विना ही निर्जर जायगी। इसलिये क्रमवद्ध (नियमितपर्याय) पर्यायकी मान्यता सर्वथा एकान्तरूप से मिथ्या है।

पं० फूलचन्दजीका इस सम्वन्धमें आखरी वक्तव्य निम्न प्रकार है।

"इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट होजानेपर भी कि प्रत्येक कार्य अपने अपने स्वकालमें अपनी अपनी योग्यतानुसार ही होता है, और जव जो कार्य होता है तव निमित्त भी तदनुकूल

मिल जाते है। यहां यह विचारणीय होजाता है कि प्रत्येक समयमें वह कार्य होता कैसे है? क्या वह अपने आप हो जाता है या अन्य कोई कारण है जिसके द्वारा वह कार्य होता है? विचार करने पर विदित होता है कि वह इस साधन सामग्रीके मिलनेपर अपने अपने वल, वीर्य, या पुरुषार्थके द्वारा होता है अपने आप नही होता है, इसलिये जीवके प्रत्येक कार्यमें पुरुषार्थकी मुख्यता है। यही कारण है कि जिन पांच कारणोंका (निमित्तोंका) पूर्वमें उल्लेख कर आये है उनमें एक पुरुषार्थभी परिगणित किया गया है। हम कार्योत्पत्तिका मुख्य साधन जो पुरुषार्थ है उस पर तो दृष्टिपात करें नहीं और जव जो कार्य होना होगा होगाही यही मानकर प्रमादी वनजांय यह उचित नहीं है। सर्वत्र विचार इस वातका करना चाहिये कि यहां ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किस अभिप्रायसे किया गया है। वास्तवमें चारों अनुयोगोंका सार वीतरागता ही है वैसे विपर्यास करनेके लिये सर्वत्र स्थान है। उदाहरणस्वरूप प्रथमानुयोगको ही लेलीजीये। उसमें महापुरुषोंकी अतीत जीवन घटनाओंके समान भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाये भी अंकित की गई है। अव यदि कोई व्यक्ति उनकी भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढकर ऐसा निर्णय करने लगे कि जैसे महापुरुषोकी भविष्य जीवनघटना सुनिश्चित रही है उसीप्रकार हमारा भविष्यतभी सुनिश्चित है अतएव अव हमें कुछ भी नही करना है जव जो होना होगा होगा ही,तो क्या इस आधारसे उसका ऐसा निर्णय करना उचित कहा जायगा ? यदि कहो कि इस आधारसे उसका ऐसा निर्णय करना उचित नहीं है। किन्तु उसे उन भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाओं को पढकर ऐसा निर्णय करना चाहिये कि जिस प्रकार ये महापुरुष अपनी अपनी हीन अवस्थासे पुरुषार्थद्वारा उच्च अवस्थाको प्राप्त हुये है उसी

प्रकार हमें भी अपने पुरुषार्थद्वारा अपनेमें उच्च अवस्था प्रगट करनी है। तो हम पूछते हैं कि फिर प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है इस सिद्धान्तको सुनकर उसका विपर्यास क्यों करते हैं। वास्तवमें यह सिद्धान्त किसीको प्रमादी बनानेवाला नहीं है। जो इस का विपर्यास करता है वह प्रमादी बनकर संसारका पात्र होता है और जो इस सिद्धान्तमें छिपे हुये रहस्यको जान लेता है वह परकी कर्तृत्वबुद्धिका त्याग कर पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्षका पात्र होता है। प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने पर परका मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूं ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट हो जाती है साथही मैं अपनी आगे होनवाली पर्यायमें कुछ भी फेरफार कर सकता हूं इस अहंकार का भी लोप हो जाता है।

परकी कर्तृत्वबुद्धि छूटकर ज्ञाता दृष्टा बननेके लिये और अपने जीवन में वीतरागताको प्रगट करनेके लिये इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका बहुत बडा महत्त्व है जो महानुभाव समझते हैं कि इस सिद्धान्तके स्वीकार करने से अपने पुरुषार्थ की हानि होती है वास्तव में उन्होंने इसे भीतरसे स्वीकार ही नहीं किया ऐसा कहना होगा। यह उस दीपकके समान है जो मार्गका दर्शन करानेमे निमित्त तो है पर मार्गपर स्वयं चलना पडता है। इसलिये इसे स्वीकार करने से पुरुषार्थकी हानि होती है ऐसी खोटी श्रद्धाको छोडकर इसके स्वीकार द्वारा मात्र ज्ञाता दृष्टा बने रहने के लिये सम्यक् पुरुषार्थको जागृत करना चाहिये। तीर्थंकरों और ज्ञानी संतोंका यही उपदेश है जो हितकारी जानकर स्वीकार करने योग्य है" जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ ७९–८०

पं० फूलचन्दजीका उपरोक्त कथन हमें बडा पसन्द आया आपका यह कहना यथार्थ है कि जो इस सिद्धान्तके छिपेहुये रहस्य

को जान लेता है वह परकी कर्तृत्वबुद्धिका त्याग कर पुरुषार्थद्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्षका पात्र हो जाता है और जो इसका विपर्यास करता है वह प्रमादी बनकर संसारका पात्र हो जाता है " क्योंकि " तीर्थंकरों और ज्ञानी सन्तोंका यही उपदेश है "

वास्तवमे पंडितजी सिद्धान्त शास्त्री है इसलिये सिद्धान्तके रहस्यको आप अच्छी तरहसे समझ चुके हैं। इसके अतिरिक्त कानजी स्वामी जैसे सन्तपुरुषोंका समागम यह सोनेमें सुगन्ध-वाली कहावत चरितार्थ हुई। उक्त सिद्धान्तके छिपे हुये रहस्यको समझनेवाले आप और कानजी स्वामी ही मोक्षको जानेके पात्र है और सब आपके समझे हुये रहस्यका विरोध करनेवाले संसा-रके ही पात्र हैं। इसमें कोई संदेह की वात नहीं है क्योंकि उन सबकी श्रद्धा पुरानी है इसलिये आपकी नवीन श्रद्धाका विरोध करते है इसकारण वे संसार में ही परिभ्रमण करेंगे। और आप समीचीन श्रद्धासे अवश्यही मोक्ष जांयगे यही वात है ना। पंडि-तजी! यह वात तो हमारे समझमें आगई पर एक वात समझ में न आई वह यह है कि जब मोक्ष जाना सबका सुनिश्चित समय है तब वह कदाचित् अपने स्वकालमें आपसे भी पहिले मोक्ष जा सकते हैं। आपसे भी पहिले मोक्ष जानेका स्वकाल उनका आसकता है फिर आपका जो यह कहना है कि " इस सिद्धान्तके छिपे हुये रहस्यको समझनेवाले ही मोक्ष जांयगे और जो इस सिद्धान्तके छिपे हुये रहस्यको नहीं समझते हैं—नहीं जानते है वे संसारमे ही परिभ्रमण करेंगे सो सब स्वतः मिथ्या सिद्ध होजाता है। अतः आपकी मान्यताके रहस्यको समझनेवाले और न समझनेवाले दोनूं ही अपने अपने स्वकालमे तो मोक्ष जावेंगे ही फिर आपकी समीचीन मान्यताकी क्या कीमत रही। आपकी मान्यतानुसार जो जैनधर्म से वहिर्मुख है वह भी अपने अपने

स्वकालमें मोक्ष जावेंगे ही फिर जैनधर्म धारण करने से ही मोक्षप्राप्ति होती है यह नियम तो रहा नहीं, आपके कथनानुसार सर्व कार्य एक अपने अपने स्वकाल में अपने अपने बल वीर्य द्वारा सिद्ध होते हैं उनमें जैनधर्म के निमित्तकी आवश्यकता क्या है ! अपने अपने स्वकाल में सर्व कार्य होंगे ही यह निश्चित बात है उसमें कुछ भी हेर फेर होनेका नहीं है ऐसा आपका कहना है ही, इस हालत में स्त्री पुरुष नपुंसक धोबी चमार गृहस्थ जैन अजैन सबको ही अपने अपने स्वकाल में मोक्ष मिल ही जायगो यह आपकी मान्यता का "बहुत बडा महत्त्व है" जो सबको खाते पीते मौज मजा करते करते अपने आप स्वकालमें मोक्ष मिल जायगा। श्वेताम्बरमान्यता से मनुष्य पर्यायसे ही मोक्ष मानी है मनुष्य में चाहे स्त्री हो पुरुष हो नपुंसक हो शूद्र हो कोई भी हो आत्माकी भावना करनेसे मुक्ति पा लेता है। इसमें सन्देह नहीं है।

" सेयंबरो असांबरो ये बुद्धो य तह य अण्णोय।
समभावभावियप्पा लहेइ सिद्धिं ण संदेहो"

पट्प्राभृतके १२ पृष्ठसे ३०

अर्थात् मनुष्य चाहे तो श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो बौद्ध हो अथवा अन्यलिंगधारी ही क्यों न हो अपनी आत्माकी भावना करनेसे मुक्ति मिलजाती है इसमें संदेह करनेकी जरूरत नहीं है।

"इह चउरो गिहलिंगे दसन्नलिंगेसयंचअट्ठहियं।
विन्नेपंच सलिंगे समयेणं सिद्धमाणाणं" ४८२

प्रवचनसारोद्धारतीसराभागपृष्ठ १२७ से उद्धृत

अर्थात् एक समयमें अधिकसे अधिक गृहस्थलिंगसे चार मनुष्य सिद्ध होते है। दश अन्य तापस आदि अजैन लिंगधारी मोक्ष पाते है।

यह तो श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है, इससे भी अधिक मान्यता आपकी है जो मोक्ष जानेमें किसीको कुछ अडचन भी नहीं रहती, चाहै वह मनुष्य हो चाहै वह तिर्यंच हो अथवा नारकी या देवभी क्यों न हो जब जिसका मोक्ष जानेका स्वकाल आवेगा वह उसी समय मोक्ष प्राप्त करेगा ही इसमें कुछ भी हेर फेर नही है. इसलिये आपकी मान्यताको सर्वोदय मान्यता कही जाय तो अयुक्त नहीं होगी। अतः दिगम्बरजैन सिद्धान्त का सार रहस्य आपको ही कानजी स्वामीकी वदौलत प्राप्त हुआ है वह आपको मुबारिक हो, जो सबको अपने अपने स्वकालमें मोक्ष जानेका टिकट मिल जायगा, पंडितजी! यह तो अच्छा ही हुआ जो किसीको मोक्ष जानेकी चिन्ता ही न करनी पड़ेगी क्रमवद्धपर्यायका—जव मोक्ष जानेका नम्बर आयगा उसी समय मोक्ष हो ही जायगो किन्तु इसमें एक थोड़ीसी वाधा आती है वह किस तरह दूर होगी सो वतानेकी कृपाकरें। एक तो यह कि छहमहीना आठसमयमें जो ६०८ जीव मोक्ष जानेका जो आपने नियम वतलाया है उसकी विधि किस प्रकारसे वैठ सकती है? जवकि अनंन्तानन्त जीवराशि है तव उनमेंसे छहमहीना आठ समयमें छहसोआठ जीवोंका ही मोक्षजाने का स्वकाल प्राप्त हो अधिकका नहीं होय यह वात संभव प्रतीत नहीं होती क्योंकि इससे अधिक न होनेमें कोई वाधक कारण भी दिखाई नहीं देता और न ऐसा कोई आगमप्रमाण हीं मिलता है अनंतानन्त जीवराशीमेंसे मोक्ष जानेका स्वकाल छहमहीना आठ समयमे छहसो आठ जीवोंको ही प्राप्त होता है अधिकको नहीं

होता यह बात तो तबही बन सकती है जबकि स्वकालका कोई नियम न रहै। जब इस जीवको मोक्ष प्राप्त करनेका साधन ऊंचकुल, वज्रवृषभनाराच संहनन, चतुर्थकाल, जैनधर्म, जिन-दीक्षा, शुक्लध्यान इत्यादि सब निमित्तकारण मिले तब जाकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष जानेके साधनमें एक साधन की भी कमी रहजाय तो उसको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसे साधन हर एक जीवको नहीं मिलते, ऐसे साधन जिसको मिलते हैं वही मोक्ष जाते हैं। इसमें स्वकालका नियम नहीं है। इसीलिये भट्टाकलंकदेवने मोक्ष जानेमें स्वकालका निषेध किया है वह ऊपरमें उधृत किया जाचुका है। अतः मोक्षजानेमें कोई स्वकालका नियम नहीं है। जो स्वकालका नियम मानकर उसकी प्रतीक्षा करते हैं वे अज्ञानी हैं। क्योंकि स्वकाल का नियम माननेवालोंके लिये कोई नियम लागू नहीं पडता उसके लिये तो सर्व अवस्थामें स्वकाल प्राप्त होने पर सब जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये मोक्ष प्राप्तिमें स्वकालका नियम मानना सर्वथा जैनागमसे विरुद्ध है।

आपका जो यह कहना है कि " प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है ऐसी यथार्थश्रद्धा होनेपर परका मैं कुछ भी कर सकता हूं ऐसी कर्तृत्व बुद्धि तो छूट ही जाती है, साथहीमें अपनी आगे होने वाली पर्यायोंमें कुछभी हेर फेर कर सकता हू इस अहंकार का भी लोप हो जाता है। परकी कर्तृत्वकी बुद्धि छूटकर ज्ञाता द्रष्टा बननेके लिये और अपने जीवनमे वीतरागताको प्रकट करनेके लिये इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका बडाभारी महत्त्व है " जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ ८०

पंडितजी ! या तो आप भूल करते हैं या जान बूझकर(कारण वश) लिखते हैं अन्यथा ऐसी असत्यबातें नहीं लिखते स्वकालमें

सर्वकार्यकी सिद्धि माननेवाला व्यक्ति सदा सर्वथा पुरुषार्थी ही नहीं होगा। क्योंकि उनकी मान्यतामें तो कोई भी कार्य स्वकालके बिना होगा नहीं फिर वे पुरुषार्थ किसलिये करेंगे ? मनुष्य पुरुषार्थ तो तवही करता है जव कि वह यह समझता है कि इस कार्यको मैं कर सकता हूं अन्यथा पुरुषार्थ करने की जरूरत क्या ? आपके सिद्धान्तानुसार कोई भी कार्यस्वकालके विना आगे पीछे होने-वाला नहीं फिर उस कार्यके लिये पुरुषार्थ करनेवाला समझदार समझा जावेगा या मूर्ख ? अतः यह वात आपको भी स्वीकार करनी पडेगी कि जो कार्य पुरुषार्थ साध्य नहीं स्वकाल साध्य है उस कार्यके करनेमे पुरुषार्थ करनेवाला व्यक्ति मूर्ख ही है। आप भी तो छिपे शब्दोंमे स्वकालमे कार्यकी सिद्धि मानने-वालोंको निरुद्यमी पुरुषार्थहीन आलसी मानते है। "मैं अपनी आगे होनेवाली पर्यायोंमें कुछ भी हेरफेर कर सकता हूं इस अहंकार का भी लोप हो जाता है" अर्थात् हार मानकर वैठ जाता है कि इस कार्यको करनेमें मैं असमर्थ हूं यह कार्य तो मेरे आधीन नहीं है भवितव्यके आधीन है ऐसा मानकर वह पुरुपार्थ करनेका अहंकार छोडकर आलसी वन जाता है। तथा स्वकालमें कार्यकी सिद्धि मानने वाला व्यक्ति स्व में भी कर्तृत्व बुद्धिका लोप कर निरुद्यमी वन बैठता है। इसीको आप वीतरागता समझते हैं तो ठीक है। इसके अतिरिक्त स्वकाल मे कार्य सिद्धि माननेवाले व्यक्तियोंको किसी प्रकारकी वीतरागता प्राप्त नहीं होती। हाथके कंकणको आरसेकी क्या जरूरत है ? आप और कानजी स्वामी उक्त सिद्धान्तके मानने वाले है अतः आप लोगोंको कहांतक वीतरागता प्रगट हुई है सो स्वयं अनु-भव करके देखें। वीतरागताकी शुरूआत चौथे गुणस्थान से होती है और वह उत्तरोत्तर पांचवें छठे सातवें आदि गुणस्थानों प्रति

वृद्धिको प्राप्त होती है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ हीन है स्वकालके भरोसे पर मुह बाई बैठा है जिसके खानपानकी शुद्धिका तथा भक्षाभक्ष का विचार नहीं, उसके पास वीतरागता कैसी ? भेद विज्ञानसे वीतरागता आती है और भेद विज्ञानवाला विषयाशक्त हो यह बात बनती नही। आचार्य कहते हैं कि—

"ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमाहिं सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवे नाहीं"

"ज्ञानशक्ति वैराग्य बल, शिव साधे समकाल।
ज्यों लोचन न्यारे रहैं, निरखे दोउ ताल" ४२

समयसार नाटक निर्जराद्वार

इस कथनसे भेदविज्ञानी जीव स्वकाल पर निर्भर नही करता वह तो विषयसुखोंसे विमुख होकर शिव साधनमें लग जाता है। आचार्यकहते हैं कि ज्ञानी होकर विषय सुखमें राचे यह विपरीत बात है। क्योंकि ज्ञानी अज्ञानीमें इतना ही तो अंतर है जो कि ज्ञानी विषयसुखसे विरक्त है और अज्ञानी विषय सुख में तल्लीन है। अतः जहा विषयसुखमें तल्लीनता है वहां वीतरागता कहां ? वीतरागता तो राग मिटे होय विषय वांच्छा मिटे विना वीतरागताका गीत गाना अपरमार्थभूत है, वहांपर वीतरागता का सद्भाव लेशमात्र भी नहीं है।

क्रमवद्ध पर्यायमें आप एक यह हेतु देते हैं कि "उदाहरणस्वरूप प्रथमानुयोगको ही लेलीजीये। उसमें महापुरुषोंकी अतीत जीवन घटनाओंके समान भविष्य सम्बन्धी जीवनघटनायें भी अंकित की गई हैं" जैनतत्त्वमीमांसा पृष्ठ ७६

अर्थात् सर्वज्ञके ज्ञानमें अथवा अवधि मनपर्यय ज्ञानोके ज्ञानमें भूत भविष्यत् कालकी जीवन घटना भी झलक जाती है। इसकारण भूत भविष्यत् कालीन सर्व पर्यायें जीवके साथ विद्यमान अंकित रहती हैं। यदि उसको जीवके साथ अंकित न माना जाय तो वह झलके कैसे? विद्यमान पदार्थ ही ज्ञानमें ज्ञेयरूप झलकता है अविद्यमान पदार्थ ज्ञानमें ज्ञेयरूप नहीं पडता, इसलिये जो जीवके साथ भूत भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायें अंकित है वह सबपर्यायें क्रमवद्ध हैं और वह उदयमें भी क्रमवद्ध अपने अपने स्वकालमें आती हैं। वह आगे पीछे उदयमें नहीं आती एकके पीछे एक लगातार उदयमें आती है अतः उसका हेरफेर नहीं किया जा सकता है। पंडितजीके कहनेका ऐसा तात्पर्य है। इसी युक्तिके वलपर पंडितजी क्रमवद्ध पर्यायका समर्थन कर रहे है किन्तु यह युक्ति परमार्थभूत नहीं है। मनुष्यको पुरुषार्थहीन वनानेकी यह युक्ति है। अर्थात् भगवानने जैसा देखा है वैसाही होगा उसमें कुछभी हेरफेर होनेका नहीं है फिर कार्यसिद्धिके लिये उद्यम करना निरर्थक है ऐसा विचार कर मनुष्य पुरुषार्थहीन हो जाता है एक वात, दूसरी वात यह है कि भगवानने देखा वैसा हम करेंगे या हम करेंगे हमारा जैसा परिणमन होगा वैसा भगवानने देखा है? यदि भगवानने जैसा देखा है वैसा हमारा परिणमन होगा तो हमारा स्वतंत्र परिणमन न रहा, केवली भगवानके आधान रहा, भगवानने जैसा देखा वैसा हमको परिणमन करना पडेगा तो मेरे परिणमनका कर्ता भगवानको मानना पडेगा अथवा भगवानका ज्ञान हमारा परिणमन कराता है या हमारे परिणमनमें भगवानका ज्ञान अतिशय उत्पन्न करता है यह मानना पडेगा अथवा भगवानका ज्ञान हमारे परिणमनमें हेतु है उसके विना हमारा परिणमन होता नहीं यह मानना पडेगा, इसलिये भगवा-

नने जैसा देखा है वैसा हमारा परिणमन होगा यह बात सर्वथा आगमविरुद्ध है। हमारा परिणमन हमारे आधीन है उनका ज्ञान उनके आधीन है। उनके ज्ञानकी इतनी स्वच्छता है जो अनन्तानन्त पदार्थोंका त्रिकालीन परिणमन उनके ज्ञानमें झलक जाता है इसकारण वे यह कह देते हैं कि उस समय उसका ऐसा परिणमन होने वाला है। इससे यह भी नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थके साथ त्रिकालीन सर्व पर्यायें विद्यमान अंकित रहती है इसीलिये वे जानते हैं अतः अंकित रहनेकी बात सर्वथा मिथ्या है उत्पाद व्यय और ध्रौव्य यह सत् पदार्थका लक्षण है इस कारणसत्पदार्थमें समय समय प्रति उत्पाद व्यय होता ही रहता है। उत्पाद व्ययका अर्थ ही यह होता है कि असत् पर्यायकी उत्पत्ति और सत् पर्यायका नाश। इसके अतिरिक्त विद्यमान पर्यायकी उत्पत्ति और विद्यमान पर्याय रहते उसका नाश माननेसे सत् पदार्थका उत्पाद व्यय और ध्रौव्य यह लक्षण ही नहीं बनता इसलिये द्रव्यके साथ भूत भविष्यत् कालीन सर्व पर्याय अंकित रहती हैं ऐसा मानना जैनागमसे सर्वथा विरुद्ध है।

इसका खास कारण यह भी है कि—जो जीवकी भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी सर्व पर्यायें जीवके साथ अंकित मानली जायगी तो वह परिमित होगी, जैसे एक पुस्तकके पेज वे सब पुस्तकमें परिमित अंकित रहते हैं तैसे जीवके साथ सर्वपर्यायें अंकित होंगी तो वह भी पुस्तकके पेजोंके समान परिमित ही होगी। जैसे पुस्तकके पेज पलटनेसे एकका व्यय और दूसरेका उत्पाद पुस्तकमें ही अंकित रहता है किन्तु पुस्तकका उत्पाद व्यय तब तक ही रहता है जब तक कि सर्व पेज एक एक कर न पलट दिये जांय, जब सब पेज पलट दिये जाते हैं तब उसमें उत्पाद व्ययका स्वरूप खतम हो जाता है, पुस्तक कूटस्थरूपमें

रह जाती है। तैसे जीवके साथ जो पर्यायें अंकित है वह पुस्तकके पन्नोंकी तरह परिमित ही होंगी क्योंकि जो अंकित चीज होती है वह परिमित ही होती है अपरिमित नहीं होती इसकारण वह क्रमवद्ध उदयमें आकर अल्पकालमें ही खतम हो जायगी इसके बाद जीव भी कूटस्थ रह जायगा क्यों कि पर्यायें खतम होनेसे उत्पाद व्यय भी उसमें कैसे होगा ? नहीं होगा। इस हालतमें जीवादि पदार्थ सर्व ही असत् मानने पडेंगे क्योंकि सत्का जो लक्षण आचार्योंने किया है वह उनमें घटित नहीं होता। अतः पर्यायों को द्रव्यके साथ अंकित मानने से पर्यायोंके साथ द्रव्य का भी खातमा हो जाता है इसलिये द्रव्यके साथ पर्यायें अंकित नहीं रहती वह तो समुद्रमें लहरोंकी तरह नवी नवी उत्पन्न होती है और वर्तमान पर्यायें लहरोंकी तरह द्रव्यमें ही विलीन हो जाती है। उसका आदि अंत नहीं होता और इसमें क्रमवद्धता भी नहीं बनती क्योंकि जिसप्रकार समुद्रमें पवनका या जहाजका झकोर लगनेसे लहरें उलट पुलट हो जाती हैं उसी प्रकार जीवका भी परिणमन कर्मोंके झकोरोंसे उलट पुलट होता ही रहता है उस समय क्रमवद्ध पर्यायका चकनाचूर हो जाता है। अतः इस बातको न मानने से और क्रमवद्ध पर्यायको माननेसे स्वयं जीवद्रव्यका ही अभाव मानना पडता है। इस बातको हमने अच्छी तरह सिद्ध कर दिखला दिया है अतः क्रमवद्धपर्याय आगम और युक्ति दोनों से बाधित है इस कारण अपरमार्थभूत है।

पंडितजीकी दलीलमें एक बात शेष रह जाती है वह यह है कि भगवानके ज्ञानमें हमारा जैसा होना है वैसा ही तो झलका है। और वह वैसा ही होकर रहैगा उसमें तो रंचमात्र भी हेर फेर नहीं होगा। नेमिनाथ भगवानके ज्ञानमें बारह वर्ष बाद द्वारका जलकर खतम हो जायगी मदराके संयोगसे दीपायनमुनिके द्वारा

द्वारका नष्ट होगी और जरत्कुमारके तीरसे कृष्णकी मृत्यु होगा वह सब बातें होकर रहीं इस कारण जो होना है वह सब नियत समयमें ही होगा आगे पीछे नहीं होगा ऐसा मानने में क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं। भगवानके ज्ञानमें जो एकके बाद एक पर्याय द्रव्यकी होने वाली है वही तो क्रमबद्ध झलकी है और जैसे झलकी है वैसे ही क्रमबद्ध उदयमें आती है इसको क्रमबद्ध पर्याय का रूप क्यों नहीं देना चाहिये ? अवश्य देना चाहिये पंडितजीके क्रमबद्ध पर्यायका यह सारांश है। इस पर विचार करना है।

प्रथम तो द्रव्यका जो परिणमन होता है वह क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनों रूपसे होता है और वह दोनों रूप से ही भगवानके ज्ञानमें झलकता है। जैसे जरत्कुमारका तीर लगनेसे कृष्णजीकी आयुके निषेक एक साथ झड गये जिससे उनकी अपमृत्यु हो गई। क्रमबद्ध मृत्यु न हुई कारण कि उनके आयुका निषेक क्रमबद्ध न झडा ऐसा भगवानके ज्ञानमें उनका परिणमन झलका।

इसी प्रकार द्वारिकाका विनाश भी अपक्रमसे हुआ जो द्वारिका क्रमरूपसे हजारों वर्षोंमे नष्ट होने वाली नहीं थी वह दीपायन मुनि के योगसे बारहवर्ष के अंत मे समूल नष्ट होगई यह अपक्रम नहीं तो और क्या है ? यह प्रगटरूप मे भासता है कि यादव प्यास के मारे अज्ञानवश मदिराका पानी पीगये जिससे वे पागल होकर दीपायनमुनिको देखते ही कोपायमान हो गये और उनको बुरा तरह से मारने लगगये यहांतक कि वे मुनि बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े तो भी उन्होंने समता नहीं छोडा। आखिर जब यादव उनके मुखमे पेशाब तक करनेके लिये उतारू होगये तब वे दीपायनमुनि अत्यंत क्रोधित हुये जिससे तैजस पुतला

चाये कन्धे से निकला और द्वारिका भस्म होने लगी। अनेक उपाय करने पर भी न बची। न बचनेका कारण यही था कि उसका इसीतरह अपक्रमसे विनाश होना था, इसके साथ अनेकों का अपक्रम नाश हुआ केवल कृष्ण और बलदेव यह दो बचे तथा इनमेंसे भी कृष्णकी जरदकुमारके तीरसे अपमृत्यु हुई उन सबका अपक्रमरूप से ही परिणमन करनेका प्रेरक निमित्त मिला जिससे उन सबकी क्रमबद्ध परिणमन करनेकी योग्यता उस समय नष्ट हो गई। भगवानके ज्ञानमें उन सबका जैसा परिणमन होने वाला था वैसा ज्ञेय रूप झलका तैसा ही उन्होंने दिव्यध्वनि में प्रगट किया। भगवान के ज्ञान में तो सब ज्ञेय रूप झलकता ही रहता है उससे हमको क्या? उनके ज्ञान का परिणमन उनके पास है हमारा परिणमन हमारे पास है हमारा जैसा परिणमन होगा वैसा उनके ज्ञान में झलक जाता है पूछने पर बता भी देते हैं कि तुम्हारा परिणमन उस समय इस रूप में होने वाला है। इससे क्या हुआ! उनके ज्ञान में हमारा ही तो क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध परिणमन पड़ा इसके अतिरिक्त यह तो न हुआ कि उनके ज्ञानके अनुसार हमको परिणमन करना पड़ा। यदि उनके ज्ञानके आधार पर हमारा परिणमन हम मान लेते हैं तो इसमें दोनोंकी स्वतंत्रता नष्ट होती है। इसलिये उनके ज्ञानका परिणमन उनके पास है, हमारा परिणमन स्वतंत्र निमित्तानुसार हमारे पास है हम क्रमबद्ध परिणमन करे या अक्रमबद्ध परिणमन करे। केवली भगवान तो केवल साखी गोपाल है। जैसा हम करेंगे वैसा वे पूछने पर बता देंगे इससे हमारा परिणमन (सर्व पर्यायें) क्रमबद्ध होता है ऐसा सिद्ध नहीं होता भगवान के ज्ञान में ज्ञेय झलकनेकी बात भगवान के ज्ञान में रही। हमारा कर्तव्य हमारे पास रहा भगवान का हमारे लिये

आदेश भी यहाँ है कि हमारे ज्ञानमें सब कुछ झलकता है वह झलकने दो तुम तो तुम्हारा कर्तव्य कर्म करते रहो तुमको यह मालूम नहीं है कि हमारा किस समय क्या होने वाला है इसलिये तुम तो हमारे वताये हुये मोक्षमार्ग में गमन करते रहो इसीमें तुम्हारा कल्याण है। हमारे ज्ञानके वल पर तुम उदासीन होकर वैठोगे तो खता खाओगे। इस उपदेशका न मानकर जो क्रमवद्ध पर्याय के ऊपर निर्भर कर रहता है वह आलसी है।

"वन्ध वढावे अंध व्है, ते आलसी अजान।

मुक्तहेतु करणी करैं ते नर उद्यमवान" १०

वन्धद्वार समयसार नाटक

जो व्यक्ति भगवानके ज्ञानके वल पर अपनी क्रमवद्ध पर्याय मानकर निराश होकर वैठता है वह अज्ञानी है, आलसी है, कर्मके वन्धको वढाने वाला है। किन्तु जो सज्जन अपने पैरा पर खडे होकर भगवानके वताये हुये मोक्षमार्ग मे गमन करते हैं वे उद्यमी हैं पुरुषार्थी हैं वे ही संसारसे पार होते है।

केवलज्ञानीकी वात तो जाने दीजिये, मति श्रुत ज्ञान वाला भो निमित्तज्ञानी भूत भविष्यत् की वात वता देता है जिससे क्या क्रमवद्ध पर्याय सिद्ध हो जानी है? और क्या वह पर्याय जीवके साथ अंकित रहती है इसलिये वह वता सकता है! कदापि नहीं। वह तो अणछती होनेवाली पर्यायको ही निमित्त ज्ञानसे वताता है उसमें निमित्त ही प्रधान है। एक उदाहरण स्वरूप दृष्टान्त उधृत कर देते हैं वह किस शास्त्र मे वर्णित है यह तो इस वक्त स्मरण नहीं है पर उसका भाव यह है कि एक निर्धन ब्राह्मण भोजन करने के लिये घर पर आया तो उसकी स्त्रीने उसकी थाली में कोडियां लाकर पटकदीं और कहा कि घरमें तो कुछ नहीं है

मैं काहेका खाना पकाऊं ? मेरे पास तो यह कोडिया थी सो आपको थाली मे रखदी । अतः वह ब्राह्मण उसी समय निमित्त विचार कर पोदनापुरके राजाके पास गया और राजासे कहा कि हे राजन् ! आजसे सातवे दिन पोदनापुरके राजा पर विजली पडेगी । राजाने क्रोधित होकर कहा तुम्हारे पर क्या पडेगा ? तो उस ब्राह्मणने कहा–मेरे मस्तकपर दूधका अभिषेक होगा । इसपर राजाने कहा कि यह वात तुम कैसे जानी ? तो ब्राह्मणने कही मैं निमित्तज्ञानसे जानी अतः राजाने उसको वहां ही रक्खा और मंत्रीयों से मंत्र करके राजा आप तो राज्यका त्याग कर वनमें चले गये और राजा जैसा ही पुतला वनवाकर राजभवनमें विराजमान करदिया और घोषणा करदी कि राजा वीमार है वैद्योंने वोलनेकी मनाई करदी है इस लिये उनसे कोई वार्तालाप न करे जो आवे सो मुजरा भरकर चले जावें । ऐसे सातदिन पूरा होनेके समय उस स्थापित राजाके ऊपर वज्रपात पडा जिससे वह खतम होगये । आगम मे स्थापनाको भी साक्षात के तुल्य ही माना है इस कारण उस पुतले में राजाकी स्थापना कर उसको राजा ही मान कर सव चलते थे और जो राजा थे उन्होंने राज्य का त्याग करदिया था इस कारण वह राजा उस समय रहा नहीं, जिसको पोदनापुरका राजा वनाया था उस पर विजली पडी इसलिये भूतकालीन राजा वच गया । इसके वाद उस ब्राह्मणका दूधसे अभिषेक हुआ वहुत धन दिया । इसके कहनेका तात्पर्य यह कि निमित्तज्ञानी भी निमित्त के वलपर अप्रगट अविद्यमान होने वाली वातको बता देता है ।

इस ब्राह्मणने राजाको भी नही देखा उनको देखे विना भी निमित्तज्ञान से यह जानलिया कि पोदनापुरके राजा पर सातवें दिन वज्रपात पडेगा । इस वातको सुनकर मंत्रीयोंने

राजाके बचाने का उपाय करदिया । यदि वह ब्राह्मण होनहार पर निर्भर कर पोदनापुर न जाता और राजा भी ब्राह्मणकी बात-सुनकर बचनेके लिये पुरुषार्थ न करता तो क्या ब्राह्मणका दुग्धाभिषेक होकर उसको धन मिलता ! अथवा राजाभी बचनेका उपाय न करता तो क्या वह बच सकता था ! कभी नहीं । यदि कहा जाय कि भगवानने ऐसा ही होना देखा था इसलिये ऐसा स्वयमेव निमित्त मिल गया ठीक है स्वयमेव ही निमित्त मिला सही किन्तु कार्य तो निमित्त मिलने पर ही हुआ निमित्त कुछ नहीं करते यह बात तो न रही ब्राह्मण ने राजा का मुंह तक नहीं देखा था और न उसने उसका स्मरण भी करके निमित्त पर विचार किया किन्तु उसने थालीमे कोडीया पड़ने पर ही उस पर निमित्त विचार कर सब निश्चय कर लिया कि राजा पर सातवें दिन वज्र-पात पड़ेगा और हमारा दूधसे अभिषेक होकर धन मिलेगा, अतः भविष्यकी बात कुछ अंशोंमें निमित्त ज्ञानी भी बता सकता है तो अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी बता दे इसमें तो आश्चर्य ही क्या है ? यह तो उनके ज्ञानकी पराकाष्ठा है । उनके ज्ञानके साथ हमारे परिणमनका ज्ञेय ज्ञायकके सिवाय और कुछ भी सम्बन्ध नहीं हैं 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन' अर्थात् सर्वज्ञ देव सकल ज्ञेयके ज्ञायक होने पर भी निजानन्द रस मे लवलीन रहते हैं । ज्ञेय से उनको क्या तालुक है और ज्ञेयको भी उनसे क्या तालुक है । अपने २ स्वभाव विभावमें सब मस्त हैं । भगवानके ज्ञानमें हमारी एकके बाद एक पर्याय होनेवाली है वह सब झलकती है तो झलको जिससे हमको क्या? उनके ज्ञानमें हमारी सर्व पर्यायें झलकती रहे उससे हमारा भला बुरा कुछ भी नहीं होनेका है हमारा भला बुरा तो हमारे कर्तव्यपर निर्भर करता है । उनके जानने पर नहीं । ज्ञायक पक्षसे यह कहा जा सकता है कि—

"जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥ ३२१
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अह जिणंदो वा ॥ ३२२

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात् जो जिस जीवके जिस देशविषे जिस काल विषे जिस विधानकरि जन्म तथा मरण उपलक्षणते दुःख सुख रोग दारिद्र आदि सर्वज्ञदेवने जाण्या है जो ऐसे ही नियमकरि होयगा, सो ही तिस प्राणीके तिसही देशमें तिसही कालमें तिसही विधानकरि नियमते होय, है ताकूं इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी निवार नाहीं सके हैं। भावार्थ—सर्वज्ञदेव सर्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अवस्था जाणे हैं सो जो सर्वज्ञके ज्ञानमे प्रतिभास्या है सो नियमकरि होय है तामें अधिक हीन कुछ होता नाहीं ऐसा ज्ञायक पक्षसे कहा जासकता है। किन्तु कारकपक्षमें उसको लगाया जाय तो समझना चाहिये कि अभी उसका संसार वहुत वाकी है इसलिये वह अपने कर्तव्यसे च्युत होकर क्रमवद्ध पर्यायकी वाट मुंह वाये जो रहा है क्योंकि भगवानके ज्ञानमे उनका परिणमन ऐसा ही होना झलका है इस लिये उनकी ऐसी वुद्धि होती है कि भगवानके ज्ञानमे जैसा झलका है वैसा ही होयगा हमको पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नहीं ऐसे ज्ञायकपक्ष ग्रहणकर निरुद्यमी हो जाता है किन्तु जिसके संसारका अंत नजदीक आया है उसके वैसी विपरीत वुद्धि नहीं होती वे ज्ञायक पक्षके ऊपर निर्भर कर निरुद्यमी नहीं होते वे तो कारक पक्षके पक्षपाती होकर जिनेन्द्रदेवके वताये हुये मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करनेका पुरुषार्थ करते हैं अतः वे ही मोक्ष पुरुषार्थी कहलानेके हकदार हो सकते है किन्तु जो ज्ञायक पक्षको ग्रहणकर क्रमवद्ध पर्यायपर निर्भर करते है वे दीर्घ संसारी है।

क्योंकि वे होनहार पर निर्भर करते हैं पुरुषार्थ पर नहीं। होनहार तो हारेका जामिन है अर्थात् पुरुषार्थ करते हुये साधक निमित्तों को मिलाते हुये वाधक कारणों को हटाते हुये भी कार्य सिद्ध न होय तो उस जगह हार मानकर कहना पडता है कि भवितव्य ऐसा ही था। किन्तु इसके पहिले ही भवितव्यके भरोसे पर वैठ रहना यह परमार्थभूत कार्य नहीं कहा जासकता। इस मान्यता से तो अकल्याण ही होगा इसलिये क्रमवद्ध (नियमित) पर्याय का ध्येय ठीक मान कर जो व्यक्ति उसपर निर्भर करते हैं वे आलसी निरुद्यमी पुरुषार्थहीन हैं अतत्त्व श्रद्धानी हैं। तत्त्वश्रद्धान वही है जिससे अपना कल्याण हो, जिसके श्रद्धानसे अपना अकल्याण हो वह तत्त्व कैसा? वह तो अतत्त्व ही है। जो इसके श्रद्धानसे आप (पंडित फूलचन्द्रजी) ने लाभ होना वतलाया था उसकी आगम और युक्तियो द्वारा अच्छी तरह समालोचना की गई। क्रमवद्ध (नियमित) पर्यायको मानकर चलनेवाले कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सक्ता हैं। इसका कारण यही है कि कारकपक्षमें, ज्ञायकपक्षका प्रयोगकर आलसी पुरुषार्थ हीन वन जाते हैं।

पंडित फूलचन्दजीने "जैनतत्त्वमीमासा" के प्रथम प्रवेश द्वार में सव अधिकारोंमें संक्षेपसे प्रवेश किया है इस कारण हमको भी उनके पीछे पीछे गमन करना पडा है। अर्थात् उनके सव विषयोंपर संक्षेपसे प्राय: प्रकाश डाला गया। अव उनके विशेष विशेष वक्तव्य पर प्रकाश डालना अवशेष जो रह गया है उस पर अव थोडा प्रकाश डाल देना भी अत्यावश्यक है। क्रम नियमित पर्यायके सम्बन्धमें आपने जो समयप्राभृतकी टीका उद्धृत की है और उसका अर्थ आपने अपने मनःकल्पित किया है। उससे आगम सहमत नहीं है। स्व० पं० जयचन्दजीकी हिन्दी टीकामें और आपके मनकल्पित अर्थमें वडा अंतर है। आपने

तो "जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः। एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः। सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामे कांचनवत्। एवं हि जीवस्य परिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेणोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्। तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति। तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्ष सिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते" इस टीकाका अर्थ क्रमनियमित पर्याय को सिद्ध करनेके पक्षमे किया है किन्तु स्व० प० जयचन्दजीकी टीकासे क्रमनियमित पर्यायकी सिद्धि नहीं होती प्रत्युत असिद्धि ही होती है।

क्रमनियमितात्मपरिणामैः वाक्याशका अर्थ आपने जो समझ रक्खा है, वह नहीं है। क्रम शब्दका अर्थ एकके वाद एकका होना है और नियमित शब्दका अर्थ एकके वाद दूसरी पर्याय होनेका नियम है अर्थात् पर्याय नियमसे एक होती है। एकसमयमे दो नहीं होतीं और सदा कोई न कोई एक पर्याय मौजूद रहती है। यह नहीं कि—किसी समय कोइ पर्याय रहै नही। "क्रमभाविनः पर्यायाः वाक्यका जो अभिप्राय है उसीको विशदरूप से यहां बतलाया है। और जो लोग पर्याय शून्य कूटस्थ द्रव्यको मानते अथवा एक समय मे एक द्रव्यमे अनेक पर्याय मानते है उनका निरसन करनेके लिये 'क्रम' और नियमित दो पदोका प्रयोग किया है। क्रम नियमित शब्दका अर्थ अमुक पर्यायके वाद अमुक पर्याय नियमसे होगी यह अर्थ नहीं है।

दूसरी वात यह है कि टीकाकार अमृतचन्द्र आचार्य ने सुवर्णका दृष्टान्त दिया है जिससे भी क्रमनियमित पर्याय सिद्ध नहीं होती उससे तो यही सिद्ध होता है कि सुवर्णका ककणादि कुछ भी वनावो उन सवका परिणमन सुवर्ण रूप ही है उसमे ऐसी क्रमनियमितता नही है कि कंकणके वाद कुंडल होगा उसके वाद हार होगा इत्यादि। यह तो स्वर्णकारके आधीनकी वात हैं जो उसकी इच्छा हो सो वनावे इसमें क्रमवद्धपर्यायका कोई सवाल नहीं है। उसी प्रकार जीवका परिणमन चेतन्य स्वरूप ही होगा जड स्वरूप नहीं होगा। वे कर्माधीन किसी पर्यायमें परिणमन करे उनका परिणमन आत्मस्वभाव रूपसे ही होगा इसी वात का स्पष्टीकरण करनेके लिये टीकाकार ने सुवर्ण का दृष्टान्त दिया है, न कि क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि करनेके लिये? यदि क्रमनियमित पर्यायकी सिद्धि करनेके लिये वह सुवर्णका दृष्टान्त दिया है तो सिद्धकर वतलावें कि इस सुवर्णके गहकी (डलीकी) यह क्रमनियमित पर्याय होने वाली है अन्यरूपसे नहीं। यदि कहो कि यह तो केवलीगम्य हैं तो कारक पक्षमें केवलीगम्यकी वातका क्या लेनदेन है वह तो ज्ञायक पक्ष की वात है यहां तो द्रव्यके परिणमनकी वात है सो द्रव्यका परिणमन अपने उपादानरूप ही होता है अन्यस्वरूप नहीं होता यही वात दिखलानेके लिये अमृतचन्द्र आचार्यने सुवर्णका दृष्टान्त दिया हैं और अन्यका कर्ता कर्मपनेका अभाव सिद्ध करनेके लिये एवं अन्यके साथ कार्यकारणभावका अभाव सिद्ध करनेकेलिये सुवर्णका दृष्टान्त दिया है। भावार्थ यह है कि—सर्वद्रव्यनिके परिणाम न्यारे २ हैं अपने अपने परिणामके सव कर्ता हैं ते तिनिके कर्ता हैं ते परिणाम तिनिके कर्म हैं। निश्चयकरि कोईके काहूतें कर्ता कर्म सम्वन्ध नाही है। तातें जीव अपने परिणामोंका कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। तैसे ही अजीव

अपना परिणामनिका कर्ता है अपना परिणाम कर्म है। ऐसे अन्यके परिणामनिका जीव अकर्ता है। उपरोक्त पं० जयचन्द जी का भावार्थ है इसमें क्रमनियमित पर्यायका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तो भी आपने उस टीकाको क्रमनियमितपर्यायकी सिद्धिके लिये उधृत की है यह आश्चर्यकी वात है कि आपने विद्वान् होकर भी "कहीं की ईंट कहीं का रोडा । भानमतीने कुनवा जोडा" वाली कहावत सिद्ध कर दिखाई है। उक्त टीका का अर्थ भी स्व० प० जयचन्दजी का देखिये उसमें भी क्रमनियमित पर्यायकी गंध भी नहीं है।

टीका—जीव है सो तो प्रथम ही क्रमकरि अर नियमित निश्चित अपने परिणाम तिनिकरि उपजता संता जीव ही है। अजीव नाही है। ऐसे ही अजीव है सो भी क्रमही करि अर निश्चित जे अपने परिणाम तिनि करि उपजता संता अजीव ही है जीव नहीं है। जाते सर्व ही द्रव्यनिके अपने परिणाम करि सहित तादात्म्य है। कोई ही अपने परिणाम ने अन्य नाहीं, ऐसे अपने परिणामको छोडि अन्य में जाय नांहीं। जैसे कंकणादि परिणामकरि सुवर्ण उपजे है सो कंकणादि से अन्य नाही है। तिनिते तादात्म्य स्वरूप है। तेसे सर्व द्रव्य हैं ऐसे ही अपने परिणामकरि उपजा जो जीव ताके अजीवकरि सहित कार्यकारण भाव नाही सिद्ध होय है। जाते सर्वद्रव्यनिके अन्य द्रव्यकरि सहित उत्पाद्य अर उत्पादक भावका अभाव है, अर तिस कारणकार्यभावकी सिद्धि न होते अजीवके जीवका कर्मपणा न सिद्ध होय है। अर अजीवके जीवका कर्मपणा न सिद्ध होय कर्ता कर्म के अनन्य पेक्ष सिद्धपणाते जीवके अजीवका कर्ता पणा न ठहर्या। याते जीव है सो पर द्रव्यका कर्ता न ठहर्या अकर्ता ठहर्या"

ग्रन्थकारने इस कथनसे सर्वद्रव्यका अपने २ परिणमनके साथ निश्चित रूपसे तादात्मक सम्बन्ध सिद्ध किया है तथा स्वद्रव्यके साथ ही कार्य कारण भाव एवं कर्ता कर्मभाव सिद्ध किया है, पर द्रव्यके साथ नहीं, अतः अमृतचन्द्राचार्य का "क्रमनियमित परिणमन" शब्दके प्रयोग करनेका प्रयोजन उपरोक्त है। अर्थात् निश्चित रूप से सव द्रव्योंका परिणमन अपनेरूप तादात्म्य होता है पर द्रव्यरूप नहीं होता इस कारण परके साथ कर्ता कर्म भाव का और कार्यकारण भावका अभाव है एवं उपादानरूप परिणमन करने का स्व भाव है यह जनानेके लिये ही "क्रमनियमित" परिणमन शब्दका प्रयोग किया गया है। दूसरा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी आप जो यह सार निकालते हैं। कि—

"इस प्रकरण का सार यह है कि प्रत्येक कार्य अपने स्व कालमें ही होता है इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के वाद एक अपने अपने उपादानके अनुसार होती रहती है। यहां पर क्रमशब्द पर्यायकी क्रमाभिव्यक्तिको दिखलानेके लिये स्वीकार किया है और नियमित, शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने अपने उपादानके अनुसार नियमित है। यह दिखलानेके लिये दियागया है। वर्तमानकालमें जिस अर्थको "क्रमवद्धपर्याय" शब्दद्वारा व्यक्त कियाजाता है 'क्रमनियमित' पर्यायका वही अर्थ है। ऐसा स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं, मात्र प्रत्येक पर्याय दूसरी पर्याय से वधी हुई न हो कर अपनेमें स्वतंत्र है यह दिखलानेके लिये यहां पर हमने "क्रमनियमित" शब्दका प्रयोग किया है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयप्राभृत गाथा ३०८ आदि की टीकामें क्रमनियमित, शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है क्योंकि यह प्रकरण सर्वविशुद्ध ज्ञानका है।

सर्वविशुद्ध ज्ञान कैसे प्रगट होता है यह दिखलानेके लिये समय प्राभृतकी गाथा ३०८ से ३११ तककी टीकामें मीमांसा करते हुये आत्माका अकर्तापन सिद्ध कियागया है ; क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपने को परका कर्ता मानता आरहा है। यह कर्तापनका भाव कैसे दूर हो यह उन गाथाओमें बतलानेका प्रयोजन है। जब इस जीवको यह निश्चय होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने क्रमनियमितपनेसे परिणमता है इस लिये परका तो कुछ भी करनेका मुझमें अधिकार है नहीं, मेरी पर्यायों मे भी मैं कुछ हेर फेर कर सकता हूं यह विकल्प भी शमन करने योग्य है। तभी यह जीव निज आत्माके स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञाता दृष्टारूपसे परिणमन करता हुआ निजको परका अकर्ता मानता है और तभी उसने " क्रमनियमित " के सिद्धान्तको परमार्थरूप से स्वीकार किया यह कहा जा सकता है क्रमनियमित का सिद्धान्त स्वयं अपने मे मौलिक होकर आत्माके अकर्तापनको सिद्ध करता है। प्रकृतमें अकर्ताका फलितार्थ ही ज्ञाता दृष्टा है।

आत्मा परका कर्ता होकर ज्ञाता दृष्टा तभी हो सकता है जब वह भीतरसे "क्रमनियमित" के सिद्धान्तको स्वीकार कर लेता है इसलिये मोक्षमार्गमें इस सिद्धान्तका बहुत बडा स्थान है ऐसा प्रकृतमें जानना चाहिये " पृष्ठ १७६। प्रकृतमें यदि पं० जी "क्रमनियमित" सिद्धान्तको स्वीकार करने मात्रसे ही जो कोई ज्ञाता दृष्टा बन जाता है तथा परका अकर्ता होजाता है तो इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेवाले सभी ज्ञाता दृष्टा बन गये एवं परका अकर्ता होगये इसकारण उनका मोक्षमार्गमें बहुत बडा स्थान है ऐसा मान लेना उचित है किन्तु यह बात सर्वथा निराधार है विश्वास करने योग्य नहीं है। क्योंकि आपके माने हुये क्रमबद्ध

पर्यायको स्वीकार करनेवाले मोक्षमार्गमें योजनों दूर होते जा रहे हैं। अर्थात् देवपूजादि षट्कर्म करना छोड बैठे हैं। इसका कारण एक तो यह है कि इनको पुण्यबन्धका कारण मानकर पुण्यको संसारका हेतु समझते हैं। दूसरा कारण यह है कि अपना किया तो कुछ होगा नहीं भगवानके ज्ञानसे जैसा होना झलका है वही होगा उससे हीनाधिक कुछ भी होनेवाला नहीं है फिर पुरुषार्थ करनेकी जरूरत ही क्या है ? अतः क्रमबद्ध (क्रमनियमित) पर्यायको माननेवाले सभी सज्जन षट्कर्म करनेसे उदासीन होते जा रहे हैं और स्वमेव भी कर्तृत्व बुद्धिसे शून्य बन बैठे हैं। इसका कारण यही है जो क्रमनियमित पर्याय होनेवाली है वही होगा। उसीपर विश्वासकर स्वका कर्तव्य कर्म भी नहीं करते। यह अपूर्व लाभ क्रमबद्धपर्यायको स्वीकार करनेवालोंको मिल रहा है। कुन्द-कुन्दस्वामी तो यह कहते हैं कि—

"अन्तरदृष्टि लखाव, अरु स्वरूपका आचरण।
ये ही परमार्थभाव, शिवकारण यही सदा ॥

अर्थात् भेदविज्ञान जिसको होगया है उसीकी अन्तरदृष्टी बनजाती है। इस कारण वह अपने स्वरूपमें आचरण करता हुआ परस्वरूपका ज्ञाताद्रष्टा बन जाता है बस यही परमार्थभाव है और यही मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त और सब क्रमबद्धादि पर्यायको मानकर प्रमादी बनना है। जो व्यक्ति क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यताका पक्षपाती है वह कभी भी अपना आत्मकल्याण नहीं कर सकता है। क्योंकि उसकी स्वमें कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होजाती है इसकारण वे स्वच्छन्द हुआ परका कर्ता बन जाता है जैसे कानजी स्वामी परका कर्ता बनकर बैठे हैं। उनका कहना है कि—

"आत्माका अपूर्वज्ञान प्राप्त करने वाले जीवको सामने निमित्तरूप से भी ज्ञानी ही होते हैं। वहां सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित

सामनेवाले ज्ञानीका आत्मा अंतरंग निमित्त है और उन ज्ञानीकी वाणी बाह्य निमित्त है" अर्थात् कानजी अपनेको ज्ञानी मानकर जो आत्माका अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीवके आप अंतरंग निमित्तकारण बनते हैं यही तो परका कर्ता बनना है। अंतरंग निमित्त कारण तो है ज्ञानी बनने वालेकी आत्माके साथ जो मिथ्यात्व लगा हुआ है उसका अभाव, उसको अंतरंग निमित्त कारण न मानकर अपनेको (ज्ञानीको) परकी आत्माका अंतरंग कारण मान बैठे हैं यही परका कर्तापना है। जो व्यक्ति स्वका कर्तापन छोड़ बैठता है वह परका कर्ता अवश्य बनता है। वह मिथ्यात्ववश समझता नहीं कि इस बातसे मैं परका कर्ता बन जाता हूं। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि स्वका कर्ता बनता है, परका अकर्ता रहता है और मिथ्यादृष्टि परका कर्ता बनता है स्वका अकर्ता बनता है। अतः दोनोंमे दोनों बात नहीं पाईजाती और सम्यग्दृष्टि परका कर्ता बना रहै और अपना अकर्ता बना रहै तथा मिथ्यादृष्टि परका अकर्ता बना रहै और स्वका कर्ता बना रहै यह बात भी नहीं बनती। इसलिये जो जो स्वका कर्ता है वह परका अकर्ता है और जो स्वका अकर्ता है वह परका कर्ता अवश्य है। इस सिद्धान्तसे जो क्रमबद्ध पर्यायके सिद्धान्तको मानता है वह अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख होकर स्वका अकर्ता बन जाता है अतः उसका मोक्षमार्गमें स्थान नहीं है वह मोक्षमार्गसे पराङ्मुख है ऐसा समझना चाहिये।

नियत शब्दका अर्थ निश्चय रूप अथवा नियतरूप, स्वभावरूप, प्रकरणवश किया जा सकता है किन्तु इसका विपर्यास करना अनर्थकारी है। गुण सहभावी हैं, पर्याय क्रमभावी है।

"अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः। अन्वयिनो

ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः। पुद्गलादीनां च रूपादयः तेषां विकारा विशेषात्मना विद्यमानाः पर्यायाः "पर्याया इति स्वभावविभावरूपतया परिसमन्तात्परि प्राप्नुवन्ति परिगच्छन्ति ये ते पर्यायाः पर्यणं पर्यय इति वा स्वभाव-विभावरूपतया परिप्राप्तिरित्यर्थः ॥

—सर्वार्थसिद्धौ

जब जीवका परिणमन स्वभाव है तब वह समय समय प्रति परिणमन निश्चय रूपसे करते ही हैं इसी हेतुसे आचार्य अमृत-चन्द्रने क्रमनियमित परिणामन शब्दका प्रयोग सर्व विशुद्धिद्वारकी प्रथम गाथाकी टीका करते हुये किया है उसका आशय यही है कि क्रमरूपसे (समय समय प्रति) निश्चयसेतो जीव परिणमन करता है। किन्तु आप उसका अर्थ क्रमनियमित पर्याय करते हैं यही अर्थका विपर्यास है। इस बातको हम ऊपरमें स्पष्ट कर बता चुके हैं।

इस नियतिवादको सम्यक् नियति सिद्ध करनेके लिये जो आपने आगम प्रमाण दिये हैं वे प्रमाण ज्ञायक पक्षके हैं, कारक पक्षके नहीं इसकारण आपका दिया हुआ प्रमाण सम्यक्नियतिको सिद्ध नहीं करता। क्योंकि आपकी सम्यक्नियतिमें और नियतिवादमें कुछभी अंतर नहीं है। आपका सम्यक्नियतिस्वरूप भी कारक पक्षका है और नियतिवादभी कारकपक्षका है इस लिये दोनों एक कोटीके हैं। नियतिवादवाला भी यही मानता है कि—

"जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ८८२ गोमट

अर्थात् जो जिसरूपसे जिसप्रकार जिसके जब होना है वह तब उस रूपसे उस प्रकार उसके नियमसे होता है इस प्रकारका जो कहना है वह नियतिवाद है। यह नियति वादका लक्षण है। और आपभी यही कहते है कि—"इस प्रकरणका सार यह है कि प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें-ही होता है इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें क्रमनियमित है, एकके वाद एक अपने अपने उपादानके अनुसार होती रहती है" अब कहिये पंडितजी आपकी मान्यतामें और नियतिवादमें क्या अंतर है? शब्दोंका या अर्थका? शब्दोंका हेरफेर करदेनेसे क्या होगा जवतक अर्थमे हेरफेर न हो तवतक शब्दोंका हेरफेर करते रहो नियतिवादकी मान्यता दूर नहीं होगी आप भी यही कहते हैं कि 'जिस समय जो पर्याय होने वाली है वही होगी उसमें कुछभी हेरफेर नही होगा पृष्ठ १७६ तथा नियतिवाद वाला भी यही मानता है कि जिस प्रकार जहां जैसा होना है वही होगा उसमें कुछभी हेरफेर नहीं होगा अतः इन शब्दोंमें अंतर है अर्थमें कुछ भी अंतर नहीं है। यह सम्यक् नियति है और यह मिथ्या नियति है ऐसा आगममे कहीं पर भी निरूपण नहीं किया गया है। आप जो स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाके कथनसे या पद्मपुराणके कथनसे सम्यक्नियतिकी कल्पना करते है यह वात विद्वानोंकेलिये योग्य नहीं है। क्योंकि इससे परस्पर आगममें विरोध उत्पन्न होता है। गोम्मटसारके कर्ता तो जिसको नियतिवाद घोषित करते है उसीको स्वामी कार्तिकेय, और आचार्य रविषेण सम्यक् नियति बोलकर प्रतिपादन करे यह नहीं हो सकता इसलिये उक्त दोनों आचार्योंने जो यह प्रतिपादन किया है कि—

"जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि

णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥ ३२१
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अह जिणंदो वा ॥ ३२२
"एवं जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाये ।
सो सद्दिट्ठो सुद्धो जो संकदिं मोहु कुदिट्ठो" ३२३

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात् निशंक अंगका धारी सम्यग्दृष्टि जीव यह मानता है कि भगवानके ज्ञानमें सब द्रव्यों की पर्यायें जैसो ज्ञानी झलकी हैं वह उसी रूपसे होंगी उसको इंद्र जिनेन्द्र कोई भी निवारणेको समर्थ नहीं है क्योंकि भगवान के ज्ञान में पदार्थ अन्यथा नहीं झलकता यह सम्यग्दृष्टिके पूरा विश्वास है इसलिये वह उसमें संदेह नहीं करता । जो सदेह करता है वह मिथ्यादृष्टि है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि के ही सर्वज्ञके ज्ञान मे और उनके वचनोंमे संदेह होता है । सम्यक्दृष्टि के नही । यही बात पद्मपुराण मे कही है तथा और भी ग्रंथोंमें सर्वज्ञके जानने का अपेक्षा ऐसा कथन मिलता है । वह सब कथन ज्ञायक पक्ष की अपेक्षा से किया गया है, हमारे कर्तव्य कर्मको अपेक्षा से नहीं । इसलिये हमारे कारकपक्षमें भगवानके ज्ञायक पक्षको लगाना सर्वथा नियतिवादका समर्थन है उसको आप चाहे सम्यक्नियति कहें या क्रमनियमित पर्याय कहें अथवा नियतिवाद पाखंड कहें इनमें शब्दभेदके अतिरिक्त अर्थ भेद कुछ भी नहीं है । एक अपेक्षाको दूसरी अपेक्षा में लगाना यही पाखंड है । आपका जो यह कहना है कि—"इसप्रकार जब हम देखते हैं कि जहां एक ओर जैन धर्ममें एकान्त नियतिवादका निषेध किया गया है वहां

दूसरी ओर सम्यक नियतिको स्थान भी मिला हुआ है, इसलिये इसको स्थान देनेसे हमारे पुरुषार्थकी हानि होती है और हमारे समस्त कार्य यन्त्र के समान सुनिश्चित हो जाते हैं यह कह कर सम्यक नियतिका निषेध करना उचित नहीं है इत्यादि पृष्ठ १८४

पंडितजी ! सम्यक् नियतिका आगम में कहीं विधान हो तो उसका निषेध करना उचित नहीं कहा जा सकता किन्तु आगममें कहीं पर भी सम्यक्नियतिका विधान नहीं है फिर उसका निषेध करनेमें अनुचितता किस बात की है ! आगम के विपरीत कथनका निषेध करना सर्वथा उचित ही है । जैसा आप सम्यक् नियतिका लक्षण करते हैं वैसा ही आचार्योंने नियतिवाद पाखंडका लक्षण किया है ।

यत्तु यदा येन यथा यस्य नियमेन भवति तत्तु तद् तेन तथा तस्यैव भवेदिति नियतिवादार्थः ८८२

भावार्थ—जो जिस काल जिहि जैसे जिसके नियम करि है सो तिसकाल तिहि करि तैसे तिसहीके हो है ऐसा नियमकरि ही सबको मानना सो नियतिवाद है । इस नियतिवाद में भी कार्यकारण भावका अभाव नहीं है, इसमें भी "जिहिकरि जैसे जिसके नियम करि है यह जो शब्द है वह कार्य कारणभावको ही प्रगट करते है। अर्थात् जिसकालमें जिसके जरियै जैसा जिसके होना है वह उसी प्रकार सबके होता है ऐसा मानना सो नियतिवाद है । आपकी मान्यता भी तो यही है कि—"जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीवके जिस देश में जिस विधिसे जिसकाल में नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उसकाल में शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेसे कोन चलायमान कर सकता है अर्थात् कोईभी चलायमान नहीं कर सकता है" पृष्ठ १८३

अव कहिये पंडितजी ! आपकी मान्यतामें और नियति-वाद मे क्या अंतर है ? यदि कहो कि यह मान्यता हमारी नहीं है स्वामी कार्तिकेयाचार्य की है सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनका कहना सर्वज्ञ पक्षका है सर्वज्ञके ज्ञान में अनन्तानन्त पदार्थोंकी अनन्तानन्त भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी सर्वपर्यायें भासती है उस दृष्टिसे (ज्ञायकपक्षकी दृष्टि से) उनका कहना नियतिवाद नहीं है किन्तु भगवानके ज्ञानमें सम्यग्दृष्टि निशंक होता है यह दिखलानेका उनका प्रयोजन था उसको आप कारक पक्षमें (अपने कर्तव्य पक्षमें) लगाते है यही विपरीतता है। शास्त्रोंमें जिस प्रकार सम्यक्‌दृष्टिका और मिथ्या दृष्टिका लक्षण किया है उसीप्रकार सम्यक् नियतिका और मिथ्यानियतिका लक्षण नहीं किया है। सम्यक् और मिथ्या नियतिकी मान्यता कानजीस्वामीकी है उस मान्यताको ठीक आगमानुकूल वतलानेके हेतु आपका प्रयत्न है। सो अनुचित है। आगम विरुद्ध पक्षका समर्थन करना स्वपरका अकल्याण करनहारा है इसलिये उसका निषेध करना परम उभय हितकर है।

सम्यक् नियतिके समर्थनमें आपने जो अकृत्रिम पदार्थोंका दृष्टान्त दिया है वहभी अप्रासंगिक है क्योंकि पर्यायें कृत्रिम हैं इसलिये वे क्षणभंगुर है और अकृत्रिम पदार्थ सदा शाश्वत है उसमें हेरफेर नही होता इसकारण कृत्रिम पदार्थके साथ अकृत्रिम पदार्थका दृष्टान्त देना विषम है इस वातको आप जानते ही हैं फिर भी जान बूझकर अनुचित दृष्टान्त देकर आगम विरुद्ध पदार्थकी सिद्धि करना यह कहांका न्याय है ? जिस प्रकार भूगोलवादी कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा तारा वगैरह गोल है इसलियें पृथ्वी भी गोल है सूर्य चन्द्रादि घूमते है इसी प्रकार पृथ्वी भी

घूमती है तो क्या उनका ऐसा कहना न्याययुक्त है ? कदापि नहीं, उसी प्रकार आपका भी अकृत्रिम पदार्थोंके साथ कृत्रिम पर्याय की तुलना करना क्या न्याय संगत है ? कभी नहीं। एकपदार्थ गोल है तो दूसरा पदार्थ भी गोल होय यह नियम नहीं है उसका नियम बतलाना यही अनीतिवाद है। उसी प्रकार आपका दिया गया अकृत्रिम पदार्थोंका दृष्टान्त क्रमनियमित पर्याय के साथ लागू नहीं पडता। पाठकोंकी जानकारीके लिये आपका इस विषयका वक्तव्य यहां उद्धृत करदेना उचित समझते हैं—

"द्रव्यकी अपेक्षा–सव द्रव्य छः हैं। उनके अवान्तर भेदोंकी सख्या भी नियत है। सब उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभावसे युक्त है, उनका उत्पाद और व्यय प्रतिसमय नियमसे होता है। फिरभी द्रव्योंकी संख्यामें वृद्धि हानि नहीं होती। सवद्रव्योंके अलग अलग गुण नियत हैं। उसमें भी वृद्धि हानि नहीं होती। अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक जिस द्रव्यकी जितनी पर्यायें है वे भी नियत है उनमें भी वृद्धि हानि होना संभव नहीं है फिर भी लोक अनादि अनन्त है। अनन्तका लक्षण–जिसका व्यय

नोट—१ सव द्रव्योंकी पर्यायें नियत नहीं हैं क्योंकि पदार्थोंमें उत्पादव्यय होना नियत है वह उनका स्वभाव है पर उत्पाद व्यय होनेकी संख्या नियत नहीं है यदि उनकी संख्या नियत हो तो एक दिन वह खतम हो जायगा जब पदार्थमें उत्पाद व्यय होना खतम हो जायगा तो पदार्थ ही खतम हो जायगा। इसलिये पदार्थ की पर्यायें नियत नही है अनियत है समय २ प्रति नवीन २ उत्पन्न होती रहती हैं इस कारण उसका अंत नही होता। उस की संख्या नियत कर ली जाय तो उसका अंत एक दिन अवश्य हो जायगा।

होनेपर भी कभी अंत नहीं होता। जीवो पुद्गलों तथा आकाश प्रदेशोंकी संख्या मे तथा सब द्रव्योंके गुण और पर्यायों में ऐसी अनन्तता स्वीकार की गई है।

क्षेत्रकी अपेक्षा–लोकके तीन भेद है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इनमे जहां जो व्यवस्था है वह नियत है। उदाहरणार्थ–सोलह कल्प नौग्रैवेयक नोअनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमे विभक्त है। इसके ऊपर एक पृथ्वी और पृथ्वी के ऊपर लोकान्तमें सिद्ध लोक है। अनादि कालसे यह व्यवस्था इसी प्रकारसे नियत है और अनन्तकाल तक नियत रहैगी। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप और असंख्यातसमुद्र हैं। उनमे जहां कर्मभूमि या भोगभूमिका या दोनोंका जो क्रमनियत है उसीप्र कार सुनिश्चित है, उसमें परिवर्तन होना संभव नहीं। अधोलोकमें रत्नप्रभादि सात पृथिवियां और उनके आश्रयसे सात नर्कों की जो व्यवस्था है वह भी अपवरिर्तनीय है।

कालकी अपेक्षा—ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोक के भोगभूमि सम्बन्धी क्षेत्रोंमे तथा स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्ध और स्वयंभूरमण समुद्रमें जहां जिस कालकी व्यवस्था है वहां अनादिकालसे उसी कालकी प्रवृत्ति होती आरही है। और अनन्तकाल तक उसी कालकी प्रवृत्ति होनी रहेगी। विदेह सम्बन्धी कर्म भूमि क्षेत्रमें भी यही नियम जानलेना चाहिये। इसके सिवाय कर्मभूमि सम्बन्धी जो क्षेत्र बचता है, उसमें कल्पकालके अनुसार निरंतर और नियमित ढंगसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी प्रवृत्ति होती रहती है। एक कल्पकाल वीस कोडा कोडी सागरका होता हैं। उसमें से दस कोडाकोडी सागरकाल उत्सर्पिणीके लिये सुनिश्चित है। उसमें भी प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी छः छः कालोंमें विभक्त हैं। उसमें भी जिस

कालका जो समय नियत है उसके पूरा होने पर स्वभावतः उस के वादके कालका प्रारंभ होजाता है। उदाहरणार्थ—अवसर्पिणी कालमे जीवोंकी आयु और काय ह्रासोन्मुख पर्यायों के होने में निमित्त होते है। किन्तु अवसर्पिणो कालका अंत होकर उत्सर्पिणीके प्रथम समयसे ही यह स्थिति वदलने लगती है। कर्म और नोकर्म आदिभी उसी प्रकारके परिणमनमें निमित्त होने लगते है। विचार तो कीजिये कि जो औदारिक शरीर नामकर्म उत्तम भोगभूमि में तीन कोसके शरीरके निर्माण में निमित्त होता है वही औदारिक शरीर नामकर्म अवसर्पिणीके छटेकालके अंत में एक हाथके शरीरके निर्माणमे निमित्त होता है। कोई अन्य सामग्री तो होनी चाहिये जिससे यह भेद स्थापित होता है। इन कालों की अन्तर व्यवस्था को देखें तो ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणी के तृतीयकालमें और अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें चौवीस तीर्थङ्कर वारह चक्रवर्ती नौ नारायण नौ प्रतिनारायण नौ वलभद्र ग्यारह रुद्र और चौवीस कामदेवोंका उत्पन्न होना निश्चित है। निमित्तानुसार ये पद कभी अधिक और कभी कम क्यों नहीं होते? विचार कीजीये। कर्मभूमिमें आयुकर्मका वन्ध आठ अपकर्षण कालोंमें या मरणके अन्तमुहूर्त पूर्व ही क्यों होता है? इसके वन्ध के योग्य परिणाम उसी समय क्यों होते हैं? विचार कीजिये। जो इस अवस्थाके भीतर कारण अन्तर्निहित है उसे ध्यानमें लीजिये। छह माह आठ समय में छह सौ आठ जीव ही मोक्ष लाभकरते है ऐसा क्यों हैं विचार कीजिये। काल नियमके अन्तर्गत और भी वहुत सी व्यवस्थायें हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। भावकी अपेक्षा कषायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं वे न्यूनाधिक नहीं होते स्थूलरूपसे सव लेश्यां छह हैं। उनके अवान्तर भेदोंका प्रमाण भी निश्चित है।

देव लोकमें तीन शुभ लेश्यायें और नरक लोक में तीन अशुभ लेश्यायें ही होती है उसमें भी प्रत्येक देवलोककी और प्रत्येक नरक लोक की लेश्यायें नियत हैं। वहां उनके निमित्त कारण द्रव्य क्षेत्रादि भी नियत हैं। इतना अवश्य है कि भवनत्रिकोंके कपोत अशुभ लेश्या अपर्याप्त अवस्थामें संभव है। पर वह कैसे भवनत्रिकोंके होती है यह भी नियत है। इसी प्रकार भोगभूमि के मनुष्यों और तिर्यंचोंमें भी लेश्याका नियम है। कर्मभूमि क्षेत्रमें और एकेन्द्रियादि जीवोंमें लेश्या परिवर्तन होता है अवश्य पर वह नियत क्रमसे ही होता है। गुणस्थानो में भी परिणामोंका उतार चढ़ाव होता है वह भी शास्त्रोक्त नियतक्रमसे ही होता है। अधःकरण आदि परिणामोंका क्रमभी नियत है। तथा उनमें से किस परिणामके सद्भावमें क्या कार्य होता है वह भी नियत है एक नारकी जो नरकमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके और एकदेव जो देवलोकमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके जो अधःकरण आदि रूप परिणामो की जाति होती है वह एकसी होती है उसके सद्भावमें जो कार्य होते हैं वे भी प्रायः एकसे होते हैं। अन्य द्रव्यक्षेत्रादि बाह्य निमित्त उनमें हेर फेर नहीं कर सकते यद्यपि एक समयवर्ति और भिन्न समयवर्ती जीवोंके अधःकरण परिणामोंमें भेद देखा जाता है पर वह भेद नरक लोकमें संभव हो और देवलोक में संभव हो न हो ऐसा नहीं है। अतः इससे उपादानकी विशेषता ही फलित होती है"

पंडितजी के उपरोक्त कथनका सार इतना ही है कि जब ये उपरोक्त सब व्यवस्थायें नियतरूप से सुसिद्ध हैं तो द्रव्यकी पर्यायें भी निश्चित रूपसे सिद्ध क्यों नहीं हैं? अवश्य ही निश्चित है अब इसपर विचार करना है कि उनके उपरोक्त वक्तव्यसे क्रम

बद्ध पर्यायका समर्थन होता है या नहीं। तथा आपके दिये गये उदाहरणोंका क्रमनियमित पर्याय के साथ मेल खाता है या नहीं ,अथवा पंडितजी का उपरोक्त कथन यथार्थ है या नहीं इत्यादि विषयोंकी आलोचना करके सत्य असत्य का निर्णय करना है।

पंडितजीने द्रव्य क्षेत्र काल और भावोंकी अपेक्षासे उपरोक्त पदार्थोंकी अवस्था निश्चितरूपसे स्वसिद्ध है उसमें किसी निमित्त से फेर फार नहीं होता ऐसा सिद्ध करनेकी चेष्टाकी हैं। किन्तु पंडितजी ने प्रथम गलती तो यह की है कि आपने व्यवहारका लोपकर परमार्थकी सिद्धि करनेवाले होकर भी व्यवहारका आश्रय लिया है। अर्थात् द्रव्य क्षेत्र काल और भाव स्वरूपसे प्रत्येक पदार्थ विद्यमान है इसलिये उसके सहारेसे पंडितजीको कथन करना उचित था किन्तु पंडितजीने स्वचतुष्टयके आश्रय पदार्थ का विवेचन न करके व्यवहार क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा से कथन किया है। पदार्थका स्वद्रव्य तो पदार्थका संपूर्ण अवयवोंका समुदाय है तथा पदार्थका स्वक्षेत्र पदार्थके प्रदेशमात्र, पदार्थका स्व काल पदार्थका परिणमन है और पदार्थका स्वभाव औपशमिकादि पंच प्रकारके भाव हैं। (औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक, पारिणामिक) इनके आश्रयसे कथन किया होता तो वह नियत दृष्टिसे समझा जाता। किन्तु आपने ऐसा न कर व्यवहार दृष्टिसे जो पर चतुष्टय रूप तीन लोकके क्षेत्र है तथा काल जो तीन लोकमें व्यवहार कालके आश्रय की व्यवस्था है तथा भाव जो कषाय लेश्यादि औदयिक परिणाम है। उनके आश्रयसे कथन किया है। यह आपकी मान्यतामें दूषण है। क्योंकि आप निश्चयावलम्बी हैं अतः आपको तो व्यवहार का और निमित्तोंका लोप करना ही उचित था। खेर—"अर्थी दोषन्न पश्यति" छहो द्रव्य नित्य हैं अकृत्रिम हैं और उनमें रहनेवाले

उनके गुण भी नित्य हैं क्योंकि गुण गुणी अभेद हैं परन्तु उनकी पर्यायें अनित्य हैं वह सदा शास्वती रहनेवाली नहीं हैं। इसलिये नित्य पदार्थके साथ अनित्य पदार्थकी समान तुलना करनी सर्वथा अनुचित है। अर्थात् जब द्रव्य और द्रव्यके गुण नित्य हैं और नियत हैं तो उनकी पर्यायें भी नित्य और नियत होनी ही चाहिये यह नियमकी बात नहीं है। क्योंकि गुण सहभावी हैं और पर्यायें क्रमभावी हैं इसलिये जो क्रमभावी वस्तु है वह अनित्य ही होती है क्योंकि उसकी उत्पत्ति नवीन नवीन क्रमरूप में होती है जिसकी नवीन उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है। अतः उत्पाद व्ययमें नित्यता और नियमितता नहीं रहती। इसलिये द्रव्य और गुणोंके साथ पर्यायों की नियतता सिद्ध करना सर्वथा युक्ति और आगम विरुद्ध है।

इसका कारण यह कि गुण धर्म पदार्थमे नवीन पैदा नहीं होते और न उसका कभी विनाश भी होता है इसलिये वे जैसा हैं वैसा ही वे पदार्थके साथ सदा विद्यमान नियतरूपसे रहते हैं अतः उनकी संख्या नियमित बनी हुई है किन्तु पदार्थमें पर्यायें गुणोंकी तरह सदा विद्यमान नहीं रहतीं। वह एक विनशती है उसी समय दूसरी उत्पन्न हो जाती है जैसे मिट्टी रूप पदार्थकी घटरूप पर्याय का नाश होते ही उसी क्षणमें कपालरूप पर्याय उसकी उत्पन्न हो जाती है। उसीप्रकार मनुष्य पर्यायका नाश होते ही देवादि पर्यायकी उत्पत्ति हो जाती है इसलिये पर्यायें पदार्थके साथ सहभावी नहीं हैं इसलिये उनकी संख्या नियमितरूपसे नियत नहीं रहती इसीकारण उसका (द्रव्यका) उत्पाद व्यय स्वभावका कभी अभाव नहीं होता और इससे पदार्थकी भी हानि वृद्धि कुछ भी नहीं होती क्योंकि वह पदार्थका स्वभाव है स्वभावमें कभी हानि वृद्धि होता नहीं। यदि पदार्थमें स्वभावकी हानि वृद्धि मान लीजाय

तो पदार्थकी भी सिद्धि नहीं होती अतः पदार्थोंमे स्वभावकी हानि वृद्धि नहीं होती इसकारण पदार्थोंकी संख्या नियत है। और पर्यायोंका क्रम उत्पाद व्यय स्वरूप है इस कारण उनकी सख्या नियत नहीं है अतः उसको नियमित नियत मानना सर्वथा आगम विरुद्ध है। इसी कारण आचार्योंने क्रमवद्ध पर्याय (क्रमनियमितपर्याय) को मानने वालों को नियतिवाद पाखंडी वतलाया है। यदि मिथ्या नियतिवादकी तरह सम्यक्नियति भी कोई वस्तु होती तो आचार्य उसका भी सम्यक्नियति वोलकर उल्लेख अवश्य करते जैसे सम्यक्दर्शन और मिथ्यादर्शनका उल्लेख किया है। इसलिये मानना पडता है कि सम्यक्नियतिका आगममें कहीं पर भी उल्लेख नहीं है क्योंकि सम्यक्नियति कोई पदार्थ ही नहीं है। और न कोई क्रमनियमित सम्यक्पर्याय है जो उसका आगममें उल्लेख मिलता। आगममें तो एकही उल्लेख मिलता है कि क्रमवद्धपर्याय (क्रमनियमित पर्याय) को माननेवाला नियतिवाद है। क्रमवद्ध पर्यायको मानने वालोंको आचार्योंने नियतिवादी क्यों कहा इसका कारण क्या है? इस पर विचार करनेसे यही ज्ञात होता है कि क्रमवद्ध पर्याय पर निर्भर करनेवाला दोनों तरफसे मिथ्यादृष्टि होता है। अर्थात् भगवानके ज्ञानमें हमारा परिणमन किस समय कैसा होगा वैसा झलका है वह उसीके माफक होगा उसमें न्यूनाधिक नहीं होगा इस ज्ञायकपक्ष पर निर्भर करने वालोंकी दशा मारीचकी और द्वीपायनमुनि आदिकी सी होती है। जो अपने कल्याणकी वात जान लेता है वह भी मारीचकी तरह स्वछंद होकर मिथ्यादृष्टि वन जाता है और अनंतकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता है। तथा जो अपने अकल्याणकी वात जान लेता है वह भी द्वीपायनमुनि और यादवोंकी तरह डरके मारे उससे वचनेका उपाय करनेके लिये प्रयत्न करते हैं इस कारण वे भी मिथ्यादृष्टि वनकर अनन्त ससारमे परिभ्रमण करते

हैं। इसलिये ज्ञायकपक्षका ग्रहणकर चलनेवाले दोनों तरहसे मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। यह निश्चित बात है। इसी कारण आचार्योंने ज्ञायकपक्ष पर नाचने वालोंको नियतिवादी घोषित किया है। अतः आचार्योंने नियतिवादका सम्यक् नियति बोलकर कहींपर भी समर्थन नहीं किया। आपने जो द्रव्य अपेक्षा नियतिवादको सम्यक्नियति कहकर समर्थन किया है वह सर्वथा एकान्त रूपसे मिथ्या है।

द्रव्यकी पर्यायें नियमित नियत नहीं है वे नवीन नवीन ही उपजे हैं। इस सम्बन्धमें आगम प्रमाण देखिये। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२९। २३०। २३१। २३२।

"णव णव कज्ज विसेसा तीसुवि कालेसु होंति वत्थूणं
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तरभावमासिज्ज" २२९

भावार्थ—जीवादि वस्तुनिके तीनूंही कालविषे एक एक समयविषे पूर्व उत्तर परिणामका आश्रयकरि नवे नवे कार्य विशेष होय हैं नवे नवे पर्याय उपजे हैं। आगे इसी कारण कार्यभावको दृढ करे हैं।

"पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥ २३०

अर्थात् पूर्वपरिणामकरि युक्त द्रव्य है सो तो कारणभावकरि वर्ते है। तथा सोही द्रव्य उत्तरपरिणामकरि युक्त होय तब कार्य होय है यह नियमते जाणू। भावार्थ जैसे माटीका पिंड तो कारण है अर ताका घट बन्या सो कार्य है तैसे पहिले पर्यायका स्वरूपकरि अब जो वह पिछले पर्यायसहित भया तब सो ही कार्यरूप भया ऐसे नियमरूपसे वस्तुका स्वरूप कहिये है। अब जीव द्रव्यके भी तैसे ही अनादि निधन कार्यकारणभाव है सो ही दिखावे हैं—

"जीवो अणाइणिहणो परिणयमाणो ह णवणवभावं ।
सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा ॥ २३१

अर्थात् जीव द्रव्य है सो अनादिनिधन है सो नये नये परि- यायरूप प्रगट परिणमें है सो पहिले द्रव्य क्षेत्र काल भावको सामग्री विषे प्रवर्ते है पीछे कार्यनिकूं पर्यायनिकूं प्राप्त होय है भावार्थ—जैसे कोई जीव पहिले शुभ परिणामरूप प्रवर्ते पीछे स्वर्ग जाय तथा पहिले अशुभ परिणामरूप प्रवर्ते पीछे नरक आदि पर्याय पावें ऐसे जानना। आगे जीव द्रव्य अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावविषे तिष्ठया ही नवे पर्यायरूपकूं करे है ऐसे कहैं हैं।

"ससरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि ।
खेत्ते एकम्मि ठिदो णियदव्वं संठिदो चेव ॥ २३२

अर्थात् जीवद्रव्य है सो अपने चैतन्यस्वरूप विषें तिष्ठ्या अपने ही क्षेत्रविषें तिष्टा अपने परिणमनरूप समय विषे अपनी पर्याय रूप कार्यकूं साधे है। भावार्थ—परमार्थंते विचारिये तब अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव स्वरूप होता संता जीव पर्याय स्वरूप कार्यरूप परिणमे है। पर द्रव्य क्षेत्रकाल भाव है सो निमित्तमात्र है। आपका जो यह कहना है कि—

"इसको यदि और अधिक स्पष्टरूपसे देखाजाय तो ज्ञात होता है कि भूतकालमें पदार्थमे जो जो पर्यायें हुई थी वे सब द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित हैं और भविष्य कालमे जो जो पर्यायें होगीं वे भी द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित है अतएव जिस पर्यायके उत्पादका जो समय होता है उसी समयमें वह पर्याय उत्पन्न होती है और जिस समय जिस पर्याय का व्यय होना है वह उस समय विलीन हो जाती है। ऐसी एक भी पयाय नहीं है

जो द्रव्यरूपसे वस्तुमें न हो और उत्पन्न हो जाय और ऐसी भी कोई पर्याय नहीं है जिसका व्यय होने पर द्रव्यरूपसे वस्तुमें उसका अस्तित्व ही न हो। इसी बातको स्पष्ट करते हुये आप्तमीमांसामें स्वामी समंतभद्र कहते हैं कि—

"यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्
मोपादाननियामोभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थात् यदि कार्य सर्वथा असत् है अर्थात् जिसप्रकार वह पर्याय रूप से असत् है उसीप्रकार वह द्रव्यरूपसे भी असत् है तो जिसप्रकार आकाश कुसुमकी उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार कार्यकी भी उत्पत्ति मत होओ तथा उत्पादन का नियम भी न रहै और कार्यके पैदा होनेमें समाश्वास भी न रहै। इसी बातको आचार्य विद्यानन्दने उक्त श्लोककी टीकामें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है।

"कथञ्चित्त एव स्थितस्यौत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटवत्"

जैसे कथंचित् सत्का ही विनाश घटित होता है उसी प्रकार कथंचित् सत्का ही ध्रौव्य और उत्पाद घटित होता है।

प्रध्वंसाभावके समर्थनके प्रसंगमें इसीबातको और भी स्पष्ट करते हुये आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्रीमें कहते हैं। पृष्ठ ५३

"स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद् द्रव्यस्य नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम्, सत्त्वान्यथानुपपत्तेः"

वह अत्यंत विनाश द्रव्यका होता या पर्यायका ? द्रव्यका तो

हो नहीं सकता क्योंकि वह नित्य है पर्यायका भी नहीं होता क्यों कि वह द्रव्यरूपसे ध्रौव्य है। यथा विवादास्पद मणि आदिमे मल आदि पर्याय रूपसे नश्वर होकर भी द्रव्य रूपसे ध्रुव है अन्यथा उनकी सत्त्वरूपसे उत्पत्ति नहीं होती ।

जैन तत्त्व मीमांसा पृष्ठ १६४, १६५

आप जो उपरोक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि "ऐसी एक भी पर्याय नहीं जो द्रव्यरूपसे वस्तुमें और उत्पन्न होजाय और ऐसीभी कोई पर्याय नहीं है जिसका व्यय होनेपर द्रव्य रूपसे वस्तुमें उसका अस्तित्व ही न हो" १६४ इस कथनसे आपका अभिप्राय यह है कि जिन पर्यायो का व्यय हो चुका है उनका और आगे जो जो पर्यायें द्रव्यमें होने वाली हैं उन सब पर्यायों का अस्तित्व द्रव्यरूपसे वर्तमान वस्तु में मौजूद है। किन्तु आचार्योंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि भूत भविष्यत काल सम्बधी सर्व पर्यायों का अस्तित्व द्रव्यमें रहता है। उनके कहने का स्पष्टरूपसे अभिप्राय उक्त वाक्योंसे झलक रहा है कि

"तथाहि—विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम्"

अर्थात् मणि आदिमें मलादि पर्याय का नाश होनेपर भी द्रव्यरूपसे वह ध्रुव है। सारांश यह है कि पर्यायका नाश होनेपर भी पर्यायके साथ द्रव्यका नाश नहीं होता क्योंकि द्रव्य नित्य है "न तावद् द्रव्यस्य नित्यत्वात्" इन शब्दोंसे द्रव्यका कभी नाश नहीं होता। विभाव पर्यायका प्रध्वंसाभावसे अभाव होता है जैसे मणिमें मलका अभाव होता है किन्तु उस मलका द्रव्यरूपसे नाश नहीं होता इस लिये उसका मलरूप पर्यायका अभाव होकर दूसरी पर्यायरूप उसका परिणमन हो जाता है

अर्थात् मल पर्याय से पहले भी कोई न कोई पर्याय था। इसलिये परंपरा की अपेक्षा सामान्य पर्याय भी नित्य है, द्रव्य की कोई न कोई पर्याय भी सदा रहने वाली है। अतः यह कथन सत्के लक्षण सम्बन्धी है और द्रव्य है सो सत्रूप है।

"सत् द्रव्यलक्षणम्"

अर्थात् द्रव्यका लक्षण सत् है, जो सत् है सो ही द्रव्य है यह सामान्य अपेक्षा करि द्रव्यका लक्षण है इसी कारण सर्व द्रव्य सत्मयी ही है। तथा सत् किसको कहते है इसका आचार्य स्पष्टीकरण करते सूत्र कहते है।

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनो करि युक्त है सो सत् है। तहां चेतन या अचेतन द्रव्यके अपनी जाती कूं नहीं छोडनेके निमित्तके वशतें एकभावतें अन्यभावकी प्राप्ति होना सो उत्पाद है। जैसे माटीके पिण्डके घट पर्याय होना। तेसे ही पहिले भावका अभाव होना सो व्यय है। जैसे घटकी उत्पत्ति होते पिण्डके आकारका अभाव होना। वहुरि ध्रुव का भाव तथा कर्म होय ताकूं ध्रौव्य कहिये जैसे माटीका पिण्ड तथा घट आदि अवस्थाविषे माटी है सो ध्रुव कहिये। सो ही पिण्डमें था सो ही घटमे है तैसे ऐसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनूं ही करि युक्त होय सो सत् है।

इहां तर्क—जो युक्त शब्द तो जहां भेद होय तहां देखिये है जैसे दण्डकरि युक्त देवदत्त कहिये। कोई पुरुष होय ताकूं दण्ड-युक्त कहिये। जो ऐसे तीनि भाव जुदे २ करि युक्त है तो द्रव्यका अभाव आवे है। ताका समाधान—जो यह दोष नाहीं है। जातें अभेदविषे भी कथंचित् भेदनयकी अपेक्षाकरि युक्त शब्द देखिये है। जैसे सारयुक्त स्थंभ है इहां स्थम्भसे सार जुदा

नाहीं तो भी युक्त शब्द देखिये हैं। तैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंका अविनाभावने सत्‌का लक्षण कह्यो है। अथवा युक्त शब्द का समाहित भी अर्थ होता है। युक्त कहिये समाहित तादात्मक तत्स्वरूप ऐसा भी अर्थ है। तातें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप सत् है ऐसा अर्थ निर्दोष है। तातें यहां ऐसा सिद्ध होय है—जो उत्पाद आदि तीनों तो द्रव्यके लक्षण हैं अरु द्रव्य लक्ष्य है तहां पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा करि तो तीनूं ही द्रव्यते तथा परस्पर अन्य अन्य पदार्थ हैं। बहुरि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा करि जुदे नाही दिखें है। तातें द्रव्यतें तथा परस्पर एक ही पदार्थ है। ऐसे भेदाभेद नयकी अपेक्षा करि लक्ष्य लक्षण भावकी सिद्धि होय है।

इहां कोई कहै कि—जो ध्रौव्य तो द्रव्यका लक्षण अर उत्पाद व्यय पर्यायका लक्षण ऐसे कहना था यामें विरोध न आवता त्रयात्मक लक्षण कहनेमें विरोध आवे है। ताका समाधान—जो ऐसे कहना अयुक्त है जातें सत्ता तो एक है सो ही द्रव्य है। ताके अनन्तपर्याय हैं। द्रव्य पर्यायकी न्यारी न्यारी दोय सत्ता नांहीं है। बहुरि एकान्तकरि ध्रौव्य ही को सत् कहिये तो उत्पाद व्यय रूप प्रत्यक्ष व्यवहारके असत्पना आवे तब सर्व व्यवहार का लोप होय। तथा उत्पाद व्ययरूप ही एकान्तकरि सत् कहिये तो पूर्वापरका जोडरूप नित्यभाव विना भी सर्व व्यवहार का लोप होय तातें त्रयात्मक सत् हो प्रमाणसिद्ध है ऐसा ही वस्तु स्वभाव है सो कहनेमें आवे है। यह सर्वार्थसिद्धिकारका वचन है

इन वचनोंके अनुसार ही समन्तभद्राचार्यके और विद्यानन्दि आचार्यके वचन है जो आपने अपने ध्येयकी सिद्धि करनेके हेतु प्रमाण में दिये हैं, किन्तु उक्त प्रमाणोंसे क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि नही होती। क्योंकि सत् है सो वह उत्पाद और

इनके ऊपर सिद्धशिला और सिद्ध क्षेत्र यह अनादि निधन व्यवस्था है। इसी प्रकार मध्य लोकके असंख्यात द्वीप समुद्र उन में कर्मभूमि भोगभूमि कुलाचलादि सब व्यवस्थित हैं। अधो-लोकमें भी रत्न शर्करादि सात पृथ्वी और उसके आश्रय सात नरकों के पटल बिला आदि सब नियतरूप से व्यवस्थित है। उसी प्रकार कृत्रिम पदार्थ नियतरूपसे व्यवस्थित नहीं रह सकता इसलिये अकृत्रिम पदार्थोंकी व्यवस्थाके साथ क्षणिक पर्यायकी व्यवस्था व्यवस्थित बतलाना क्या न्यायसंगत है? कभी नहीं अतः क्षणिक पदार्थकी व्यवस्था नियमित रूपसे नहीं रह सकती यह अटल नियम है। इस लिये क्षेत्र अपेक्षा भी क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि नहीं हो सकती अतः आपने जो क्षेत्र अपेक्षा सम्यक नियति बोलकर क्रमबद्ध पर्यायकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया है वह सर्वथा न्याय युक्ति और आगम विरुद्ध है।

कालकी अपेक्षा भी क्रमबद्ध पर्यायकी पुष्टि नहीं होती। जो आपका यह कहना है कि "काल अपेक्षा जिस प्रकार ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोक भोगभूमि सम्बन्धि क्षेत्रमें तथा स्वयं-भूरमणद्वीपके उत्तरार्ध और स्वयंभूरमणसमुद्रमें जहां जिसकाल की व्यवस्था है वहां अनादिकालसे वहां उसी कालकी प्रवृत्ति होती रहेगी और विदेह क्षेत्र सम्बन्धी कालका भी यही नियम है। इसके सिवाय जो कर्म भूमिका क्षेत्र बचा है उसमें कल्पकालके अनुसार निरन्तर और नियमित ढंगसे उत्सर्पिणी और अवस-र्पिणी कालकी प्रवृत्ति होती रहती है। इन कालोंकी स्थिति दस दस कोडा कोडी सागरकी निश्चित है तथा इनमें जो छः छः कालोंकी प्रवृत्ति होती है वह भी निश्चित है अर्थात् कालोंके अनु-सार आयु कायादिकी घटा वढी नियमानुसार ही होती है। इनमें दूसरा कोई निमित्त कारण नहीं है जो उसके जरिये ऐसा होता

हो अर्थात यह विना निमित्त कारणके ही होता रहता है। उत्स-र्पिणीके तृतीय कालमे और अवसर्पिणी के चतुर्थकालमें चौबीस तीर्थंकर वारह चक्रवर्ती नौ नारायण नौ प्रतिनारायण, नौ वल-भद्र ग्यारे रुद्र और चौबीस कामदेवका उत्पन्न होना निश्चित है ये निमित्तानुसार पद प्राप्त कभी कम जादा नहीं होते।

आयुका बन्ध भी आठ अपकर्षण कालमे ही क्यों होता है? या मरणके अन्तर मुहूर्त पूर्व ही क्यों होता है? तथा छह महीना आठ समयमे छहसो आठ जीव ही मोक्ष क्यों जाते हैं? अधिक या कम क्यों नहीं जाते? इत्यादि कहनेका सारांश यह है कि परिणामोंकी सबके नियतता है इसी कारण तीथङ्करादि पद कम जादा नहीं होते और छह महीना आठ समयमे छह सौ आठ जीवोंके ही मोक्ष प्राप्ति रूप परिणाम होते है तथा आयुवन्धके परिणाम आयुके आठ अपकर्षण कालमें ही होते है या मरण-समयके अन्तमुहूर्त पहिले ही होते है। इस कारण सबके परि-णाम नियमरूपसे है। परिमित है। इसीलिये जिसकालमे जिसके जैसा परिणाम होना है वैसा ही होता है इसी कारण सब निय-मित कार्य होते है।"

किन्तु कालगत यह मान्यता भी मिथ्या है। क्योंकि एक नियमित कार्य होनेसे सब ही नियमित कार्य हों ऐसी कोई व्याप्ती नहीं है। अवसर्पिणीके चौथे कालमे और उत्सर्पिणी के तीसरे कालमें तीर्थङ्करादि जो नियमित रूपसे होते तो सब द्रव्योंकी पर्यायें भी नियमित रूपसे होनी चाहिये यह कोई नियम की वात नहीं है। जो नियमित रूपसे जिस कालमे जो होता है उस में भी काल दोषसे कम जादा और आगे पीछे होता देखिये हैं। जैसे इस हुण्डावसर्पिणी कालमें आदिनाथ भगवानने तीसरे कालमें ही मोक्ष पदकी प्राप्ति करली तथा वाहुवलस्वामी आदि-

व्यययुक्त होकर भी ध्रौव्यरूप है। इस कारण कथंचित् सत्का भी विनाश पर्याय अपेक्षा घटित होता है अर्थात सत् जिस पर्याय स्वरूपमें अवस्थित है उस पर्यायका नाश होने से उस पर्याय रूप सतका भी विनाश देखा जाता है इस अपेक्षा कथञ्चित् सत्का भी विनाश कहा जा सकता है। तथा उसी सत्का पूर्व पर्यायके विनाश कालमें नवीन पर्याय का उत्पाद होजाता है और उसी सत् का पूर्वपर्याय में भी जैसा ध्रौव्यपणा अवस्थित था वैसा ही उस का उत्तर पर्याय में भी ध्रौव्यपणा मौजूद है। इस अपेक्षा सतका ही कथंचित् ध्रौव्यपणा और उत्पादपणा घटित होता है। तथा उत्पाद व्यय कथंचित असत् इसलिये नही है कि उसका उत्पाद व्यय सत् पदार्थ में ही होता है, जो सत् की सत्ता है वही सत् के उत्पाद व्यय की सत्ता है उत्पाद व्यय की कोई अलग दूसरी सत्ता नही है इस कारण कथञ्चित् उत्पाद व्यय का सत्के साथ तादात्मक सम्बन्ध भी कहा जा सकता है। इसी कारण सत का कार्य (पर्याय) भी असत् नहीं है। अतः यह सब कथन नय विवक्षासे किया गया है यदि सत को सर्वथा ही उत्पाद व्यय से भिन्न मान लिया जाय तो सत्का कोई कार्य ही नहीं रहता वह आकाशके कुसुमवत् असत् सिद्ध हो जाता इस लिये सत पदार्थसे उसकी उत्पाद व्यय रूप पर्यायें भी कथंचित् अभिन्न होनेसे सत रूप समझी जाती है वह सर्वथा असत् नही कहीं जासकती है। आप्तमीमांसामें समन्तभद्राचार्यने यही वात कही है, इसी पक्से आप पर्याय स्वरूप कार्यको सर्वथा सत् मानकर क्रमवद्ध पर्याय की सिद्धि करते हैं सो इस से क्रमवद्ध पर्याय सिद्ध नही होती क्योंकि पर्याय यदि सर्वथा सत् रूप होती तो उसका सत् की तरह सदा ध्रौव्यपणा वण्या रहना चाहिये सो ऐसा देखने में नहीं आता और आगम प्रमाण ही ऐसा नहीं मिलता इस कारण पर्यायें कथंचित् असत्

भी है इस कारण उसका उत्पाद व्यय होता रहता है इसी कारण वह व्यतिरेकी है अन्वयी नहीं है अतः अन्वयी नहीं होने पर भी उत्पाद व्ययको अन्वयी कहा है वह द्रव्यार्थिकनय अपेक्षासे कहा है क्योंकि वह द्रव्यमें ही होता है उससे कोई उत्पाद व्यय अलग पदार्थ नही है। किन्तु पर्यायार्थिक नयकरि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य यह तीनों ही अन्य अन्य पदार्थ है इसकारण पर्यायार्थिक नयकरि सर्व पर्याय व्यतिरेकी ही हैं। अन्वयी नहीं हैं। इस लिये पर्यायोंको अन्वयी मानकर 'क्रमनियमित' मानना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

छहों द्रव्य और उनके गुणोंकी संख्या नियत है इसका कारण यह है कि वे सब द्रव्यमें अन्वयी है उनका द्रव्यके साथ तादात्मक सम्बन्ध है इसी लिये उनमें हानि वृद्धि नहीं होती किन्तु द्रव्यकी पर्यायें व्यतिरेकी है इसकारण उनकी संख्या नियत नहीं होसकती क्योंकि अनादि कालसे लेकर अनन्तकाल तक द्रव्यका सद्भाव रहैगा ही द्रव्यके सद्भावमें उनका परिणमन रूप पर्यायें नवी नवी उत्पन्न होती ही रहैंगी क्योंकि उनका उत्पाद व्यय रूप परिणमन स्वभाव है स्वभावका कभी अभाव होता नहीं इसकारण द्रव्य की पर्यायें नियमित नियत नहीं हो सकती अतः द्रव्य अपेक्षा भी पर्यायोंको क्रमनियमित मानना आगम और युक्तियों से भी सर्वथा विरुद्ध है।

क्षेत्र अपेक्षा भी क्रमनियमित या सम्यक्नियति पर्यायों की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि तीन लोककी जो रचना है वह अकृत्रिम है यदि अकृत्रिम रचनामें कृत्रिम रचना की तरह हेर फेर होने लगे तो छहों द्रव्योंमें भी फेर फार होकर लोक की व्यवस्थाका ही अभाव होजाता इसलिये अकृत्रिम ऊर्ध्वलोकमें सोलह कल्प नौ ग्रैवेयक नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान और

इनके ऊपर सिद्धशिला और सिद्ध क्षेत्र यह अनादि निधन व्यवस्था है। इसी प्रकार मध्य लोकके असंख्यात द्वीप समुद्र उस में कर्मभूमि भोगभूमि कुलाचलादि सब व्यवस्थित हैं। अधोलोकमें भी रत्न शर्करादि सात पृथ्वी और उसके आश्रय सात नरकों के पटल बिला आदि सब नियतरूप से व्यवस्थित है। उसी प्रकार कृत्रिम पदार्थ नियतरूपसे व्यवस्थित नहीं रह सकता इसलिये अकृत्रिम पदार्थोंकी व्यवस्थाके साथ क्षणिक पर्यायकी व्यवस्था व्यवस्थित बतलाना क्या न्यायसंगत है? कभी नहीं अतः क्षणिक पदार्थकी व्यवस्था नियमित रूपसे नहीं रह सकती यह अटल नियम है। इस लिये क्षेत्र अपेक्षा भी क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि नहीं हो सकती अतः आपने जो क्षेत्र अपेक्षा सम्यक नियति बोलकर क्रमबद्ध पर्यायकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया है वह सर्वथा न्याय युक्ति और आगम विरुद्ध है।

कालकी अपेक्षा भी क्रमबद्ध पर्यायकी पुष्टि नहीं होती। जो आपका यह कहना है कि "काल अपेक्षा जिस प्रकार ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोक भोगभूमि सम्बन्धि क्षेत्रमें तथा स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्ध और स्वयंभूरमणसमुद्रमें जहां जिसकाल की व्यवस्था है वहा अनादिकालसे वहां उसी कालकी प्रवृत्ति होती रहेगी और विदेह क्षेत्र सम्बन्धी कालका भी यही नियम है। इसके सिवाय जो कर्म भूमिका क्षेत्र बचा है उसमें कल्पकालके अनुसार निरन्तर और नियमित ढंगसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी प्रवृत्ति होती रहती है। इन कालोंकी स्थिति दस दस कोडा कोडी सागरकी निश्चित है तथा इनमे जो छः छः कालोंकी प्रवृत्ति होती है वह भी निश्चित है अर्थात् कालोंके अनुसार आयु कायादिकी घटा बढी नियमानुसार ही होती है। इनमें दूसरा कोई निमित्त कारण नहीं है जो उसके जरिये ऐसा होता

हो अर्थात यह विना निमित्त कारणके ही होता रहता है। उत्स-र्पिणीके तृतीय कालमे और अवसर्पिणी के चतुर्थकालमें चौवीस तीर्थंकर वारह चक्रवर्ती नौ नारायण नौ प्रतिनारायण, नौ वल-भद्र ग्यारे रुद्र और चौवीस कामदेवका उत्पन्न होना निश्चित है ये निमित्तानुसार पद प्राप्त कभी कम जादा नहीं होते।

आयुका बन्ध भी आठ अपकर्षण कालमे ही क्यों होता है? या मरणके अन्तर मुहूर्त पूर्व ही क्यों होता है? तथा छह महीना आठ समयमे छहसो आठ जीव ही मोक्ष क्यों जाते हैं? अधिक या कम क्यो नहीं जाते? इत्यादि कहनेका सारांश यह है कि परिणामोंकी सवके नियतता है इसी कारण तीर्थङ्करादि पद कम जादा नहीं होते और छह महीना आठ समयमे छह सौ आठ जीवोंके ही मोक्ष प्राप्ति रूप परिणाम होते है तथा आयुवन्धके परिणाम आयुके आठ अपकर्षण कालमें ही होते है या मरण-समयके अन्तमुहूर्त पहिले ही होते है। इस कारण सवके परि-णाम नियमरूपसे है। परिमित है। इसीलिये जिसकालमें जिसके जैसा परिणाम होना है वैसा ही होता है इसी कारण सव निय-मित कार्य होते है।"

किन्तु कालगत यह मान्यता भी मिथ्या है। क्योंकि एक नियमित कार्य होनेसे सव ही नियमित कार्य हों ऐसी कोई व्याप्ती नहीं है। अवसर्पिणीके चौथे कालमें और उत्सर्पिणी के तीसरे कालमे तीर्थङ्करादि जो नियमित रूपसे होते तो सव द्रव्योंकी पर्यायें भी नियमित रूपसे होनी चाहिये यह कोई नियम की वात नहीं है। जो नियमित रूपसे जिस कालमे जो होता है उस में भी काल दोषसे कम जादा और आगे पीछे होता देखिये हैं। जैसे इस हुण्डावसर्पिणी कालमे आदिनाथ भगवानने तीसरे कालमें ही मोक्ष पदकी प्राप्ति करली तथा वाहुवलस्वामी आदि-

नाथ भगवानके पहिले ही मोक्ष में जा पहुँचे और भरतचक्रीका मानभंग हुआ छोटे भाईसे युद्धमें हार खाई तथा आदिनाथ भगवानके दो कन्या उत्पन्न हुई यह कार्य अनियमित हुआ। नियम तो यह हैं कि अवसर्पिणीके चौथे कालमें ही तीर्थङ्कर मोक्ष जाते हैं और उनके पहिले कोई भी मोक्ष नही जाते तथा चक्रवर्ती किसीके सामने हार नही खाते और तीर्थङ्करोंके कन्या उत्पन्न नहीं होती अतः इस नियम का भी कालके निमित्तसे भंग हुआ। इसके अतिरिक्त रुद्रोंकी उत्पत्ति किसी कालमें नहीं होती सो भी इसी कालमें हुई। तथा जो पदवीधारी पुरुष होते हैं वे सव अलग अलग ही होते हैं एक पुरुष दोय तीन पदवीयों को प्राप्त नहीं होते ऐसा नियम है किन्तु इस कालके प्रभावसे एक एक पुरुषने दोय दोय तीन २ पदवीयां धारण करली था जैसे शान्ति कुंथु अर्हनाथ भगवान तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेव भी हुये। इसप्रकार महावीर स्वामीके जीवने नारायण पद प्राप्त कर तीर्थंकर पद भी प्राप्त किया।

ये सव अनियमित कार्य इस कालके प्रभावसे हुआ। केई नारायण प्रतिनारायण तीसरे नरक गये तो केई चौथे नरक भी गये। आठ वलभद्र मोक्ष गये एक वलभद्र स्वर्गमें ही गये। ग्यारे चक्रवर्ती मोक्ष गये एक नर्क गया ऐसा क्यों हुआ आपकी मान्यताके अनुसार सवका एकसा नियम रहना था। इसलिये यह मानना पडेगा कि जो नियमित कार्य हैं वे भी निमित्ताधीन उलट पलट होजाते है तो जो द्रव्यकी पर्याय सदा उलट पलट होती रहती है उनको नियमित कार्योंके समान नियमित रूपसे नियत वतलाना सर्वथा मिथ्या है तीर्थंकरोंका जन्म अयोध्या नगरीमें ही होनेका नियम है और श्रीसम्मेदशिखरजी से ही मोक्ष जानेका नियम है किन्तु इस हुंडावसर्पिणी कालमें हेरफेर होगया। छह

महिने आठ समयमें कमसे कम छहसौ आठ जीव मोक्ष जानेका जो नियम है उसमें भी एक महीनेमे एकसौ और आठ समयमें आठजीव न जाकर कभी कभी छह महीने तक एक भी जीव मोक्ष नहीं जाते है शेष आठ समयमे ही छहसौआठ जीव मोक्ष चले-जाते हैं। यह नियतपणाका क्रम भग किसलिये हुआ ? तो मानना पडेगा कि उसरूप निमित्त नहीं मिला। इस कारणसे छह महिने तक कोई जीव मोक्ष नहीं गये।

कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यंचोंका आयु वन्ध भुज्यमान आयुके आठ अपकर्षणोमें होता है ऐसा क्यों ? एक ही अपकर्षणमें क्यों नहीं होता ? तो यही कहना पडेगा कि उस समय आयु वन्ध होने योग्य परिणाम नहीं हुये तो क्रमवद्धता परिणामोंकी कहां रही। आठ अपकर्षणों में भी आयु वन्धके योग्य परिणाम अनेक जीवोंके नहीं होते हैं और किन्ही किन्ही के पहिले अपकर्षणमें भी आयुका वन्ध होने योग्य परिणाम होजाते हैं तो किसी के दूसरे तीसरे चौथे पांचवे छठे ओर सातवे अपकर्षणमें आयुवन्धके योग्य परिणाम होते हैं और किसीके मरणसमयसे कुछ पूर्वमें नवीन आयुका वन्ध होता है ऐसा अनियम क्यों ? सवका समान नियम होना चाहिये ; तो यही कहना पडेगा कि सवको नवीन आयुवन्धके योग्य निमित्त नहीं मिला इसकारण उस रूप सवके परिणाम नहीं हुये, आयुवन्ध होने योग्य जिसको जैसा निमित्त मिला उसका उस रूप परिणाम होकर उसके अनुसार उस रूप देवादि आयुका वन्ध हुआ। परिणामोंकी गति निमित्तानुसार परिवर्तन होती रहती है इसी कारण सबकी त्रिभागी मे अंतर रहता है एकरूप त्रिभागी किसीकी भी नहीं पडती तथा सव जीवोंकी आयु वन्ध होनेका एकरूप नियम भी नहीं है। देव नारकीके जीवोंको आयु नव आयुके छह मास वाकी रहनेपर आठ त्रिभागी होती है

उसमें उनके नवीन आयुका वन्ध होता है, सो भी किसीके त्रिभा-गीमें किसीके किसी त्रिभागीमें आयुका वन्ध होता है। तथा भोगभूमियां मनुष्य तिर्यंचोंकी नवीन आयुका नौमास बाकी रह-नेपर आठ त्रिभागोमें किसी एक त्रिभागीमें नवीन आयुका वन्ध होता है। सबको एकसा नियम नियतरूपसे नहीं है जिसका अकालमरण होता है उसके लिये त्रिभागीका नियम भिन्न प्रकार है। इसका कारण यह है कि जिसने ९९ वर्षकी आयुका वन्ध किया था किन्तु कारणवश उसकी आयुका अपकर्षण त्रिभागी पडनेके पहिलेही होगया तो उसके भोगी हुई आयुसे आधी या उस से कम आयु शेष रहनेपर ही अगली आयुका वन्ध होता है किन्तु जिसने एक त्रिभागीकी आयु भोग ली अर्थात् ९९ वर्षकी आयु-वाला ६६ वर्षकी आयु भोगचुका और परभवकी आयुका वन्ध करलिया है तो उसका अकाल मरण नहीं होगा। किन्तु जिसके परभवकी आयुका वन्ध नहीं हुआ है और यदि उसका अकाल मरण होता है तो भोगी हुई आयुसे आधी आयुसे कम आयु शेष रहनेपर नवीन आयुका वन्ध होगा ऐसा जैनागमका कहना है। षट् खंडागम पुस्तक ६ पृष्ठ १७०

उपरोक्त आगम प्रमाण कथनसे यह स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि क्रमनियमित पर्यायको माननेवाले आगम विरुद्ध वोलते हैं। क्रम-नियमित पर्यायके मानने वालोंके मतमें उपरोक्त अकालमृत्यु आदि कर्मोंका अपकर्षण उत्कर्षण और संक्रमण नहीं बनता। इसलिये कालअपेक्षा पंडितजीने सम्यक् नियति की सिद्धि करनेकी चेष्टा की है वह असफल होचुकी। अर्थात् सम्यक्नियतिकी वजाय मिथ्या अनियति प्रमाणित हो चुकी अतः जो आपने कालगत नियम वतलाये थे उनमे भी परिवर्तन होता है यह उपरोक्त कथन से अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है।

भाव अपेक्षा भी सब जीवोके एकसे क्रमवद्ध परिणाम नहीं होते, कषायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण है यह ठीक है कषायो स्थान इतने ही हैं कम जादा नहीं है पर कषायोंका उदय तो क्रमवद्ध नहीं है अर्थात् ऐसा तो नहीं हो सकता कि कषायोके स्थान एक के वाद एक स्थान उदयमें आते हो। यदि ऐसाही मान लिया जाय तो असंख्यात लोक प्रमाण समय वीत जानेके वाद सर्व जीव निः कषाय हो जाने चाहिये क्योंकि कषायके स्थान असंख्यात लोकप्रमाण ही है वह क्रमवद्ध उदय मे आकर असंख्यात लोकप्रमाण कालमे खतम हो जायगे फिर तो सर्व जीव वीतराग क्यों नहीं वनेगे ! इस हालत मे असख्यात लोकप्रमाण कालके वाद सव जीवोंके ससार ही खतम होजायगा सो होता नहीं। सिद्धराशि के अनतवे भाग तो अभव्यराशि जीव है उनसे अनन्तगुणे दूरानदूर भव्यराशि जीव हैं उनका कभी भी ससार खतम ही नहीं होगा। परन्तु कषायोंका उदय क्रमवद्ध मान लिया जाय तो इनका भी संसार असंख्यात लोक प्रमाण कालके वाद खतम हो जायगा सो होता नहीं इसलिये परिणामोंको क्रमवद्ध मानना सर्वथा आगम विरुद्ध है। संसारी जीवो के निमित्तानुसार कषायोंके परिणाम तरह २ के वनते रहते हैं उनकी संख्या असख्यात लोक प्रमाण है। इसी प्रकार लेश्याओंसे रजित परिणामोंका समझ लेना चाहिये।

अधः करणके परिणाम सव जीवोंके समान नहीं होते इस वातको आप भी मानते है। अतः परिणामोंके कार्य अनियत रूपसे होते है अर्थात् परिणामोंके अनुसार ही कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग वन्ध होता है और गति भी परिणामोंके अनुसार मिलती है। इसीलिये आचार्य कहते है कि परिणामोंकी सम्हाल हरसमय रक्खो अन्यथा संसारमें दुख भोगना पड़ेगा। यदि परिणामों का परि-

मन (पर्याय) क्रमवद्ध होना मानलिया जाय तो परिणामोंकी सम्हाल करने की जरूरत नहीं होगी क्योंकि वह सम्हाल करने पर भी उदय में तो क्रमवद्ध ही आवेंगे अतः सम्हाल करना व्यर्थ ही समझा जायगा इसलिये भावगत क्रमनियमित पर्याय मानना मिथ्यावाद की पुष्टि करना है।

निमित्तकारणकी स्वीकृतिके कथन मे आपने कार्यतपत्ति मे निमित्तकारण को स्वीकार तो किया है जो आपकी मान्यताके विरुद्ध है। इसी लिये आपने केवल मान्यता की सुरक्षा करनेके लिये " प्रत्येक कार्यमें निमित्त अवश्य होता है " इन शब्दोंमें निमित्तकी स्वीकृति स्वीकार की है। अर्थात् कार्योत्पति जो होता है वह तो उपादान की योग्यता से ही होती है निमित्तकारण उस कार्योत्त्पतिके समय उपस्थित हो जाते हैं। पंडितजीकी मान्यता है कि "कार्योत्पत्तिके समय निमित्त उपादान को न कुछ सहायता ही देता है अथवा न कुछ उनको प्रेरणा ही करता है और न कुछ उपादान में वलही उत्पन्न करना है। वह तो केवल उदासीनरूपसे उपस्थित रहता है क्योंकि कार्योत्पतिके समय आचार्योंने उसकी उपस्थिति व्यवहार दृष्टि से स्वीकार की है इसलिये निमित्तकी स्वीकृति स्वीकार करनी पड़ती है। वास्तवमें निमित्त अकिंचित कर ही है। कार्यकी निष्पत्ति उपादान की योग्यता से ही होता है यह वास्तविक सिद्धान्त है।" किन्तु आचार्योंने इस मान्यताके विरुद्ध केवल उपादानकी योग्यता से विना निमितके कार्यकी निष्पत्ति नहीं होती ऐसा घोषित किया है।

"भविया सिद्धि जेसिं तं हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति" ५५७

—भव्यमार्गणाधिकार

टीका—भव्या भवितुं योग्या भाविनी वा सिद्धिः अनंतचतुष्टयरूपस्वस्वरूपोपलब्धिर्येषां ते भव्यसिद्धाः। अनेन सिद्धेर्लब्धियोग्यताभ्यां भव्यानां द्वैविध्यमुक्तं। तद्विपरीता उक्तलक्षणद्वयरहिताः ते अभव्या भवंति अतएव ते अभव्या न सिद्धंति संसारान्निःसृत्य सिद्धिं न लभंते" गोम्मटसारे ५५७ एवं द्विविधानामपि भव्यानां सिद्धिलाभप्रसक्तौ तद्योग्यतामात्रवतामुपपत्तिपूर्वकं तां परिहरति"

अर्थात् भव्या कहिये होने योग्य वा होनहार है सिद्धि कहिये अनन्त चतुष्टय रूप स्वरूपकी प्राप्ति जिनके ते भव्यसिद्ध जानने य कार सिद्धिकी प्राप्ति अर योग्यताकरि भव्यनिके द्विविधपना कह्या है। भावार्थ—भव्य दोय प्रकारके है केई तो भव्य ऐसे है जे मुक्ति होनेको केवल योग्य ही है परि कवहूं सामग्रीको पाय मुक्त न होई वहुरि केई भव्य ऐसे हैं जे कालपाय मुक्त होहिगे। वहुरि तद्विपरीताः कहिये पूर्वोक्त दोऊ लक्षण रहित जे जीव मुक्त होने योग्य भी नाहिं अर मुक्त भी होते नाहिं ते अभव्य जानने। तातें ते वे भव्यजीव संसार निकसि कदाचित् मुक्तिको प्राप्त न होंगे ऐसाही कोई द्रव्यत्व भाव है। यहां कोऊ भ्रम करेगा जो अभव्य मुक्त न होय तो दोऊ प्रकार के भव्यनिके तो मुक्त होना ठहर्‍या तो जे मुक्त होनेके योग्य कहे थे तिन भव्यनिके भी कवहूं तो मुक्ति प्राप्त होसी सो एसे भ्रमको दूर करने के लिये आचार्य कहते हैं—

"भव्वत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भव्वसिद्धा।
ण हु मलविगमे णियमा ताणं कणओवलाणमिव" ५५८

टीका—ये भव्यजीवाः भव्यत्वस्य सम्यग्दर्शनादिसामग्रीं

प्राप्यानन्तचतुष्टयस्वरूपेण परिणमनस्य योग्याः केवल योग्यतामात्रयुक्ताः ते भवसिद्धा संसारप्राप्ता एव भवन्ति। कुतः तेषां मलस्य विगमे विनाशकरणे केषांचित्कनकोपलानामिव नियमेन सामग्री न संभवतीति कारणात्" ५५८

अर्थात् जे भव्यजीव भव्यत्व जो सम्यग्दर्शनादि सामग्रीको पाइ अनन्तचतुष्टय रूप होना ताको केवल योग्य ही है तद्रूपहोने के नाहीं ते भव्य सिद्ध हैं। सदाकाल संसारको प्राप्त रहै हैं। काहेते सो कहिये हैं। जैसे केई सुवर्ण सहित पाषाण ऐसे हैं तिनके कदाचित् मलके नाश करनेकी सामग्री न मिले तैसे केई भव्य ऐसे हैं जिनके कर्ममल नाश करनेकी कदाचित् सामग्री नियमकरि न संभवे है। भावार्थ भव्यजीव दोय तरहके होते हैं एक भव्य और दूसरा दूरानदूर भव्य इनमें जे भव्य हैं ते तो सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त करि सम्यग्दर्शनादिको प्राप्त कर लेते हैं और मोक्षमें पहुंच जाते हैं। किन्तु जे दूरानदूर भव्य हैं ते सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हुये भी सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेके कारणोंको प्राप्त नहीं होते हैं जैसे सती विधवा स्त्री सतान पैदा करनेकी योग्यता धारण करती हुई भी पुरुषका संयोग रहित होनेसे पुत्र उत्पन्न नहीं करसकती उसी प्रकार दूरानदूर भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न कर मोक्ष जानेकी योग्यता रखतेहुये भी सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी सामग्रीका समागम प्राप्त न होनेसे उनके सम्यग्दर्शनादिका प्रादुर्भाव नहीं होता इस कारण वे भव्यत्वकी योग्यता रखते हुये भी अभव्योंके समानही संसारमें परिभ्रमण करते ही रहते हैं मोक्षपदकी प्राप्ति वे भी नहीं कर सकते। क्योंकि उनको मोक्षप्राप्ति करने

का कारण ही नहीं मिलता जैसा कि सती विधवा स्त्रीको पुरुषका समागम नहीं मिलता अथवा अनेक कनकपाषाण जमीनमें ही पडे रहते है उनको मलको दूर करनेवाले रजसोधा (न्यारिया) आदिका समागम ही नहीं मिलता। उसी प्रकार दूरानदूर भव्य-जीवोंको गुरुदेशनादिका समागम ही नहीं मिलता जो आत्माके साथ कर्ममल लगा हुआ है उस को दूर करनेका उपाय करें।

इन उपरोक्त प्रमाणोंसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि केवल उपादानकी योग्यतासे कोई भी कार्य नहीं होता विना निमित्तकारणके मिलाये। विना निमित्तके योग्यता भी अयोग्यता रूप होकर एक तरफ पडी रहती है। जैसे कि दूरानदूर भव्य ससारबन्धन के छेदनेके कारणोंको प्राप्त न होनेसे अभव्यकी तरह संसार में ही भ्रमण करते हुये सदाकाल चक्र लगाते रहेंगे। इसलिये केवल अकेला उपादानकी योग्यता विना निमित्तके कार्योत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है।

भवंति दोषा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्ववीजं
आणाधिताथस्य ममत्वहाने-विंनानिमित्तेन कुतो निवृत्तिः

उपरोक्त कथनसे निमित्तकारणकी सार्थकता और विना निमित्तके उपादानकी योग्यताकी अयोग्यता अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी अर्थात् निमित्तकारण अकिंचित्कर नहीं है किन्तु उपादानकी योग्यताकी उपलब्धि में अनिवार्य कारण स्वरूप है। निमित्तके विना केवल उपादानकी योग्यतासे ही कार्य होता हो तो पंडितजी या कानजीस्वामी करके दिखावें या उपादानके द्वारा विना निमित्तके कोई कभी कार्य हुआ हो तो उदाहरण देकर बतलावें अन्यथा आगम विरुद्ध प्रचार करनेका परित्याग करें।

मिट्टीमें घट आदि बननेकी योग्यता है किन्तु निमित्तके विना (कुम्हार चाक चीवर दण्डादिके विना) घट बनता हो तो घट बनाकर दिखलावें।

अथवा आटेकी रोटी वाटी विना बनानेवालेके, तथा विना अग्नि पानी आदि साधनोंके अपने आप बनती हो तो बन.कर दिखलावें। या रेलगाडी मोटर गाडी आदि को ड्राइवर के विना अथवा पेट्रोल पटरी अग्नि पानीके विना केवल उनकी योग्यता से चलती हो तो चलाकर दिखलावें। अन्यथा निमित्त कारण की सार्थकता स्वीकार करें। निमित्त कारण उदासीन रूप भी होते हैं जैसे कालद्रव्य आदि रेलकी पटरी आदि ये उदासीन कारण हैं। ड्राइवर माष्टर रसोइया कुम्भकारादि प्रेरक निमित्त कारण हैं बलदान कारण पेट्रोल अग्नि पानी हवा आदि ये बलदान कारण हैं। सहायक कारण सहायता करने वाला मदद पहुंचानेवाला उपकार करनेवाला सहायक कारण कहलाते हैं। ये सब निमित्त कारण आगम निर्णीत हैं उपादान के द्वारा होनेवाले कार्य में ये निमित्त कारण सहायता करते हैं प्रेरणा करते हैं बल बढाते हैं। और साथी भी बन जाते हैं। इन निमित्त कारणोंके विना उपादान पंगु है उनकी योग्यता कुछ भी काम नहीं देती। यदि उपादान की योग्यता से ही कार्य होजाता है ऐसा मान लिया जाय तो दूरानदूर भव्य, मोक्ष क्यों नहीं जाते क्या उनमें भव्यत्व गुण नहीं है? क्या सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता उन में नहीं है? सब कुछ है। पर उनको उनकी योग्यताके अनुरूप परिणमन करनेका निमित्तकारण नहीं मिलता इसलिये उनकी योग्यता का कुछ भी कार्य नहीं होता। आपका जो यह कहना है कि-"अधिकतर स्थलों में जीवको उर्ध्वगमन स्वभाववाला कहा है। लोकान्त गमन स्वभाववाला नहीं कहा है। इसलिये यह प्रश्न होता है कि जब जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है तो वह लोकके अंतमें ही क्यों स्थित हो जाते हैं। अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण वह लोकान्तको उल्लङ्घन कर आगे क्यों नहीं चला जाता

यह एक प्रश्न है। जिसका उत्तर नियमसार गाथा १८३ में उपादान की मुख्यतासे दिया गया है वहां वतलाया गया है कि कर्मों से मुक्त हुआ आत्मा लोकान्त तक ही जाता है। यद्यपि मूलगाथा में कारणका निर्देश नहीं किया है। पर समर्थ उपादान की दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि उसकी योग्यता ही उतनी है इस लिये वे लोकान्तक तक ही गमन करते हैं। उससे आगे नहीं जाते। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि के देवोंमें सातवें नरक तक आनेकी शक्ति मानी गई है परन्तु उनके समर्थ उपादान की व्यक्ति अपने नियमित क्षेत्र तक ही होती है इसी प्रकार प्रत्येक जीवको ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला माना गया है परन्तु जिस-काल में जिस जीवकी जितने क्षेत्रतक गमन करनेकी योग्यता होती है उस कालमें उस जीवका वहीं तक गमन होता है। उस क्षेत्र को उल्लङ्घन कर उसका गमन नहीं होता। यह वस्तुस्थिति है इसके रहते हुए भी इस प्रश्नका निमित्तकी मुख्यता से व्यवहार नयसे तत्त्वार्थ सूत्र में यह समाधान किया है कि लोकके आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं है इसलिये मुक्त जीव का उससे ऊपर गमन नहीं होता"

पंडितजीने योग्यता की पुष्टि करने में कितना निराधार मन-कल्पित कथन किया है इसका पाठक गण स्वयं विचार करें। नियमसारकी गाथा १८३ में कारणका निर्देश नहीं किया जिससे आप अपनी कल्पना से यह अर्थ निकालते हैं कि मुक्त जीवकी योग्यता ही इतनी ही है कि वे लोकान्त के आगे गमन नहीं कर सकते। यदि मुक्त जीव में लोकान्त तक ही गमन करनेकी योग्यता है इससे अधिक नहीं तो फिर आचार्योंने जीवको लोकान्त तक गमन स्वभाव वाला क्यों नहीं कहा? ऊर्ध्वस्वभाव वाला क्यों कहा? योगयता के अनुसार ही कथन करना था जिससे यह सूत्र

ही बनानेकी नौबत न आती कि "धर्मास्तिकायाभावात्" इस सूत्र की रचना तो इसीलिये करनी पड़ी है कि मुक्त जीवों में ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति तो विद्यमान है किन्तु उस शक्तिका कार्य लोकान्तके आगे धर्मास्तिकायका अभाव है इस कारण नहीं होता। इसीलिये सब ही आचार्योंने इस तथ्यको स्वीकार किया है कि लोकान्तके आगे धर्मास्तिकायका अभाव है इस कारण मुक्त जीव उसके सहारे विना आगे गमन नहीं कर सकता। यदि कुन्दकुन्द स्वामीको आपकी मान्यता स्वीकार होती तो उन्हें भी नियमसार में निम्न प्रकारकी गाथा बनाने की जरूरत नहीं पड़ती।

"जीवाण पुग्गलाणं च गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकाअभावे तत्तो परदो ण गच्छंती" १८४

अर्थात् जहां तक धर्मास्तिकाय है तहां तक जीव और पुद्गल का गमन है। धर्मास्तिकायके अभाव में वे आगे गमन नहीं करते।

इस कथन से यह अच्छी तरह सिद्ध होजाता है कि गाथा १८३ में हेतु नहीं बतलाया था इस कारण इस गाथा में लोकान्त के आगे गमन नहीं करने के हेतू का निर्देश किया है। पूज्यपाद अकलंकदेव विद्यानन्दि समन्तभद्र आदि सब ही आचार्योंने इसी तत्वको स्वीकार किया है। आपकी मान्यताका किसी भी आचार्योंने समर्थन नहीं किया आप अपनी कल्पनासे गलत अर्थ खींचकर भव्यजनों में भ्रम पैदा करते हैं। उपादानकी योग्यताका कार्य निमित्तानुसार होता है निमित्त न हो तो उसका कार्य भी नहीं जैसा कि धर्मास्तिकायके अभाव में मुक्त जीव या पुद्गल परमाणु कोई भी लोकान्तके आगे गमन करने में समर्थ नहीं होते इसका कारण यही है कि जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय के सहारे ही

गमन कर सकते हैं उनमें इतनी ही योग्यता है अधिक नहीं।
इसलिये धर्मास्तिकायके अभाव में जीव और पुद्गल लोकान्तके आगे गमन नहीं कर सकते। इसी कारण लोकालोककी मर्यादा अनादिकाल से बनी हुई है।

सर्वार्थ सिद्धिके देवोंमें सातवें नरक तक जानेकी शक्ति विद्यमान भी आप मानते हैं और उनमें वहां तक जाने की योग्यताका अभाव भी मानते हैं यह कैसा? क्या योग्यता और शक्ति में अंतर है? कुछ भी नहीं केवल नामान्तर है शक्ति कहो या स्वाभाविक हो या योग्यता कहो सब एकार्थवाची शब्द हैं। इसलिये सर्वार्थसिद्धि के देवोंमें सातवें नरक तक जानेकी योग्यता तो है किन्तु उनको वैसा निमित्त ही नहीं मिलता जो वे स्वक्षेत्रको छोडकर अन्य क्षेत्रमें गमन करें जैसा कि सिद्ध भगवान अनन्त शक्तिके धारक होकर भी वे एक स्थानसे टससे मस नहीं होते इसका कारण यही है कि निमित्त कारणके अभावमें इनका हलन चलन नहीं होता। इसी तरह सर्वार्थसिद्धि के देवोंको सातवें नरक तक जानेका निमित्त नहीं मिलता इसीलिये वे स्वक्षेत्रको छोडकर अन्य क्षेत्र में नहीं जाते। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनमें स्वक्षेत्र छोडकर अन्य क्षेत्रमें जानेकी योग्यता ही नहीं है। अतः योग्यताकी उपयोगिता विना निमित्त के सिद्ध नहीं होती ऐसा स्वीकार करना होगा।

कर्तृत्व कर्म और षट् कारक मीमांसा में भी आपने एकान्त पक्षका ग्रहण किया है अर्थात् व्यवहार दृष्टिको छोडकर केवल निश्चय का ग्रहण कथन किया है। किन्तु आचार्योंने व्यवहार दृष्टिको साथमें रखकर ही निश्चयनयका कथन किया है क्योंकि व्यवहार दृष्टिको छोडकर केवल निश्चय दृष्टिसे कथन करनेसे वस्तु स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती दोनों पक्ष दिखानेसे

यथार्थ बोध हो जाता है इस कारण आचार्योंने व्यवहार दृष्टिका साथमें रखकर वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन किया है किन्तु पं० फूलचन्द्र जी ने व्यवहार दृष्टि को सर्वथा छोडकर केवल निश्चय अपेक्षासे विवेचन किया है इस कारण उनका वह कथन एकान्त वादसे दूषित है।

अनादि कालसे जीवका पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध हो रहा है इस कारण दोनों की संमिलित अवस्थाका बोध अज्ञानीको नहीं होता अतः उनको उसका भेद विज्ञान करानेके लिये आचार्यों ने दोनों पक्ष समान रखकर वस्तु स्वरूपका यथार्थ बोध कराया है।

आचार्य कहते हैं कि आत्माको कर्ता अकर्ता दोऊं रूप कहा है जो इस नय विभागको जानता है सो ही ज्ञानी है।

"कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सोउवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७॥

टीका—कर्त्तात्मा भणितः सो न च कर्ता भवति स आत्मा केनाप्युपायेन नय विभागेन। केन नय विभागेनेति चेत् निश्चयनयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्तेतिकान् पुण्यपापादि कर्म जनितोपाधि परिणामान् जो जाणदि सो हवदिणाणी ख्याति पूजा लाभादि समस्त रागादि विकल्पोपाधि रहित समाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति इति निश्चय नय व्यवहाराभ्याम् कर्तृत्व कथन रूपेण गाथागाता॥

अर्थात् आत्माको कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों कहा है जो इस नय विभागको जानता है सो ही ज्ञानी है। भावार्थ—आत्मा पुण्य

पापादि का व्यवहार नयसे कर्त्ता है करने वाला है और निश्चय नयसे अकर्त्ता है नहीं करने वाला है जो इस प्रकार जानकर ख्याति पूजा लाभादि रहित होय आत्माका अनुभव करता है वह ज्ञानी है पुद्गल कर्मके निमित्त से आत्मा जिस प्रकार भाव करता है उसी प्रकार कर्मोंके निमित्त उसके फलको भोगता है।

"पुग्गल कम्म निमित्तं जह आदा कुणादि अप्पणो भाव ।
पुग्गल कम्म निमित्त' तह वेददि अप्पणो भावं" १६

—समयप्राभृत

टीका—उदयागतं द्रव्य कर्म निमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकार स्व संवित्ति परिणाम शून्यः सत्करोत्यात्मनः संबंधिनं सुख दुःखादिभावं परिणामं। तथैवोदयागत द्रव्यकर्म निमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थ वास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव कर्मोदयजनित स्वकीय रागादि भावं वेदयत्यनुभवति। न च द्रव्यकर्म रूप परभावमित्यभिप्रायः

इस कथनसे निमित्तकी सार्थकता भी भली भांति सिद्ध हो जाती है। मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादिक जो भाव हैं ते प्रत्येक न्यारे न्यारे मयूर मुकुरंद (दर्पण) की ज्यों जीव अजीव करि भाये हुये है। तातें जीव भी हैं अजीव भी है।

"मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोधादिया इमे भावा"॥

१६ समयप्राभृत

टीका—"मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूर मुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ। तथाहि यथा नील कृष्ण हरित पीतादयो भावाः स्वद्रव्य स्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव यथा च नील हरित पीतादयो भावाः स्वच्छता विकार मात्रेण मुकुरंदेण भाव्यमाना मुकुरंद एव तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयोभावाः स्वद्रव्य स्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्य विकार मात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव। कावत्र जीवाजीवा-विति चेत्"।

अर्थात्—जैसे मयूर के नील कृष्ण हरित पीत आदि वर्ण रूप भाव हैं ते मयूर निज स्वभाव करि भाये हुये मयूर ही है। बहुरि जैसे दर्पण विषे प्रतिबिंब विर्णात्मिका प्रतिबिम्ब दीखें हैं ते दर्पण की स्वच्छता निर्मलता का विकार मात्र करि भाये हुये ते दर्पण ही है। मयूर की अर आरसा की अत्यंत भिन्नता है। तैसे ही मिथ्या दर्शन अज्ञान अविरति इत्यादिक भाव हैं अपने अजीव के द्रव्य स्वभाव करि अजीव पणा करि भाये हुये हैं ते अजीव ही हैं बहुरि ते मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति आदि भाव चैतन्य के विकार मात्र करि जीव करि भाये हुए जीव ही हैं।

भावार्थ—कर्म के निमित्त तें जीव विभाव रूप परिणमें हैं ते तो चैतन्य के विकार हैं ते जीव हैं, बहुरि जे पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमे हैं ते पुद्गल के परमाणु है। तथा तिनिका

विपाक उदय रूप होय स्वाद रूप होय है ते मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीवाजीव भेद करि दोय दोय प्रकार है। सो याका भेद ज्ञान हुये विना जीव भावकूं जीव भेद अर अजीव भावकूं अजीव जाने नाहीं ताते यह जीव अजीव भाव का कर्ता होय है। इस का कारण क्या है ?

"उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोह जुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो" ॥

२१ समयप्राभृत

टीका—उपयोगस्य हि स्वरस तएव समस्तवस्तु स्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वं-तरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानाविरतिरितित्रिविधः परिणामविकारः स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परितोपि प्रभवन् दृष्टः। यथाहि स्फटिक स्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीत तमाल कदली कांचन पात्रोपाश्रय युक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणाम विकारोदृष्टव्यः अथात्मन-स्त्रिविधपरिणाम विकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति"

अर्थात्—आत्मा के उपयोग में मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति ये तीन प्रकार के परिणाम विकार अनादि कर्म के निमित्तते है। ऐसा नाहीं जो पहले शुद्ध ही था यह नवीन भया है ऐसा होय तो सिद्धनिके भी नवीन भया चाहिये सो यह है नाहो ऐसे जानना। आगे आत्मा के इस तीन प्रकार के परिणाम विकार का कर्तापणा दिखावै हैं।

" एदेसु य उवयोगो तिविहो शुद्धो णिरंजणो भावो
जं सो करेदि भावं उवयोगो, तस्स सो कत्ता " २२

टीका— अथैवमयमनादि वस्त्वंतरभूत मोह युक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणाम विकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्त भूतेषु परमार्थतः शुद्ध निरंजनानादिनिधन वस्तु सर्व स्वभूत चिन्मात्र भावत्वेनैकविधोप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य किलोपयोगः कर्तास्यात् यथात्मनस्त्रिविध परिणाम विकार कर्तृत्वेसति पुद्गलद्रव्यं स्वतएव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह ॥

भावार्थ—पूर्वे कह्या है जो परिणमै सो कर्ता है सो यहां अज्ञान रूप होय उपयोग परिणम्या जिस रूप परिणम्या तिसका कर्ता कह्या शुद्ध द्रव्यार्थिक नय करि आत्मा कर्ता है नाहीं इहां उपयोगकूं कर्ता जानना । बहुरि उपयोग अर आत्मा एक ही वस्तु है तातें आत्मा ही कूं कर्ता कहिये। आगे आत्माके तीन प्रकार परिणाम विकार का कर्तापण होते संते पुद्गल द्रव्य है सो आप ही कर्मपणा रूप होय परिणमें है ऐसे कहै है।

गाथा—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ २३ ॥

टीका—आत्माह्यात्मना तथा परिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्तास्यात्साधक वत् तस्मिन्निमित्ते

सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वमेव परिणमते तथाहि यथासाधकः किल तथा विध ध्यानभावेनात्मना परिणग-मानोध्यानस्य कर्त्तास्यात्। तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकल साध्य भावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमतरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्याधयो विडं-व्यतें योपितोध्वंस्यंते वंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादि भावेनात्मने परिणममाने मिथ्यादर्श-नादि भावस्य कर्ता स्यात् तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादि भावे स्वानुकूलतया निमित मात्रीभूते सत्यात्मनं कर्तार मंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वमेव परिणमते अज्ञानादेव कम प्रभवतीति तात्पर्यमाह।

अर्थ—आत्मा है सो जिस भाव को करे है ताका कर्ता आप होय है वहुरि तिस कूं कर्ता होते पुद्गल द्रव्य है सो आपे आप कर्म रूप परिणमे है। जैसे साधक जो मंत्र साधन वाला पुरुष सो जिस प्रकार का ध्यान रूप भाव करि आप ही करि परिणमता संता तिस ध्यान का कर्ता होय है। वहुरि तिस साधकके जो समस्त साधन योग्य वस्तु तिसका अनुकूल पणा करि तिस ध्यानकूं निमित्त होते संते तिस साधक के विना ही अन्य सर्पादिक की विषकी व्याधि ते स्वमेव मिट जाय है। तथा स्त्री जन है ते विडंवना रूप होय जाय हैं वहुरि वन्धन हैं ते खुलि जाय है इत्यादिक कार्य मंत्रके ध्यानकी सामर्थ्यते होय जाय है। तेसे ही यह आत्मा अज्ञानते मिथ्यादर्श-नादि भावकरि परिणमता सता मिथ्यादर्शनादि भावका कर्ता

होय तब तिस मिथ्यादर्शनादि भावकूं अपने करनेके अनुकूल पणे करि निमित्त मात्र होते संते आत्मा जो कर्ता तिस विना ही पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीयादि कर्म भाव करि परिणमे हैं। ऐसा अनादिकालका आत्मा के साथ पुद्गल द्रव्यका और पुद्गल-द्रव्यका आत्माके साथ परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। कर्ता दोऊ अपने अपने भावों के हैं यह निश्चय है।

इस कथन से निमित्तकी भी प्रधानता सिद्ध होजाती है। क्योंकि विना आत्माके रागद्वेष परिणाम के पुद्गलद्रव्य भी कर्म-रूप नहीं परिणमन करता तथा कर्मके उदयके निमित्त विना आत्माके भी रागद्वेष परिणाम नहीं होते हैं यह अटल नियम है। अतएव दोनोंका विभावरूप परिणमन परस्पर निमित्त नैमि-त्तिक सम्बन्ध होने से ही होता है इसका निषेध करना जैना-गमसे सर्वथा विरुद्ध है।

यह भी निश्चित है कि आत्मा अपने अज्ञान भावसे ही कर्मका कर्ता होय है सो ही आचार्य कहे हैं।

"परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पियपरं करंतो सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि" ॥ २४ ॥

टीका—अयं किलाज्ञानेनात्मा परमात्मनोः परस्पर विशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परंकुर्व-न्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति तथाहि तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरू-पायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादन समर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गल परिणामावस्थाया इव

पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्नि-
मित्तं तथाविधानुभवस्यचात्मनो भिन्नत्वेन पुद्गला-
न्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने
सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितु म-
शक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिण-
ममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रगटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत
एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रति-
भाति । ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह ।

अर्थ—जीव है सो आप अज्ञानमयी भया संता परकूं आप करे है बहुरि आपकूं पर करे है। ऐसे कर्मनिका कर्ता होय है। भावार्थ—रागद्वेष सुखदुःख आदि अवस्था पुद्गल कर्मके उदयका स्वाद है सो यह पुद्गल कर्मतें अभिन्न है आत्मातें अत्यंत भिन्न है जैसे शीत उष्णपणा है तैसे सो आत्माके अज्ञानतें याका भेद-ज्ञान नाहीं यातें ऐसा जाने है जो यह स्वाद मेरा ही है। जातें ज्ञान की स्वच्छता ऐसी ही है जो रागद्वेषादिक का स्वाद शीत उष्ण की ज्यों ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होय तब ऐसा प्रतिभासे जानूं कि ए ज्ञान ही है तातें ऐसे अज्ञानतें या अज्ञानी जीवके इनका कर्तापणा भी आया जातें याके ऐसी मान्य भई जो मैं रागी हूं द्वेषी हूं क्रोधी हूं मानी हूं इत्यादि ऐसे कर्ता होय है।

इस कथनसे अज्ञानभावसे परका कर्ता भी कहिये यदि अज्ञा-नभावसे परका कर्ता (रागद्वेषादि विभाव भावों का) न मानिये तो फिर संसार ही काहेका ? इसलिये अज्ञानभावसे कथंचित कर्ता भी कहिये। जब तक भेद विज्ञान न होय तब तक रागद्वेषादि विकार भावोका कर्ता जीव होता है । क्योंकि रागद्वेष परिणाम

जीवका ही है। परन्तु यह रागद्वेष परिणाम जीवके कर्मके निमित्तसे होय है इस बातका ज्ञान अज्ञानी जीवको न होनेसे वे रागद्वेषका कर्ता हो जाता है। यह बात सर्वथा असत्य भी नहीं है। क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छतामें कर्मके उदय जनित कर्मके रागद्वेष परिणाम ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होता है अतः ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयाकार परिणमन करनेका होनेसे ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन होता है जिसको देखकर भेदविज्ञान रहित अज्ञानी जीव निमित्त नैमित्तिक दोनूं अवस्थाको एक मान लेता है बस यहीं अज्ञानी जीवके रागद्वेषादिक परिणाम का कर्तापना है। इसी बातको स्पष्ट करते हुये समयसार नाटकमें कहा है।

"शुद्धभाव चेतन अशुद्धभाव चेतन दुहूंको करतार जीव और नाहि मानिये। कर्मपिण्डको विलास वर्ण रस गंध फास कर्तार दुहूँको पुद्गल पखानिये जातें वरणादि गुण ज्ञानावरणादि कर्म नाना परकार पुद्गलरूप जानिये समल विमल परिणाम जे जे चेतनके ते ते सब अलख पुरुष यो वखानिये"

अर्थात् अलखपुरुष कहिये अरहंत भगवान कहते हैं कि शुद्धभावोका और अशुद्धभावोंका दोनूं प्रकारके भावोंका कर्ता जीवात्मा ही है दूसरा कोई नही है इसलिये समस्त परिणामोंका भी आत्मा कर्ता है ऐसा मानना कोई आगमविरुद्ध नहीं है क्योंकि ज्ञानी जीव राग द्वेष का कर्ता है ही। इस बातका खुलासा ऊपरमें किया जाचुका है। संकल्प विकल्पके सिवाय जीवात्मा पुद्गलादि पर पदार्थोंका कर्ता नहीं है।

गजेंद्रं मृगेंद्रं गह्यो तू छुडावै। महा आगतैं नागतैं तू बचावै॥ महावीरतें युद्धमें तू जितावै। महारोगतैं बंधतैं तू

राग भगवान किसीको कुछ देते लेते नहीं है फिर ऐसी स्तुति क्यों की ? तो कहना पडेगा कि यह एक स्तोत्र स्तुति करनेकी प्रणाली है जो कारणमें कार्य का उपचार कर कारण को कर्ता ठहरा दिया जाता है । इस प्रणालीको कोई न समझकर ऐसा मान बैठे कि भक्तों पर भगवान खुश होकर उनके दुःख दर्द दूर कर देता हैं । तो यह उनका समझना गलत हैं । वे जैनागमके आम्नायको ही नहीं समझते है । देखो स्व० पं० वृन्दावन कृत दुःखहरणस्तुति-में क्या लिखते है "काहू को भोगमनोग करो काहू को स्वर्ग विमाना है । काहूको नाग नरेशपती काहूको ऋद्धिनिधाना है । अब मोपर क्यों न कृपा करते यह क्या अन्धेर जमाना हैं इनसा-फ करो मत देर करो सुख वृन्द भयो भगवाना है " एक तरफ तो ऐसा कहते है और इस ही तरफ यह कहते है कि "यद्यपि तुमारे रागादि नही यह सत्य सर्वथा जाना है । चिन्मूरति आप अन-न्तगुनी नित्य शुद्ध दशा शिवथाना है । तद्यपि भक्तनकी भीड हरो सुख देत तिन्है जु सुहाना है । यह शक्ति अचित तुम्हारीका क्या पावे पार सयाना है "

इस से यह सिद्ध होता है कि भगवान तो वीतराग हैं । इस-कारण वे तो कुछ देते लेते नही है किन्तु वीतराग भगवानके भक्त वीतराग भगवान की स्तुती करते है अतः उनकी स्तुती में (उनके गुणानुवाद) यह शक्ति है कि भक्त जनो के दुःख स्वयमेव दूर होजाते हैं । जैसे पारसको स्पर्श करने मात्रसे लोहा कंचन हो जाता हैं । उसी प्रकार भगवान के गुणानुवाद करने से अशुभ कर्म झड जाते हैं या वे शुभरूप मे परिणत हो जाते हैं । जैसे वादिराज सूरीके एकीभावस्तोत्रके प्रभावसे कुष्टरोग निर्मूल नष्ट हो गया । मानतुङ्ग आचार्यके भक्तामर स्तोत्र के द्वारा सब बन्धन टूट गये, इत्यादि । यह सब भगवानकी भक्ति

का ही माहात्म्य है। जिसप्रकार मंत्रके द्वारा सर्पादिक का विष दूर हो जाता है उसी प्रकार भगवानकी स्तुती स्तोत्रादि द्वारा सब विघ्न बाधाये दूर हो जाती है, यह भगवानके गुणोद्‌गान में शक्ति है जिस से यह भान होता है कि मानो भगवानने ही हमारे दुःख दूर किये इसलिये ऐसा कहने मे आता है कि हे भगवन "तुमारी कृपा से सरे काज मेरे" किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि हम अन्यमतियों की तरह भगवानको कर्ता मानते है सभी पूर्वाचार्योंने ईश्वर कर्तावाद का खण्डन किया है जैसा कि आदिपुराणमें भगवान् जिनसेनाचार्यने किया है। उस के आधार पर—

"ईश्वर कर्ता हर्ता नाही रन्चक भी नही बनता है।
सृष्टी रचना है अनादिसे जो नही माने जडता है।
जिसको समझा कर्ता हर्ता बिन पृथ्वी वह रहै कहां ?
है अमूर्तिक निराधार तो जगत बनाकर रक्खे कहां ? १

ईश अकेला क्या क्या रचता जगता प्रमेय अनन्ता है।
अमूर्तिक से ना जग बनता है विश्व मूर्तिकवंता है।
यदि बनता तो कैसे बनता क्या प्रमाण तुम दे सकता ?
मूर्तिक से ही मूर्ति बनती यह सिद्धान्त नही टल सकता २
विना उपकरण ईश्वर जगको कैसे कहो, बनाता है ?
जो पहिले उपकरण बनाकर फिर कहो जगत बनाता है।
तो उन उपकरणो को कैसे विन उपकरण घडाता है।
यदि दूजे उपकरणों से तो उनको कैसे रचाता है। ३
इस प्रकार जो होत अवस्था अन अवस्था है उसका नाम।
जो अनादि का है वह कारण तो अनादि का क्यों नही धाम।
स्वय सिद्ध भी मानो ईश्वर है अनादि से भी कहते हो।
तो क्या बाधा जग अनादि मे किसलिये सादि कहते हो। ४

विना उपकरण जगतकी रचना ब्रह्म इच्छा से होती है।
क्या इच्छासे जग बनता है? झूठ कल्पना खोटी है।
जगदीश्वर है कृत्य कृत्य तो करचुके हैं सारे काम।
यदि नहीं है तो हैं अपूरण उनसे भी नहीं होता थाम। ५
जग व्यापक अरु अचल ईश तो हलन चलन ना कर सकता
हलन चलन विन सृष्टि न होती व्यापक, अचलता सब खोता।
निर्विकार है यदि ईश्वर तो विकारता क्यों मन भाती।
जग रचनाकी इच्छा होती विकारता तब आ जाती। ६
क्या ईशका यह स्वभाव जो विन रचना ना चैन परे।
ऐसा है तो हैं संसारी जग चिन्ता कर दुख भरे।
अथवा ईश्वर क्रीडा अर्थी रचना कर सुख माना है।
खेल कूद तो बालक करते ज्ञान हीन जग जाना है। ७
कर्मोदय अनुसार जीव का ईश्वर शरीर बनाता है।
नर नरकादिक चारों गतिमे गति आकार रचाता है:
संभव ऐसा होता नाही वृथा युक्ति मत हिये धरो।
जैसे तांती कपडा बुनता क्या ब्रह्मा यह नाम खरो? ।८
पुण्य पाप कर जीव जगत में नाना गतिमें भ्रमता है।
पुण्य पापकालेखा करके ईश्वर फल को देता है।
इस प्रकार की झूठी युक्ति महिमा झूठी गाई है।
न्यायाधीश भी न्याय करता क्या हम कहै गुसाई है? ९
पराधीनता रहती इसमें ईश्वरता सब जाती है।
निराबाध स्वाधीन सुखी है ईश्वरता कहां पाती हैं।
पूर्वोपार्जित कर्मोदय से प्राणी सुख दुःख भोगे हैं।
निःकारण अरु वृथा ईशका उसमें कारण झोके हैं। १०
गाछ गछीला आदि पदार्थ स्वतः फूल फल फला करे।
हाड मांस मज्जादिक धातु स्वयं अन्नसे बनो करे

इत्यादिक जो वस्तु अनंती ईस निमित्त विन हुआ करे।
वृथा निमित्त माना तुमने मिथ्या श्रेय सुधी न धरे ११
प्रभु जीवो पर वत्सल रखकर अथवा अनुग्रह चित धरके
इस कारण वह सृष्टी रचता ईस अवतार बन करके ॥
यह भी कारण है सव मिथ्या सुख सामग्री है कहुं नाहि
दुःख मय वस्तु जगतमे ढ़ेरी अतः विश्वका करता नाहि । १२
वुद्धिमान जो कर्ता हो सुख मय जगत वना देता।
वाघ वघेरा रीछ रोझादिक दुष्टो को ना रच देता।
असत्य वस्तु ना पैदा होती सतका कभी न होत विनाश ।
यह स्वभाव है अटल जगतका इसका कैसे होत विनाश १३
सत्तारूप से जो मौजूदा ईश्वर उसमें रचता क्या ?
अथवा असत् की रचना करता खर विशाण वनाता क्या ?
जैसे ग्राम नगर की रचना करे चतुर कारीगर है।
तैसे सत् प्रमेय रचना में ईश्वर निपुण कारीगर है। १४
असत् कल्पना सुखदायक सुनारवत उसको समझो।
सुनार ना सोनेका करता कुण्डलादि कर्ता समझो।
तैसे वस्तु पलटने वाला है असंख्य स्वीकार करो।
अतः विश्वका कर्ता नाहि सत्य पक्ष का मान करो १५
मुक्त जीव को ईश्वर करते कृत्य कृत्य भी हो चुके।
इस कारण वह वीतराग है विश्व वनानेमें किम ढुके ?
कर्मोदय क्या वाकी उनके तुम हम जैसा समझो ईश।
तुम हम जैसा क्या कर सकता मिथ्यावादी नमावो शीश १६
जो पहले तो जगत वनावे पीछे उसका करे विनाश
ऐसी दुष्ट वुद्धि क्यों होती फिर क्या नई लगाई आश
या दुष्टोको मारण हेतू ईश्वर प्रलय कराता है
कैसा अच्छा न्याय ठहराकर मूर्खोंको समझाता है १७

जो सज्जन विष वृक्ष लगावे अपने आप न डारे काट।
तो क्या ऐसा संभव सबका ईश्वर करदे सपन पाट।
कीच लगा क्या धोना अच्छा अच्छा है ना स्पर्श करे
वह कहां की है बुद्धिमानी ? दुष्ट बनाय संहार करे १८
विरधी धर्म न वस्तु मांहि ना स्वभावको तजती है।
अग्निमें जो रहै उष्ण तो शीतलता नहीं भजती है।
इस सिद्धान्त अनुसार वस्तुका ना स्वभाव भी हट सकता
अतः ईस भी जगत बना कर फिर विनाश क्या कर सक्ता ? १९
अब ईश्वरकी रक्षा परखो कैसी अच्छी किया करे।
निस दिन असंख्य प्राणी मरते उन पर क्यों न दया धरे ?
अथवा केवल भक्त बचावे भक्तो को क्यो मरने दे ?
नित प्रति भक्त पिटाये जाते दुखमे क्यों वह पडने दे । २०
मंदिर मूर्ति टूटे उनकी कैसे समझे रक्षावान।
क्या ईश्वरमे शक्ती नही। अथवा तोड कटी बलवान ?
क्यों कर रक्षा ना वे करते इसका जरा करो विचार
मिथ्यावाद को दूर हटा कर प्रगट करहु सत्य विचार २१
उक्त हेतुसे ईश्वर करता हरता नाहीं रक्षक वान
मिथ्याबुद्धिसे कर्ता माने अतः करता वादी झूठ बखान।
विश्व अनादिमे जिय भ्रमता कर्मोदयसे जगत जहान
सम्यक् सहित तपश्चरण करके करो जीवका (शशि) कल्याण २२

इत्यादि युक्तियोंसे ईश्वर कर्तापनेका खंडन किया है फिर उनको कर्ता-मान कर उनकी स्तुति करें यह बात तो बन नहीं सकती अतः स्तुति स्तोत्रोंमें जो आचार्योंने ईश्वर कर्तापने के शब्दों का प्रयोग किया है वह कारण में कार्य का उपचार करके किया है। वर्तमान समयमें भी यह पद्धति देखनेमे आती है कि कोई किसी के जरिये लाभ उठाता है तो यही कहनेमें आता है

कि इनकी मेहरवानीसे हमको लाभ मिला है । किन्तु वास्तव में देखा जाय तो लाभ मिला है अपने अंतराय कर्म के क्षयोपशमसे और अपनी मेहनतसे (पुरुषार्थसे) दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है उसी निमित्तको मुख्य करके यह कह दिया जाता है कि उनकी मेहरबानी से ऐसा हुवा है उसी प्रकार भगवानकी भक्ति करनेसे परिणामोंकी विशुद्धि हो जाती है और अशुभ कर्मकी निर्जरा होकर अशुभ कर्मके उदयसे आने वाली बाधायें टल जाती है इस कारण यह कह दिया जाता है कि हे भगवान तुम्हारी कृपासे यह मेरे दुःख दूर होगये हैं । वास्तवमें देखा जाय तो दुःख दूर हुवा अपने ही पुरुषार्थके द्वारा परिणामों की विशुद्धि करने से कि परिणामों की विशुद्धि हुई भगवानके गुणोद्गान करनेसे इसलिये उनके गुणोंका मुख्य लक्ष करके यह कह दिया जाता है कि हे भगवान ! यह तुम्हारी ही कृपा है । ऐसा न्याय है जो कृत्यज्ञ पुरुष होता है वह जिस निमित्त से जो कार्य सिद्ध हुआ है उस निमित्त का उपकार नहीं भूलते हैं । बस, यही कारण है कि भगवान के निमित्त से हमारे परिणामो की विशुद्धि होकर हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है इसलिये हम भगवानके गुणोंके स्मरण का उपकार मान कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट कर कहते है कि "तुम गुण चिन्तत नशत तथा भय, ज्यों घन चलत समीर" अर्थात् तुम्हारे गुणोमें ही वह शक्ती है जो तुम्हारा गुण चिन्तवन करता है उनका सब दुःख दूर होकर वह निर्भय हो जाता है जैसे पवनके जोग से घन (वादल) छिन्न भिन्न हो जाते है । इसके उदाहरण एक नहीं अनेक हैं । जो व्यक्ति भगवानके चरणोमे संलग्न हो कर पूर्णतया आत्माके साथ अपना दुःख निवेदन करता है तो उनका दुःख अवश्य ही दूर हो जाता है । यह भगवानकी भक्तिकी अचिन्त्य महिमा है अतः वादिराज सूरि कहते है कि—

"आनन्द आंसू वदन धोय तुम सो चित सानें । गद गद सुरसों सुयश मंत्र पढि पूजा ठानें । ताके बहु विधि व्याधि व्याल चिरकाल निवासी भाजें थानक छोड देह वांवई के वासी । ३ दिवते आवनहार भये भविभाग उदय वल । पहले ही सुर आय कनक मय कीय मही तल । मन गृह ध्यान दुवार आय निवसो जग नामी । जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी । ४ प्रभु सव जगके विना हेतु वांधव उपकारी । निरावरण सर्वज्ञ शक्ति जिनराज तिहारी । भक्ति रचित मम चित्त सेज नित वास करोगे । मेरे दुःख सन्ताप देख किम धीर धरोगे । ५ भव वनमें चिर काल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई । तुम थुति कथा पियूप वापिका भागन पाई । शशि तुषार घनसार हार शीतल नहिं जा सम । करत न्हांन ता माहि क्यों न भव ताप वुझै मम । ६

इत्यादिक शब्दों में वादिराजसूरिने स्तुती की जिससे कुष्ट रोग दूर हुआ इसी प्रकार मानतुङ्ग आचार्य ने आदिनाथ भगवानकी स्तुती की थी जिससे उनके वन्धन सव खुल गये जिनकी कथा सव जानते ही है जिनेन्द्र की भक्ति से क्या २ नहीं होता ? सव कुछ होता है । भक्ति मार्ग मोक्ष मार्ग मे प्रधान अंग है । इसलिये आचार्य कहते हैं कि—

"एकापि समर्थेयं जिनभक्ति दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्याणि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः"

"जिने भक्ति जिने भक्ति जिने भक्तिः सदाऽस्तुमे सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्ष कारणं" इत्यादि–

जब जिनेन्द्रदेवकी भक्तिसे सम्पूर्ण दुःखो का नाश होकर परंपरा अविनाशी मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है तब इस भक्तिमार्ग (व्यवहार धर्म) का लोप करना मोक्ष मार्ग का ही लोप करना है। अतः सोनगढ के अनुयाई सज्जन इस भक्ति मार्ग को ईश्वर कर्त्ता वाद का रूप देकर अन्य मतावलम्बियोंकीतरह दि० जैनमत की मान्यता वा सादृश्यपना दिखलाकर भोले जीवोंको इस भक्ति मार्ग से वंचित रखते है यह महान अनर्थकारी प्रचार है। वाह्य प्रवृति और शब्दोंका प्रयोग तो प्रायः करके सव मतावलम्बियो के सादृश्य ही दिखाई पडते हैं परन्तु अन्तरंग मान्यता में वडा भारा अंतर है जिसको भोले जीव समझते नहीं उनको तो जैसा समझा दिया जाता है वैसा समझ लेता है। परन्तु समझाने वाला यदि जान वूझकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये उल्टा समझाकर मोक्ष मार्ग से विमुख कर देता है तो इससे वढकर और अन्याय क्या होगा? अन्याय करनेसे भी अन्याय प्रवृत्ति करने वाले को पीठ ठोंकना उनकी हां मे हां मिलाना उसका साथ देना उसको अच्छा कहना इसके समान कोई दूसरा पाप नहीं है उदाहरण स्वरूप वसुराजा को ही ले लीजीये वह झूठ वोलने से ही नर्क गया सो वात नहीं है किन्तु परवतकी हिंसा प्रवृत्ति का समर्थन किया इसलिये वह सिंहासन सहित जमीनमें धस गया और मरण करके नर्क धरामें जा पहुंचा। अतः शास्त्रीजी आप सोनगढके आगम विरुद्ध सिद्धांतका समर्थन कर रहे है इससे अधिक दूसरा कोई भी पाप नहीं है मोक्षमार्ग की प्रवृति व्यवहार धर्मका लोप करना यही सवसे तीव्र मिथ्यात्व है इसका फल अवश्य भोगना पडेगा।

कुन्दकुन्द स्वामी ने केवलज्ञानी आत्मा को ही रागद्वेष का अकर्ता कहा है न कि अज्ञानी जीवको भी रागद्वेपका अकर्ता कहा है ? यदि रागद्वेप का भी आत्मा कर्ता नहीं है तो क्या उसका कर्ता पुद्गल जड़ पदार्थ है ? कदापि नहीं। जड़ पदार्थ भी रागद्वेप करने लग जाय तो उसके चेतना माननी पड़ेगी इस हालत में जड़ चेतन एक हो जावेगा। इसलिये रागद्वेप परिणाम का कर्ता सर्वथा आत्मा नहीं है ऐसा कहना सर्वथा आगम विरुद्ध है। कुन्दकुन्द स्वामी ने रागद्वेष का कर्ता आत्मा ही को घोषित किया है यह कथन हम ऊपर कर आये है तो भी यहां पर स्पष्ट करनेके लिये और भी उद्धृत कर देते है। देखो समयसार नाटक—

"शुद्धभाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन दुहूंकों करतार जीव और नही मानिये। कर्म पिंडको विलास वर्ण रस गंध फास करता दुहूँ पुद्गल पखानिये। तातें वरणादि गुण ज्ञानावरणादि कर्म नाना परकार पुद्गल रूप जानिये। समल विमल परिणाम जे जे चेतनके ते ते सब अलख पुरुप यों वखानिये"

अर्थात् अलख पुरुप कहिये भगवान ऐसा कहते है कि समल विमल परिणामों का कर्ता आत्मा ही है दूसरा कोई नही है इसका निपेध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका उपादान आत्मा ही है पुद्गल नहीं।

पूर्वाचार्योने निमित्तके विना कार्योत्पति नहीं होती ऐसा घोपित किया है "विना निमित्ते न कुतो निवृत्तिः" ऐसा हम ऊपर बतला चुके जब निमित्त के विना कार्य सिद्ध नहीं होता वितनमित्तको मुख्य करके कारण में कार्य का उपचार करके

निमित्त को भी हम कार्य का कर्ता कह सकते है जैसा पूर्वाचार्यों के अनेक स्थलों पर कहा है। इस बातको आप भी स्वीकार करते है।

"इस प्रकार हम देखते है कि शास्त्रों मे निमित्त कारण का निमित्त आलम्बन साधन हेतु प्रत्यय, कारण प्रेरक उत्पादक कर्ता हेतु कर्ता, और निमित कर्ता इत्यादि विविध रूप से कथन किया गया है"

पृष्ठ २१० जैनतत्त्वमीमांसा

जब पूर्वाचार्योंने शास्त्रोमे निमित्त कारणो को भी कर्ता, घोषित किया है तब भगवानकी स्तुती स्तोत्रादिक निमित्त कारणों से हमारे अभीष्टकी सिद्धि होती है तो हम यदि भगवान को हमारे अभीष्टकी सिद्धि करने वाले कह दें तो इसमें कौन सा मिथ्यात्व है और कौन सी आगम विरुद्ध बात है ? क्योंकि हम भगवानको उपचारसे कर्ता मानते है न कि अन्य मतावलम्बियों की तरह साक्षात् कर्ता मानते है जो मिथ्यात्वका प्रसंग आवे। अतः भक्ति मार्गको मिथ्यात्व बताकर मिथ्यात्व की पुष्टि करना है यह आगम विरुद्ध बात है और मिथ्यात्व वर्धक है कारक अपेक्षा भी घटका कर्ता कुम्भकार को कहा जाता है यह भी लोकव्यवहार प्रसिद्ध है यह भी एक नय अपेक्षा कथंचित सत्य है। लोक व्यवहार भी सत्य के आधार पर ही चलता है। अन्यथा लोक व्यवहार की भी शृखंला छिन्न भिन्न हुये बिना नहीं रहती।

स्व उपादान की अपेक्षा देखा जाय तो घटका कर्ता मृत्तिका है मृतिका से ही घटोत्पत्ति होती है। मृत्तिका का ही यह कर्म है मृत्तिका ही इसका करण है मृत्तिका ही इस का सम्प्रदान है मृत्तिका ही इसका अपादान है और मृत्तिका ही इसका अधिकरण है

किन्तु निमित्त की अपेक्षा घटका कर्ता कुम्भकार है क्योंकि वह घट रूप क्रिया निष्पत्ति के प्रति कुम्भकार होता है। कुम्भ उस का कर्म है चक्रादि उसका करण, है जल धारण रूप उसका प्रयोजन सम्प्रदान, है कुम्भकार का अन्य व्यापार से अलग होकर इसमें लगना अपादान है पृथ्वी आदि उसका अधिकरण आधार है इस प्रकार घटका कर्ता कुम्भकार का होना सभव है क्योंकि घटोत्पत्ति स्वयमेव केवल मृतिकासे नहीं होती कारण कुम्भकारादि होने से ही मृतिका से घटोत्पत्ति होती है।

अब कुम्भका घटरूप परिणमन करने वाली मृतिका को खानसे लाकर चलता है फिर उसमे पानी देता है तत्पश्चात उस मृतिका को रोंधते हैं अर्थात उसमें चिकनाई लोचादि घट-रूप होनेका वल पैदा करते है। उस मृतिकामे पड़ी पड़ीमे अपने आप घटरूप होनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं होती अतः कुम्भकार ही उस मृतिकामें घटरूप परिणमन करनेका वलदान पेदा करते हैं इसका नाम है वलदान निमित्त। फिर वह कुम्भकार उस मृतिका को घटरूप परिणमन कराने मे प्रेरणा करता है इसलिये वह कुम्भकार प्रेरक निमित्त कारण भी है तथा चाक चीवर आदि सहाय निमित्त कारण है उनके विना भी घटोत्पत्ति नहीं होती अतः कार्योत्पत्ति केवल उपादानसे ही होना आप जो सोनगढ के सिद्धान्तानुसार मानते हैं वह सर्वथा आगमविरुद्ध मिथ्या है विना निमित्तके उपादान केवल पंगूवत पडा रहता है इसलिये आचार्योंने कार्योत्पत्ति में निमित्त नैमित्तिक दोनोंका सम्बन्ध वतलाया है अर्थात नैमित्तिक के साथ वलदान प्रेरक, सहायक आदि निमित्त हो तो नैमित्तिकका कार्य निष्पन्न हो सकता है अन्यथा नही इस हेतुसे निमित्तमे कारणमें कार्य का उपचार करके आचार्योंने कारणको भी कर्ता कहा है यह सर्वथा असत्य नहीं है। नय अपेक्षा सव सत्य है। एकान्त वाद सव मिथ्या है।

बिना निमित्तके कार्योत्पत्ति नही होती ऐसा माननेमें आप को यह भय लगता है। कि एसा माननेके उपादान अपरिणामी ठहरता है इसलिये आप निमित्त को अकिंचित्कर मानते है यह आप की भ्रम धारणा है। क्योंकि सर्व पदार्थ परिणमन-शील है चाहै शुद्ध द्रव्य हो चाहे अशुद्ध हो सबमें परिणमन शक्ति मौजूद है तो भी उस परिणमन में निमित्त की आवश्यक्ता पडती है। धर्म अधर्म आकाश और शुद्ध जीव तथा शुद्ध पुद्गल परमाणु इनके षट गुण हानि वृद्धि रूप परिणमन में काल द्रव्य निमित्त कारण पडता है इस बातको आप भी स्वीकार करेंगें फिर निमित्त अकिंचित् कर है वह केवल कार्य के समय उपस्थित रहता है ऐसा कहना न्याय आगम और युक्तिसे सवर्था शून्य है क्योंकि ऐसा आप लोग एक भी कार्यकी उत्पति नही बता सकेंगे जो निमित्त तो खडा खड़ा देखता रहै और उपादानसे स्वयंमें कार्य का निर्माण होजाय अत: निमित्तों को अकिंचितकर ठहराकर मोक्षमार्गका साधन भूत देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय तीर्थयात्रादि भक्तिमार्गका लोप करना घोर अन्याय है। आपने "कर्तृकर्म मीमांसा" के अनुसार ही "षट कारक मीमांसा" मे भी एकान्त पक्षको ग्रहणकर व्यवहार धर्म का लोप करनेकी पूरी चेष्टा की है और सोनगढके एकान्त वादकी पुष्टि करनेमें पूर्णतया प्रयत्न किया है अर्थात् व्यवहार निर्पेक्ष, केवल निश्चय सापेक्ष षट कारकों की सिद्धि की गई है इसलिये यह कथन एकान्तवादसे दूषित है क्योंकि जबतक निश्चय स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तबतक निश्चय स्वरूपकी प्राप्तिके लिये व्यवहार करना पडता है।

"जहं ध्यान ध्याता ध्येयको विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहां॥

तीनों अभिन्न अखण्ड शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा"

यह अवस्था वारहवें गुणस्थान के अंतको है। इसके पहिले जो अर्थात् वारहवें गुणस्थानके पहले चौथे गुणस्थान तक तो सालम्बन अवस्था ही है अतः सालम्बन अवस्था है वह व्यवहार है इसीलिये पंचास्तिकायकी टीकाकार लिखते हैं कि—

"व्यवहार नयेन भिन्नसाध्य साधनभावमवलम्ब्यानादि भेदवासित बुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिका"
गाथा १७२

अर्थात् अनादि कालसे भेदवासित बुद्धि होनेके कारण प्राथमिक जीव व्यवहार नयसे भिन्न साधन साध्य भावका अवलम्बन लेकर सुखसे तीर्थका प्रारंभ करते है। यह वात असिद्ध नहीं हैं। प्रथम अवस्था में व्यवहारका शरण तीर्थके समान है। इस वातको इस व्यवहार की सार्थकता वतलाते हुये पहले प्रगट कर आये हैं। विना व्यवहारके निश्चयकी सिद्धि आज तक किसी के न हुई और न किसी के आगे भी हो सकेगी। इसलिये आप जो यह लिखते हैं कि "जो व्यवहार कथन है वह मूल वस्तुको स्पर्श करनेवाला न होनेसे उपचरित है, अभूतार्थ है और कर्ता कर्म आदिकी वास्तविक स्थितिकी विडम्बना करनेवाला है। जो पुरुष व्यवहार कथनका आश्रय कर प्रवृत्ति करते है वे शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि में समर्थ नहीं होते अतएव संसारके ही पात्र वने रहते हैं" पृष्ठ १४५

यह आपका कथन व्यवहार निर्पेक्ष केवल निश्चय परक है इसलिये मिथ्या है। व्यवहार सापेक्ष कथन ही वस्तुत्व सही और आदरणीय होता है। इसका कारण यह है कि मोक्षमार्गकी शुरुआत चौथे गुणस्थानसे होजाती है और जहां मोक्षमार्ग की शुरु-

आत हुई कि वहीं से शुद्धोपयोग की शुरुआत प्रारंभ हो जाती है किन्तु इसकी पूर्णता तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें जाकर होती है। इसलिये जवतक शुद्धोपयोगकी पूर्णता अर्थात् शुद्धोपयोगकी निश्चलदशा नहीं होती तबतक निश्चल शुद्धोपयोगकी पूर्ण अवस्था प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न (पुरुषार्थ) करना पडता है उसीका नाम व्यवहार है यदि ऐसा न माना जायगा तो "तपसा निर्जरा च" यह तत्त्वार्थकारका वचन मिथ्या सिद्ध होगा। अर्थात् तपसे निर्जरा और संवर होता है और तप है सो अनशनादिके भेदसे वारह प्रकारके है वे सव व्यवहार है ध्यान है सो भी जहां तक सालम्बन है ध्यान ध्याताका विकल्प है तहां तक व्यवहार पर-क ही है। इस व्यवहार पर ध्यानसे और अनशनादि अन्य तपों के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होकर आत्मामे इतनी विशुद्धि पवित्रता आजाती है कि जिससे जो कर्मोंके निमित्तासे परिणमोंमे चंचलता,, सकम्पपना हो रहा था वह कारणके अभा-वमे कार्यका अभाव होकर परिणामोंमें निश्चलध्यान करने की सामर्थ प्रगट हो जाती है इसलिये व्यवहार परमार्थका साधन भूत है आप जो व्यवहार को "उपचारित और बिडम्बना" रूप घोषित करते है और कहते है कि "जो व्यवहार कथन है वह मूलवस्तुको स्पर्श करने वाले न होनेसे उपचारित हैं" जव व्यवहार कथन मूलवस्तुका स्पर्शन ही नही करता है तो वह उपचरित कैसा ? और वह अभूतार्थ कैसा ? क्योंकि पर्यायाश्रित कथन को ही अभूतार्थ और उपचरित कथन कहते हैं इस वात को हम पहले सिद्ध कर आये है। भूतार्थ कहो या द्रव्यार्थिक कहो अथवा निश्चयात्मक कहो ये सव एकार्थवाची शब्द है। और अभूतार्थ कहो या पर्यायार्थिक कहो अथवा व्यवहार कहो ये सव एकाथ वाची शब्द हैं तथा उपचरित हैं वह व्यवहार नयका ही भेद है। और व्यवहार नय है वह गुण गुणीमें भेद कल्पना करता

है इस लिये भेद का नाम ही व्यवहार है फिर व्यवहार है। ~
मूलवस्तुका स्पर्श ही नहीं करता ऐसा करना क्या यह न्याय
संगत है ? कभी नहीं व्यवहार नय ही उपचरित है और वह वस्तु
के पर्यायोंका कथन करने वाला है इसलिये वस्तुको स्पर्श नहीं
करता ऐसा कहना सर्वथा मिथ्या है क्योंकि पर्यायें वस्तुसे भिन्न
दूसरा कोई पदार्थ नहीं है अतः पर्यायोंका प्रतिपादन करने वाला
व्यवहार नय मूल वस्तुके स्वरूपका अच्छी तरह बोध करा देता
है इस बात को हम ऊपरसे अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं इस
लिये यहां पर दुबारा बताने की आवश्यक्ता नहीं है।

पर्यायार्थिक नय को ही व्यवहार नय कहते हैं। इस बातका
प्रमाण यह है—

"पर्यायार्थिकनयइति यदि वा व्यवहार एव नामेति
एकार्थोयस्मादिह सर्वोप्युपचारमात्रः स्यात्

५२१ पंचाध्यायी

अर्थात् पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनों
का एक ही अर्थ है सभी उपचार मात्र है।

व्यवहार नयके भेद—

"व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथभवेद सद्भूत ।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृ‍तमात्रत्वात् ५२५

अर्थात व्यवहार नयके दो भेद हैं। सद्भूत व्यवहार नय
असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत उस वस्तुके गुणोंका नाम है
व्यवहार उसकी प्रवृत्तिका नाम है। भावार्थ—किसी द्रव्यके गुण
उसी द्रव्यमें विवक्षित करने का नाम ही सद्भूत व्यवहार नय
है। यह नय उसी वस्तुके गुणों का विवेचन करता है। इसलिये
यथार्थ है। अतः सत्यार्थ को मिथ्या कहना इससे बढकर और
क्या अन्याय हो सक्ता है ? कुछ भी नहीं। सूलभूत आपके चार

विषय हैं ? १–व्यवहारका लोप करना २–निमित्तको अकिंचितकर ठहराना ३–क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि करना ४–उपादान की योग्यता से ही कार्य का सम्पादन होना बस इन्हीं चार विषयों को घुमा फिराकर १२ अधिकारों में "जैनतत्त्वमीमांसा" की गई है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी तत्त्व मीमांसा नहीं है। जिसपर विचार किया जाय।

षट कारकों की प्रवृत्ति निमित्त और उपादानके आश्रयसे होती है दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यद्यपि मृत्तिका का घट परिणमनरूप व्यापार मृत्तिका में ही होरहा है और कुम्भकार का घट निर्माण रूप अनुकूल व्यापार अपने में हो रहा है दोनों का परिणमन स्वतंत्र है तथापि कुम्भकारादिके विना मृत्तिका द्वारा स्वयमेव घटकी उत्पत्ति नहीं होती और न मृत्तिका विना कुम्भकार भी घटोत्पत्ति कर सकता है दोनोंका सम्बन्ध मिलनेसे ही घटोत्पत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं इसलिये घटका कर्ता कुम्भकार कहा जाता है कुम्भ कर्म है। चक्र और चीवर आदि करण है। जल धारण रूप प्रयोजन सम्प्रदान है कुम्भकारका अन्य व्यापार से निवृत्ति होना अपादान है और पृथ्वी आदि अधिकरण है। इस प्रकार षट कारक की प्रवृत्ति होती है यह असत्य नहीं है। यद्यपि सर्व ही पदार्थों का परिणमन स्वतंत्र है क्योंकि सब ही पदार्थ परिणामनशील है। इसलिये सबका परिणमन स्वतंत्र रूपसे क्षण क्षण में होता ही रहता है। तथापि उस परिणमन मे अन्य द्रव्य निमित्त कारण अवश्य पडते है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्य द्रव्यके निमित्त विना उस का परिणमन स्वभाव ही नष्ट हो जाता हो किन्तु प्रत्येक पदार्थके परिणमनमें अन्य पदार्थ सहायक होते ही है विना सहायताके किसी द्रव्यका स्वतन्त्र परिणमन नहीं

होता शुद्ध जीवके या परमाणुओंका परिणमन भी कालद्रव्यके निमित्तसे ही होता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो "धर्मास्तिकायाभावात्" यह सूत्र मिथ्या सिद्ध होगा क्योंकि मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये धर्मास्तिकायके अभावमें भी मुक्तजीवोंका गमन स्वतंत्ररूपसे आकाशमें होते रहना चाहिये सो होता नहीं जहां धर्मास्तिकाय का अभाव है वहीं तक मुक्तजीवोंका गमन है आगे नहीं। इससे कोई अज्ञ यह मान बैठे कि मुक्तजीवोंमें इसके आगे जानेकी योग्यता नहीं है इसलिये वे लोकशिखरके आगे नहीं जाते किन्तु यह बात नहीं है मुक्तजीवों में उसके आगे जानेकी योग्यता मौजूद है क्यों कि वे अनन्तशक्तिके धारक हैं इस कारण वे अनन्तानन्त कालतक लोकशिखर पर विराजमान रहते हैं टससे मस नहीं होते इसलिये अनन्तशक्तिके धारक होनेसे उनमें आगे जानेकी योग्यता विद्यमान है परन्तु आगे जानेके लिये निमित्त कारण धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे वे आगे गमन नहीं कर सकते।

जिस प्रकार विना पटरीके इंजिन नहीं चल सकता जहा तक पटरी रहती है वहां तक ही वह चल सकता है आगे नहीं। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें उससे आगे जाने की योग्यता नहीं है। उसमें उससे आगे जाने की योग्यता (शक्ति) मौजूद है पर पटरीका आगे अभाव है इस कारण विना पटरीके चलनेकी उसमें शक्ति नहीं है यदि पटरी उसके आगे और लगा दी जावे तो वह उसके आगे भी चल सकता है। चलनेकी शक्ति उसमें मौजूद है पर विना पटरीके चलनेकी शक्ति उसमें नहीं है उसमें इतनी ही योग्यता है कि वह पटरीके सहारे चल सके इसी प्रकार मुक्त जीवमें लोकाकाश के आगे ऊर्द्ध गमन करनेकी योग्यता रहने पर भी धर्म द्रव्यके सद्भाव विना लोकाकाशके

आगे गमन वे नहीं कर सकते क्योंकि कारणके अभावमें कार्य का अभाव अवश्यम्भावी होता ही है। विना निमित्तके नैमित्तिक कार्य नहीं होता यह अटल नियम है। यदि होता हो तो निमित्तों को अकिंचित कर मानने वाले सज्जन करके वतलावें अन्यथा निमित्त अकिंचितकर नहीं है ऐसा स्वीकार करें।

आप जो यह कहते है कि "सामान्य नियम यह हैं कि प्रत्येक द्रव्य ध्रुव स्वभाव होकर भी स्वभावसे परिणमनशील है। उससे पृथक् अन्य द्रव्य उसे परिणामन करावें तब वह परिणमन करे अन्यथा वह परिणामन न करे तो परिणमन करना उसका स्वभाव नहीं ठहरेगा इसलिये जिस द्रव्यके जिस कार्यका जो उपादान क्षण है उसके प्राप्त होनेपर वह द्रव्य स्वयं परिणमन कर उस कार्यके आकार को धारण करता है यह निश्चित होता है और ऐसा निश्चित होनेपर कारकका जो क्रियाको उत्पन्न करता है वह कारक कहलाता है यह लक्षण अपने उपादानरूप मिट्टीमे ही घटित होता है क्योकि परिणमन रूप क्रिया व्यापारको मिट्टा स्वयं कर रही है कुम्भकार चक्र चीवर और पृथिवी अदि नहीं"

—जैन तत्त्व मीमांसा पृष्ठ १३३

इस कथन से आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है और वे स्वयं परिणामन करते है, उसके परिणमन करनेमे अन्य पदार्थ सहायक नहीं माने जा सकते क्योंकि अन्य पदार्थको उसमें सहायक माननेसे वह स्वयं अपरिणामी ठहरता है इसलिये उपादानमे जिस समय जो कार्य उत्पन्न होता है वह उस कार्यरूप आकार को स्वयं परिणमन करता है। जैसा कि मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमन करती है कुम्भकारादि नही। किन्तु इस कथनसे न तो निमित्त ही अकिं-चितकर सिद्ध होते है और न व्यवहार नय ही मिथ्या सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है इसलिये वह

परिणमन करता है यदि वह परिणमन शील न हो तो दूसरा द्रव्य उसको परिणमन नहीं करा सकता ऐसा होने पर भी प्रत्येक पदार्थ निमित्तानुसार ही परिणमन करता है यह अटल सिद्धान्त हैं यदि मिट्टीको कुम्भकारादिका निमित्त न मिले तो वह स्वयं घटरूप परिणमन करनेमें असमर्थ है घट रूप परिणमन करने वाली मिट्टी में घटरूप परिणमन करनेका बल (योग्यता) बिना कुम्भाकारादि निमित्तोंके असिद्ध है। इस बातको आप भी स्वीकार करते हैं " उपादान के अपने परिणमनरूप क्रिया व्यापार के समय ये कुम्भकार आदि बलाधान निमित्त होते हैं। इतना अवश्य है "

जैन तत्त्व मीमांसा पृष्ठ १३४

जब बलाधान निमित्तके (कुम्भकारादिके) होने पर ही मिट्टी घटरूप परिणमन करती है अन्यथा नहीं तब निमित्त अकिंचित्कर कैसा ? अतः यह भय दिखलाना कि उपादानके परिणमनमें दूसरा द्रव्य निमित्त मान लेनेसे वह स्वयं अपरिणामी ठहरता है यह निःसार बात है क्यों कि- दूसरे पदार्थके निमित्तानुसार परिणमन करना यह जीव और पुद्गलमें स्वयं परिणमन शीलता सिद्ध होती है। तथा जीव और पुद्गलका अनादिकालसे पारस्परिक सम्बन्ध चला आरहा है इसलिये जैसा जैसा इनको निमित्त मिले वैसा वैसा यह दोनों परिणमन करते रहते हैं जब तक इनका पारस्परिक सम्बन्ध रहेगा तब तक यह निमित्तानुसार परिणमन करते रहेंगे। अतः षट् कारकोंकी प्रवृत्ति स्वय उपादानमें होते हुये भी वह प्रवृत्ति बाह्य निमित्तानुसार ही होती है यह बात असिद्ध नहीं है। अर्थात् निश्चयसे अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं अपने २ स्वरूप के कर्ता है कर्म कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गल स्कन्ध रूपसे कर्तृत्वको प्राप्त होता है। (२) कर्मपणा प्राप्तकरनेकी शक्तिरूप करणपणे को अगीकार करता है।

(३) प्राप्य ऐसे कर्मत्व परिणमनरूपमे कर्मपनेको संपादन करता है (४) पूर्व भावका नाश होजाने पर भी ध्रुवपनेका अवलम्बन करने से अपादानपने को प्राप्त होता है । (५) उपजनेवाले परिणाम रूप कर्म द्वारा आश्रयमाण होनेसे सम्प्रदानपने को प्राप्त करता है । (६) धारण किये जाते हुये परिणाम का आधार होनेसे अधिकरणपनेको ग्रहण करता है । इसी प्रकार स्वय ही पुद्गल षट्कारक रूप परिणमन करता है । उसी प्रकार जाव भी (१) भाव पर्याय रूपसे प्रवर्तमान आत्म द्रव्यरूपसे कर्तृत्वको धारण करता है । (२) भावपर्यायका प्राप्त करनेकी शक्तिरूपसे करण-पनका अंगीकार करता है । (३) प्राप्य ऐसा भावपर्यायरूपसे कर्मपनेको स्वीकार करता है । (४) पूर्व भाव पर्यायका नाश होने पर भी ध्रुवत्वका अवलम्बन होनेसे अपादानपने को प्राप्त होता है (५) उपजाने वाले भाव पर्यायरूप कर्मद्वारा आश्रयमाण होनेसे सम्प्रदानपनेको प्राप्त होता है । (६) धारण की जाती हुई भाव-पर्यायका आधार होनेसे अधिकरणपने को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वयं ही जीव षट् कारक रूप परिणामन करता है यद्यपि निश्चयसे कर्मरूप कर्ताका जीव कर्ता नही है । और जीवरूप कर्ताका कर्म कर्ता नहीं है । तथापि जीवके रागादि विभावोंके विना निमित्तके न तो पुद्गल कर्मरूप परिणमन करता है । और द्रव्य कर्मके निमित्त विना न जीव ही रागद्वेष रूप परिणामन करता है इस वातको हम पहले अच्छी तरह सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं इसलिये यहां उसे दुहरानेकी आवश्यक्ता नहीं है । जीवके राग द्वेष रूप परिणाम होनेमे द्रव्यकर्म निमित्त पडता है और पुद्गल द्रव्य कर्मरूप होनेमे जीवके रागद्वेष परिणाम निमित्तभूत होते हैं ऐसा होनेमें इनके परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इस वातको आप भी अस्वीकार नहीं करसकते फिर निमित्त अकिंचित

कर कैसा ? जब निमित्तोंके अनुसार पदार्थोंका परिणमन होता है तब क्रमबद्ध पर्याय कैसी ? और विना तपके कर्मकी निर्जरा और संवर नहीं होता फिर व्यवहार धर्म उपादेय नही ऐसा क्यों ? यद्यपि व्यवहारधर्म साधनेमें सरागता है तथापि वह सरागता संसारका कारण न होनेसे उपादेय ही है क्योंकि दूर किया है अज्ञान अन्धार जाने ऐसा जीव ताके तप संयम शास्त्रादिक सम्बन्धी राग भी है वह कल्याणके अर्थ ही है जैसे सूर्य के प्रभात संध्या सम्बन्धी आरक्तता है वह उदयके अर्थ है ।

" विधूततमसोरागस्तपःश्रुतनिबन्धनः ।
संध्याराग इवार्कस्य जंतोरभ्युदयाय सः ॥ १२३ ॥

—आत्मानुशासन

अर्थात् जैसे सूर्यके जैसी अस्त समय संध्या विषे लाली हो है तैसी ही प्रभात समय संध्या समय लाली हो है परन्तु प्रभात की लाली में अर संध्याकी लाली में बडा अंतर है जो प्रभात-समय विषे रात्री सम्बन्धी अन्धकार का नाश करि संधी विषे जो लाली भई सो आगामी सूर्यका शुद्ध उदय को कारण है । तैसे जीव के जैसा विषय आदिक विषे राग हो है तैसा राग तप शास्त्रादिक विषे भी हो है । परन्तु जो विषयादिक सेवनमे राग हो है वह मिथ्यात्वका कारण है संध्या समय की लाली समान है आगामी अज्ञान अन्धकारके द्योतक है और जो तप शास्त्रादिक विषे राग भाव है सो मिथ्यात्व सम्बन्धी अज्ञानता को नाशकरि आगामी जीवका शुद्ध केवलज्ञानके उदयको कारण है इसलिये पूजा दान तप आदिमें जो सराग भाव है वह हेय नहीं है उपादेय ही है । इसको संसारका कारण समझ कर इसके लोप करनेकी चेष्टा करना प्रयत्न करना और भोगोंमें तल्लीन

रहने वालेको सद्गुरु मानना यह क्या है ? महान तीव्र मिथ्यात्वके उदयका कारण है क्योंकि व्यवहार धर्मका लोप करने वालों की दृष्टिमें विषयभोगोंके सेवनकी सरागतामें और पूजा दानादिक करनेकी सरागतामें कुछ भी अंतर नहीं भासता है । यदि भासता है तो इतना ही भासता है कि एक लोहकी वेडी है और वह सोनेकी वेडी है अतः दोनों ही वेडी हैं किन्तु यह बात नहीं है ऊपरके दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार धर्म मोक्षमार्ग है इसीलिये आचार्योंने इस व्यवहार धर्मके साधन करनेका आदेश दिया है । यदि यह व्यवहार धर्म संसार का कारण होता तो क्या जीवों को संसारमें रुलानेका आचार्य उपदेश देते ? कभी नहीं ।

" दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे निरायारं
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु निरायारं" २०

दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्तेय ।
भारं भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देस विरदो य ॥
२१ चारित्रपाहुड

कुन्दकुन्द आचार्य कहते है कि दान और पूजा करनेवाला मोक्षमार्गमे दौड लगाता है । देखो रयणसार—

" जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देई सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ " १३

तथा और भी—

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु ।

सो तिहुवण रज्जफल भुंजदि कल्लाण पंचफलं " १८

—रयणसार

इत्यादि सर्व ही आचार्योंने व्यवहार धर्मको मोक्षकारण मानकर उसके करनेका जीवोंको उपदेश दिया है फिर भला वह अनादेय कैसे हो सकता है जिसके नाश करनेका पुरुषार्थ किया जाय अतः निश्चयधर्मका साधनभूत व्यवहारधर्म साधक अवस्थामें सर्व प्रकारसे उपादेय है जब साध्यसिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तब साधनकी जरूरत नहीं रहती वह स्वयमेव छूट जाता है इसके पहले उसके अभाव करने का पुरुषार्थ करनेका प्रयत्न करना अपनी आत्माको धोखा देना है क्योंकि विना साधनके साध्यदशा प्राप्त नहीं होती यह अटल नियम है।

अब इस विषयको यहीं खतम करके आगे केवलज्ञानमीमांसा पर थोडा प्रकाश डालकर इस निबन्धको पूरा करूंगा।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सारी " जैनतत्त्वमीमांसा " क्रमबद्ध पर्यायकी सिद्धि, निमित्त अकिंचितकर, व्यवहार मिथ्या, कार्य को निष्पत्तिमें, उपादानकी योग्यता। यह मूल विषय हैं। इसीकी पुष्टिमें आपने सारा बल प्रयोग किया है पर जो बात आगमविरुद्ध है वह किसी हालतमें सही सिद्ध नहीं होती अतः इसके वलज्ञान स्वभाव मीमांसा में भी क्रमबद्ध पर्यायकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया गया है आपका जो यह कहना है कि— जबसे द्रव्योंकी क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं यह तथ्य प्रमुख रूपमे सबके सामने आया है तबसे ऐसे प्रश्न एक दो विद्वानों की ओर से भी उपस्थित किये जाने लगे हैं। उनके मनमें यह शल्य है कि केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों का ज्ञाता मान लेनेपर सब द्रव्योंकी पर्यायें क्रमबद्ध सिद्ध हो जावेगी किन्तु वे

ऐसा नहीं होने देना चाहते है। इसलिये वे केवलज्ञानकी सामर्थ्यके ऊपर ही उक्त प्रकारकी शंकायें करने लगे हैं। किन्तु वे ऐसे प्रश्न करते हुये यह भूल जाते है कि जैनधर्ममे तत्त्व प्ररूपणाका मुख्य आधार ही केवलज्ञान है।

जैन धर्ममे तत्त्व प्ररूपणा ही क्या समस्त अलोकाकाश सहित तीनो लोकोंका और उनमें स्थित समस्त पदार्थो का और उनकी समस्त त्रिकालवर्ती पर्याय केवलज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं इसलिये उन सबकी प्ररूपणा उस केवलज्ञान द्वारा ही होती है इस बातका बोध क्रमबद्ध पर्याय मानने वालों के ही ज्ञानमे हुआ हो और क्रमबद्ध पर्याय नहीं माननेवालों के ज्ञानमें इसका बोध न हुआ हो सो बात नहीं है। क्रमबद्ध पर्यायको माननेवालोंको नियतिवाद पाखंड घोषित करने वाले नेमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति जैसे दिग्गज आचार्यो के ज्ञानमे भी केवलज्ञानमें उपरोक्त सर्व विषय झलकते हैं। ऐसा बोध नहीं हुआ हो सो बात नहीं है क्रमबद्ध पर्यायकी प्ररूपणा केवलज्ञानियोंकी नहीं है यदि क्रमबद्ध पर्यायकी प्ररूपणा केवलज्ञानियों की होती तो उसका उल्लेख शास्त्रोंमें पाया जाता, क्योंकि सर्व शास्त्रो की रचना आचार्यो ने केवलज्ञान द्वारा निर्णीत विषयोंके आधार पर की है। इसलिये मानना पडेगा कि क्रमबद्ध पर्याय नियतिवाद पाखंड है। जो पूर्वाचार्योने घोषित किया हैं। यह छद्मस्थोकी सूझ है दि० जैन धर्ममें एक यह काल दोषसे नया पाखंड खडा हुआ है केवलज्ञानके विषयमे किसी विद्वानको कुछ भी शंका नही है। सब विद्वान जानते हैं कि—

"त्रैलोक्यं सकलं त्रिकाल विषयं सालोक मालोकितं। साक्षाद्येन यथा स्वयंकरतले रेखात्रयं सांगुलिं"

केवलज्ञानका ऐसा प्रभाव है फिर भी आज तक किसी आचार्य ने किसी विद्वानने क्रमबद्ध पर्यायका उल्लेख नहीं किया। यदि यह मान्यता यथार्थरूपमें होती तो इसका उल्लेख शास्त्रोंमें अवश्य मिलता किन्तु इसका उल्लेख शास्त्रों में नहीं मिल रहा है इससे यह सिद्ध होता है कि इसकी मान्यता यथार्थरूपमें नहीं है। क्योंकि केवलज्ञानमें हमारा त्रिकालवर्ती समस्त अवस्था झलकती है तो झलकती रहो जिससे हमको क्या ? दर्पन की तरह केवलज्ञान की स्वच्छता है इसलिये हमारा परिणमन केवलज्ञानमें झलकता है यह उसका स्वभाव है।

वह अपने स्वभावानुसार समस्त पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता रहता है और हम हमारे स्वभावानुसार परिणमन करते रहते हैं। न तो हमारे परिणमनमें केवलज्ञान कुछ बाधा डाल सकता है और न केवलज्ञानके परिणमन में हमारा परिणमन कुछ बाधा डाल सकता है दोनोंका परिणमन स्वतंत्र है इस बातको आप भी स्वीकार करते हैं कि किसी पदार्थका परिणमन किसी दूसरे पदार्थके आधीन नहीं है फिर हमारा परिणमन केवल-ज्ञानमें झलका इसलिये हमारा परिणमन क्रमबद्ध होगया यह बात कैसी ? हमारा परिणमन क्रमबद्ध हुआ या अक्रमबद्ध हुआ जैसा हुआ वैसा केवलज्ञानमें झलका हां इतनी बात जरूर है कि केवलज्ञानकी इतनी स्वच्छता जबरदस्त है कि हमारा भविष्यकाल में क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध जैसा परिणमन होने वाला है वैसा परिणमन उनके वर्तमानकालमें झलक जाता है इस अपेक्षाको लेकर ऐसा कह दिया जाता है कि—

"जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अणहोणी कबहु न होसी काहे होत अधीरा रे॥

अर्थात् जैसा जैसा निमित्तों के अनुसार भविष्यमें हमारा परिणमन होने वाला है वह सब वीतरागके ज्ञानमें झलक चुका है सो ही होगा इसके अतिरिक्त अणहोनी कुछ भी नहीं होगी अर्थात् होनेवाली बात ही होगी इसलिये तुझको अधीर होने की जरूरत नहीं है। इस कथन का सारांश यही है कोई अकस्मात् भयसे भयभीत है उनको धैर्य धारण करानेके लिये ऐसा कहा गया है। न कि क्रमवद्ध पर्यायकी सिद्धि करनेके लिए ऐसा कहा गया है। जो व्यक्ति इस कथनका क्रमवद्ध पर्यायकी अपेक्षा मानते हैं वे पुरुषार्थ हीन है क्यों कि उसकी विचारधारामें यह बात समा जाती है कि जैसा केवली के ज्ञानमें झलका है वैसा ही होगा इसलिये हमको पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नहीं इसलिये ऐसी मान्यताको आचार्योंने पाखंड बोलकर कहा है। पाखंडियों को भगवानके वचनों पर विश्वास नहीं होता इसलिये वे मनकल्पित अनेक प्रकार का सिद्धान्त बना लेते हैं।

वीतराग भगवानके ज्ञानमें जैसी जिसप्रकार हमारी पर्यायें होने वाली झलकी हैं वैसी ही उसी प्रकार हमारी पर्यायें होगीं इसमें कुछ भी संदेह नही है किन्तु इसको हम हमारी क्रमवद्ध पर्याय मान लें तो यही हमारी एक पहले सिरे की महान मूर्खता है क्योंकि भगवानके ज्ञानके साथ हमारे परिणमन होनेका कोई सम्बन्ध नही हमारा परिणमन स्वतंत्र है वह क्रमवद्ध भी होता है और अक्रमवद्ध भी होता है। यदि हम हमारा परिणमन क्रमवद्ध मानलें तो हमारी मुक्ति कभी नही होगी इसका कारण यह है कि जवतक हमारे पूर्व संचित कर्मोंकी सविपाक क्रमवद्ध निर्जरा होती रहेगी तबतक कर्मोंसे हमारा छुटकारा नही होगा क्योंकि पुरातन कर्मोंके उदयानुसार ही हमारा परिणमन होगा और उस परिणमन के अनुसार हमारे नवीन कर्मोंका बन्ध

होता रहेगा और पुरातन कर्म उदयमें आ आकर क्रमबद्ध निर्जरता जायगा इस हालतमें हम कर्मोंसे कभी अलग नहीं हो सकते इसलिये भगवानका हमारे लिये ऐसा आदेश है कि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो हमारे ज्ञानमें क्या झलका है उस भरोसे पर मत बैठ रहो तुम तो "तपसा निर्जरा च" इस सिद्धान्तके अनुसार तपश्चरण करके बलपूर्वक पुरातन कर्मोंकी एक साथ आहुति देकर उसकी निवृत्ति करो और नवीन कर्मके बन्धका संवर करो तब ही तुम्हारा कल्यान होगा अन्यथा नहीं अतः भगवान के ज्ञान में जैसा झलका है वैसा ही होगा उसको क्रमबद्ध पर्याय मानकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं वे महान मूर्ख हैं तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं उनका तीनकालमें कभी भी कल्याण नहीं होगा क्योंकि वे भगवानका आदेश नहीं मानकर भगवानके ज्ञानमें जैसा झलका है वैसा ही निःसंदेह होगा ऐसा मानकर वे स्वच्छंद प्रवृत्ति करते रहते हैं इस कारण आचार्योंने ऐसी मान्यता रखने वालोंको नियतिवाद पाखंडी है ऐसा कहा है इसलिये क्रमबद्ध पर्यायका समर्थन करना ही नियतिवाद का समर्थन करना है। क्यों कि दोनोंकी मान्यता में कुछ भी अंतर नहीं है। नियतिवादी जो यह कहते हैं कि जिस समय जिसकर जैसा होना है वैसा ही होगा सो ही बात क्रमबद्ध पर्यायको माननेवाले कहते हैं फिर क्रमबद्ध पर्यायको माननेवाले तो यथार्थ बात को मानने वाले समझे जावें और नियतिवाद अर्थात् सब नियत है जिस कालमें जिस समय जिसकर जैसा होना है वैसा ही होगा उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि पाखंडी क्यों? जब दोनों की मान्यता एक रूप है तो दोनों ही एक रूप सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि होगें इसलिये क्रमबद्ध पर्यायको मानने वाले सर्वथा जैनागमके प्रतिकूल हैं।

मैंने जो क्रमवद्ध पर्याय पर तथा निश्चय व्यवहार पर और उपादानकी योग्यतापर एवं निमित्त उपादानपर जो सोनगढ़के सिद्धातका मूल उपरोक्त चार विषय हैं। उस पर आगम और युक्तियां द्वारा यथासभव समालोचना की है अथवा इसके अतिरिक्त और भी "जैनतत्त्वमीमांसा" के विषयभूत अधिकार हैं वे सव उपरोक्त चारो अधिकारोंमें समावेश हो जाते है क्योंकि उन सव अधिकारोमे घुमा फिराकर उन्ही चार विषयोंकी उनमें पुष्टि की है इसलिये उपरोक्त चारो विषयोंकी समालोचना करनेसे सवकी समालोचना हो जाती है तो भी अन्य अधिकारोकी यथासंभव समालोचना की गई है। यह समालोचना मैंने न तो किसी द्वेष वुद्धिसे की है और न किसी मान वढाईके लोभके वशीभूत होकर की है। किन्तु समालोचना करनेका एक ही मूल उद्देश्य यह है कि जैनागमके सिद्धान्त की रक्षा हो। जो विद्वान लोग जैनागमके सिद्धान्तके विपरीत साहित्योंकी रचना कर उसको जैनागमकी यह मान्यता है ऐसा रूप देते हैं जिससे जैनागम के सिद्धान्त का घात होता है और भोले जीव उसीको जैनागमकी यह मान्यता है ऐसा समझकर वैसा श्रद्धान कर वैठते है जिससे उनका अकल्याण होना स्वाभाविक है। अतः भोले जीव जैनसिद्धान्तकी विपरीत मान्यताको सही मान्यता मानकर अपना अकल्योण न कर वैठे और जैन सिद्धान्त की मान्यतामे विपरीतता न घुस जाय इस उद्देश्य को सामने रख कर ही जैनतत्त्वमींमासाकी यह समीक्षा की गई है। जैसे कि अकलंक देवने कहा है—

"हिमशीतल की विज्ञसभामे मैंने जो जय लाभ किया।
पराजीत करके वोधोको ताराका घट फोड दिया॥
सो न किया कुछ द्वेपभावसे अथवा गर्वित हो करके।
नास्तिकता से नष्ट हुये जीवों पर किन्तु कृपा करके"

अतः प्रयोजन वश अथवा धर्म बुद्धिके आवेशमें आकर यदि कहीं पर कटु शब्दका प्रयोग हुआ हो तो उसको द्वेषबुद्धि से किया गया है ऐसा न समझकर मेरे प्रति रोष न करें मैं उन से यही क्षमा याचना करता हूं और विद्वानोंसे यह भी प्रार्थना करता हूं कि ज्ञानकी मंदतासे यदि कहीं पर आगमविरुद्ध बात लिखी गई हो तो वे मुझे धर्म बुद्धिसे मेरी समझको धारणाको आगमानुकूल करें मैं उनका पूरा आभार मानूंगा। और उनको मैं मेरा हितैषी समझूंगा।
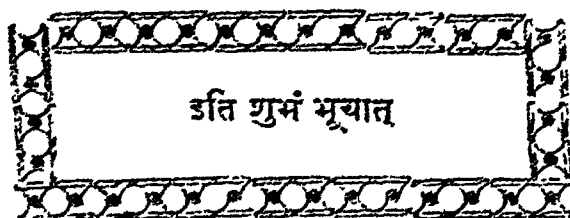
जिनवाणी प्रार्थना

जिनवाणी माता ! रतन त्रय निधि दीजिये ।
मिथ्या दर्शन ज्ञान चरण में, काल अनादी घूमे ।
सम्यग्दर्शन भयो न तातैं, दुख पाये दिन दूने ॥
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ।
है अभिलाषा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरण दे माता ॥
पावें हम निज सरूप अपनो भव-भव हों सुखसाता ।
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ॥
जीव अनन्तानन्त पठाये, स्वर्ग मोक्ष में तूने ।
अव है वारी हम जीवों की होवें कर्म विहूने ॥
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ।
भव्यजीव हैं सुपुत्र थारे चहुँगति दुख से हारे ॥
इनको जिनवर बना शीघ्र अव देदे गुण गण सारे ।
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ॥
औगुण तो अनेक होते हैं बालक में ही माता ।
पै जब माता पाई तुमसी क्यों न वने गुण ज्ञाता ॥
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ।
क्षमा क्षमा हों क्षमा हमारे दोष अनन्ते भव के ॥
सुखका मार्ग वतादो माता-लेहुँ शरण में अबके ।
जिनवाणी माता ! रतनत्रय निधि दीजिये ॥
जयवन्तो जग में जिनवाणी मोक्षमार्ग परिवरतो ।
श्रावक हो 'जयकुंवर' वीनवै पद दे अजर अमरतो ॥

जिनवाणी प्रचार

करना हर एक आत्महितैषी का कर्तव्य है। पुत्र पुत्रियोंके विवाह, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों और तीर्थयात्रा आदि पुण्य कार्योंकी स्मृति चिरस्थायी करनेके लिये अपने इष्ट मित्रों में उपहार बांटनेकी जरूरत होती है। उस समय आप अन्य पदार्थ न बांटकर यदि संस्थाके पवित्र प्रेसमें छपे उत्तमोत्तम ग्रन्थों को खरीदकर उपहार बांटे तो आप का और आपके इष्ट बन्धुओंका आत्मकल्याण हो जाय, चंचल लक्ष्मी स्थिर हो जाय।

संस्थाके एक साथ कम से कम पचास रुपयेके ग्रन्थ बांटने वालों का नाम उन ग्रन्थोंमें बिना किसी अतिरिक्त खर्च के छपाकर चिपका देगी।

संस्थाके ग्रन्थ लागत दाममें दिये जाते हैं कारण यह संस्था धर्म प्रचारार्थ दान देकर जिनवाणी भक्त लोगोंने स्थापित की है और इसके मन्त्री महामंत्री मूलसंस्थापक संरक्षक संस्थापक सब निःस्वार्थ भावसे तन मन धन लगाकर सेवा करते हैं। कोई भी इससे आर्थिक लाभ नहीं उठाते।

आपका भी कर्तव्य है कि इस जिनवाणी प्रचार में स्वयं स्वाध्यायार्थ ग्रन्थ लेकर इष्ट मित्रों तथा पुस्तकालयों और शास्त्र भंडारोंमें लेने की प्रेरणा कर सहायक बनें।

श्रीशांतिसागरजैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था

आचार्यश्रीशांतिवीरनगर, पो० श्रीमहावीरजी (राजस्थान)